ओ३म्

आनन्द कथा-माला-९

मानव और मानवता

प्रवचनकर्ता

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सडक, दिल्ली-११०००६
भारत

सग्रहकर्ता . रणवीर

अनुवादक : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

सस्करण : १९९६

मूल्य : ३५.०० रुपये

मुद्रक : स्पीडो ग्राफिक्स, पटपड़गंज, दिल्ली

MANAV AUR MANAVTA by Mahatma Anand Swami Saraswati

भूमिका

पूज्य श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज की कई कथाएँ आप 'मिलाप' के कालमों में पढ चुके है। यह क्रम प्रारम्भ हुआ 'आनन्द-गायत्री कथा' से। एक छोटे-से पारिवारिक सत्संग में वे बोल रहे थे। कठिनता से एक सौ देवियाँ और सज्जन उनकी बात सुन रहे थे। मैं भी वहाँ था। इस विचार से उनकी बताई हुई कुछ बाते लिखने लगा कि पीछे शायद कभी उनकी आवश्यकता पड़े। पत्र में अथवा पुस्तक-रूप मे उन्हे प्रकाशित करने का विचार उस समय नही था। परन्तु जब सात दिन ये भाषण सुने तो ऐसा लगा कि यह ऐसे अमृत का भण्डार है जो सरलता से किसी दूसरे स्थान पर मिलता नही। इतनी शान्ति है इसमें, इतना प्रकाश है और इतनी मिठास कि इसे अधिक लोगो के पास पहुँचाना चाहिये ; केवल सौ व्यक्तियों तक यह सीमित रह जाय, यह तो ठीक नहीं है। तब मैंने उस सात दिन की कथा को क्रमबद्ध भाषणो के रूप मे लिखना आरम्भ किया। लिखने के पश्चात उसे क्रमश: 'मिलाप' में प्रकाशित किया तो पढ़नेवाले झूम उठे। एक सौ व्यक्तियो के समक्ष की हुई कथा को न केवल 'मिलाप' के सहस्रों पाठको ने पढा, अपितु प्रकाशित होने पर उन भाइयों और बहनों ने भी जो वैसे 'मिलाप' नही पढते। उर्दू में इस पुस्तक के कई संस्करण प्रकाशित हुए। हिन्दी में भी हुए। तब गुजराती, मराठी, तेलुगु और अंग्रेजी में भी हुए। तब मैंने समझा कि पूज्य स्वामी जी महाराज की कथाओ का यह अमृत केवल उन थोडे-से व्यक्तियो तक सीमित नहीं रहना चाहिये, जो उनकी कथाएँ सुनने के लिए आते है; अपितु उन भाइयों और बहनो तक भी पहुँचना चाहिये, जो स्वयं उन कथाओं को सुनने के लिए नही आ सकते।

'आनन्द गायत्री कथा' के पश्चात् उनकी एक और कथा लिखी। नाम रक्खा—'एक ही रास्ता'। इसके पश्चात् 'भक्त और भगवान्', 'जगद्‌गुरु शकराचार्य और महर्षि दयानन्द', 'उपनिषदों का संदेश', 'जाग ए मानव', 'घोर घने जगल में' शीर्षकों से भी उनकी कथाएँ प्रकाशित हुई। परन्तु ये उनकी सभी कथाएँ तो नही है। वे केवल भारत के विभिन्न भागों में, नगरों, कस्बों और देहातों में ही नहीं, भारत से बाहर

केन्या, यूगांडा, टांगानीका, बर्मा, थाइलैंड, मलयेशिया, सिंगापुर, फिजी, न्यूज़ीलैण्ड, फिलीपाइन, हॉगकॉंग और मॉरिशस आदि मे कितनी ही कथाएँ कर चुके हैं। इन सब स्थानो पर मै इनके साथ जा नही सकता। केवल दिल्ली अथवा नई दिल्ली में ही मुझे यह सौभाग्य मिलता है कि उनकी अमृतभरी कथा को सुन सकूँ और उसे उन लाखों भाइयों और बहनों के सामने प्रस्तुत कर सकूँ जो अमृत के अभिलाषी हैं। फिर यहाँ कई बार मेरा दुर्भाग्य मेरे सामने दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। अपनी बीमारी अथवा व्यस्तता के कारण मै उनकी कथा में उपस्थित नहीं हो सकता। स्वयं नही सुनूँ तो दूसरों को क्या सुनाऊँ?

१५ नवम्बर १९६२ को वे भारत से मॉरिशस और अफ्रीका गये। उससे पूर्व आर्यसमाज हनुमान रोड और आर्यसमाज रीडिंग रोड के उत्सवों पर लगातार सोलह दिन तक उन्होने एक ही विषय पर कथा की। प्रयत्न करने पर भी मैं इन कथाओं में उपस्थित न हो सका। परन्तु मै अपने छोटे भाई चन्द्रप्रकाश जी का आभारी हूँ कि वे उन दिनों कथाओं को लगातार टेप रिकॉर्ड करते रहे और अब रिकॉर्डिंग मशीन चलाकर मैं यह कथा लिख रहा हूँ। मैं हूँ, एकाकी कमरा है। अक्तूबर १९६२ के स्थान पर जनवरी १९६७ का महीना। पूज्य स्वामी जी की आवाज मैं सुनता हूँ जो पाँच वर्ष पूर्व आर्यसमाज के दो उत्सवों पर गूँजी थी और इस प्रकार लिखे जाता हूँ जैसे पूज्य स्वामी जी सामने बैठे है। भक्तिभरी दृष्टि से देखते हुए लोग सामने बैठे है। उनके मध्य मैं भी बैठा हूँ, सुनता हूँ और कलम को चलाये जाता हूँ।

इस कथा का शीर्षक मैने रक्खा है, 'मानव और मानवता'। क्यों रक्खा? यह इस कथा से ज्ञात होगा। तब से आज तक एक युग बदल गया है। १९६४ में पण्डित जवाहरलाल जी चले गये। १९६५ में हमारे देश ने पाकिस्तान के आक्रमण का मुँहतोड उत्तर दिया। १९६६ के आरम्भ में ही श्री लालबहादुर शास्त्री भी चले गये। इतना-कुछ बदल गया, परन्तु मनुष्य के निर्माण की समस्या आज भी ज्यों-की-त्यों है। इस समस्या का समाधान क्या है, यह आप पूज्य श्री आनन्द स्वामी जी महाराज के शब्दों में पढिये।

—रणवीर

प्रथम दिन

ओ३म् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ऋ० ८ । ९८ । ११ ॥

प्रभु जी ! सर्वत्र निवास करनेवाले ! सबके अन्दर बसनेवाले ! सैकडों सुकर्मो की प्रेरणा देनेवाले ईश्वर ! तू हमारा पिता है। तू हमारी माँ भी है। तुझे हम स्मरण करते हैं, तेरा ध्यान करते हैं, तेरा ही विचार करते है।

प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

आज चहुँ ओर युद्ध की चर्चा है। (यह उन दिनों की बात है जब चीनी सेनाएँ भारत की सीमाओं पर आक्रमण कर रही थीं) भारत माँ पुकारती है सहायता के लिए। हमें आगे बढना है अवश्य। अन्याय और अत्याचार के आगे झुकना नहीं है। परन्तु यह युद्ध हो अथवा कोई भी दूसरा युद्ध हो, यह होता क्यो है ? क्यों बार-बार मनुष्य विवश होता है कि रक्त की नदियाँ बहाये, लाशो के ढेर लगाये ? क्यों बार-बार अशान्ति भडक उठती है, दु:खों के बादल घिर आते है ? अब इस युद्ध को देखिये। हमारे प्यारे प्रधानमन्त्री नेहरू जी समस्त ससार को शान्ति का मार्ग दिखा रहे थे, समस्त ससार के युद्ध को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। अपने देश को लोक-कल्याण के लिए निर्माण के शान्तिपूर्ण मार्ग पर लिये जा रहे थे। चीन का उन्होने या भारत ने कुछ बिगाड़ा नही; उसके साथ मित्रता की और आज उन्ही प्यारे नेहरू जी के लिए चीन ने युद्ध की ज्वालाएँ जला दी है। संसार का प्रत्येक शान्ति चाहनेवाला मनुष्य दु खी हो उठा है, प्रत्येक व्यक्ति अशान्त है। इसका कारण क्या है ?

आइनस्टाइन का नाम आपने सुना होगा। विज्ञान के बहुत बड़े पण्डित थे वे। कुछ ही मास पूर्व उनका देहावसान हो गया। उनके

जीवन-काल में एक पत्र-प्रतिनिधि ने उनसे पूछा—"विज्ञानाचार्य ! आप इतने बड़े विद्वान् है, क्या एक प्रश्न का उत्तर देने की कृपा करेंगे ?"

विज्ञानाचार्य ने कहा—"पूछो ।"

उस व्यक्ति ने प्रश्न किया—"ससार में इतने दुःख है, इतनी अशान्ति है, क्या उसे दूर करने का भी कोई उपाय है ?"

विज्ञानाचार्य बोले—"हाँ, है, और केवल एक कि अच्छे मनुष्य उत्पन्न किये जायँ ।"

आइनस्टाइन साधारण नहीं, बहुत बड़े विज्ञानाचार्य थे। उन्होंने यदि कहा कि श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न करने से सुख और शान्ति उत्पन्न होगी तो क्यों कहा ? यह क्यों नही कहा कि विज्ञान के अमुक आविष्कार से सुख हो जायगा, अमुक आविष्कार से शान्ति हो जायगी ? इसलिए कि विज्ञान के जितने भी आविष्कार हुए है उनसे मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं मिला। कुछ आराम मिला है अवश्य। मै इन आविष्कारों की निन्दा नहीं करता। अपने स्थान पर अच्छे है ये, परन्तु इन्हीं के कारण अशान्ति बढती जाती है। मनुष्य पहले से अधिक अशान्त होता जाता है। आइनस्टाइन की भाँति वैज्ञानिक तो नही परन्तु विज्ञान के एक भक्त थे मैक्सिम गोर्की। एक गाँव में भाषण देते हुए उन्होंने कहा—

देखिये सज्जनो ! विज्ञान ने कितने सुख-साधन उत्पन्न कर दिये है। फिर उन्होंने बताया कि पहले एक दीपक जलाने के लिए कितना परिश्रम करना पडता था; अब बटन् दबाने से प्रकाश हो जाता है। महीनों की यात्रा घण्टों में और घण्टों की यात्रा मिनटों मे होने लगी है। ऐसी कितनी ही बातें उन्होने बताईं। तभी एक देहाती ने उठकर कहा—"यह सब-कुछ सच है श्रीमन् ! परन्तु क्या विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना भी सिखाया है ?"

गोर्की इसका उत्तर न दे सके। विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना सिखाया नहीं। सिखाया होता तो ये लड़ाइयाँ, ये झगड़े और ये युद्ध न होते, यह घृणा न होती, यह अशान्ति न होती। आज सब लोगों में दौड हो रही है कि कौन अधिक विनाश कर सकता है, कौन अधिक लोगों

को मार सकता है। इधर रूस है और उधर अमेरिका; दोनों दौड़ रहे हैं। पहले बर्तानिया भी इस दौड़ में सम्मिलित था। परमाणु हथियारों के अन्वेषण में दो अरब पच्चीस करोड़ रुपया खर्च करके अब वह पीछे हट गया है। अब रूस और अमेरिका ही दौड़ रहे हैं। नित्य नये हथियारों के परीक्षण होते है। हाइड्रोजन बम के एक परीक्षण पर एक अरब रुपया खर्च हो जाता है। अब तक कितने परीक्षण हो चुके, इनका हिसाब लगाइये और सोचिये कि क्या यही वह प्रसन्नता, सुख और शान्ति है जिसे मनुष्य खोजता फिरता है? सीधी-सी बात यह है कि विज्ञान से सुख अथवा शान्ति प्राप्त नहीं होती। सुख-शान्ति अच्छे मनुष्यों से उत्पन्न होती है और अच्छे मनुष्य बनाना विज्ञान के बस का रोग नही।

अच्छा भाई! यदि विज्ञान सुख और शान्ति को उत्पन्न करने में सफल नहीं हुआ तो फिर कौन होगा? संसार में आज तीन बड़े-बड़े 'वाद' हैं—१. पूँजीवाद (Capitalism), २. समाजवाद (Socialism) व ३. साम्यवाद (Communism)। ये तीनों आपस में एक-दूसरे का विरोध करते हैं। रूस साम्यवाद का हामी है, अमेरिका पूँजीवाद का। दोनों एक-दूसरे को नष्ट कर देना चाहते है, एक-दूसरे के कट्टर शत्रु है। समाजवादियों के पास बहुत शक्ति नहीं परन्तु वे पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों का विरोध करते है और विचित्र बात यह है कि आपस में लडते हुए, एक-दूसरे का विरोध करते हुए भी एक ही लक्ष्य के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

और यह लक्ष्य क्या है? 'पैसा'। पूँजीवाद क्या चाहता है? पैसा। समाजवाद क्या चाहता है? पैसा। पैसे की यह माया है सारी। सबको पैसा चाहिए। सबको रोटी चाहिए—रोटी, रोटी, रोटी!

एक कम्युनिस्ट भाई ने एक बार मुझसे पूछा—"आप आर्यसमाज की बात कहते हो, परन्तु आर्यसमाज के पास तो रोटी के प्रश्न का हल ही नहीं, फिर उसका लाभ क्या है?" मैंने कहा, "प्रतीत होता है आपने आर्यसमाज के नियम नहीं देखे। दोनों के प्रश्न का हल आर्यसमाज के पास है।" परन्तु रोटी ही तो सब-कुछ नहीं। रोटी के पश्चात् भी मनुष्य को कुछ चाहिए—सुख और शान्ति। रोटी-रोटी चिल्लाते हुए

ये तीनों वाद भी उस सुख और शान्ति को पैदा नही कर पाये। उन्होंने संघर्ष उत्पन्न किये हैं, रक्त की नदियाँ बहाई है और अधिक खून बहाने की तैयारियाँ कर रहे है। सुख उनसे उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि ये तीनों बाद भी अच्छे मनुष्य उत्पन्न नही कर सके। 'सर्वोदय समाज' के नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने कुछ मास पूर्व एक भाषण देते हुए कहा था—"मैं २५ वर्ष तक मार्क्सवादी रहा। यह समझता रहा कि राज्य ही मनुष्य के लिए सुख-सुविधा जुटा सकता है। राज्य-सत्ता मार्क्सवादियों के हाथों में हो तो प्रजा के लिए सुख पैदा होता है अवश्य। परन्तु दूसरे देशों में जाकर देखा कि यह विचार गलत है। राजनीति से मनुष्य का कभी विकास नहीं होता। परन्तु किसी भी वाद के समर्थकों का शासन हो, अन्त में जाकर एक ही विधि काम करती है। रूस मे मार्क्सवादी बहुत बडे सर्वनाश के पश्चात् शासन के स्वामी बने। पूंजीवादियों को उन्होंने चुन-चुनकर मार डाला, उन्हें नष्ट कर दिया गया। परन्तु जब कम्युनिस्ट सरकार बन गई तो मार्क्स-वादी स्टालिन ने स्वयं ही कम्युनिस्टों पर अत्याचार आरम्भ कर दिये। जिस हिंसा और अत्याचार से मार्क्सवादियों ने सत्ता प्राप्त की थी, वही स्टालिन के रूप मे इनके सिरों पर दनदनाने लगा। तब मैंने समझा कि केवल राजनीति से कुछ नहीं होता। राजनीति से मनुष्य को सुख या शान्ति नही मिलती।" यह बात श्री जयप्रकाश नारायण ने कही और कोई भी सोचने-समझनेवाला देख सकता है कि बिलकुल यथार्थ बात कही है। राजनैतिक वादों के समर्थक रोटी-रोटी चिल्लाते हुए रोटी के प्रश्न को हल करने का दावा तो करते है परन्तु यह प्रश्न उनसे हल होता नही। हाँ, उनका संघर्ष मनुष्य को अधिक दु.ख और अधिक अशान्ति की ओर ले जाता है।

अरे बाबा! दूर क्यो जाते हो? अपने देश की राजनैतिक पार्टियों को ही देख लो। सबका दावा है कि वे देश का भला चाहती हैं परन्तु सबका लक्ष्य है एक, कि किसी प्रकार राज्यसत्ता हमारे हाथों में आ जाय तो हम भी इसको लूट सके। कुछ ही वर्ष पूर्व बम्बई मे जो लज्जाजनक काण्ड हुआ, उसे क्या हम भूल सकते है? इस प्रश्न पर कि बम्बई नगर गुजरात में रहे या महाराष्ट्र में, गुजराती और मराठी आपस में उलझ

गये। राजनैतिक पार्टियों ने उन्हे एक-दूसरे से लड़ा दिया। घर जले, दुकाने जली, निर्दोष लोगो का रक्त बहाया गया। उन दिनो आस्ट्रेलिया का एक परिवार बम्बई के एक होटल में ठहरा हुआ था। परिवार के एक बालक ने नीचे बाजार में लड़ते लोगों को देखा तो अपने पिता से पूछा—"ये लोग आपस मे लड़ते क्यों है?" पिता ने उत्तर दिया—"बेटा, ये मनुष्य नही है; गुजराती या मराठी है। मनुष्य होते तो आपस में लडते क्यो?" राजनैतिक पार्टियाँ मनुष्य को पशु तो बना सकती है, मनुष्य नहीं बना सकतीं।

तब क्या सम्प्रदाय यह कार्य कर सकता है? नही, सम्प्रदाय भी इस विषय में फेल हैं। इसका प्रचार करनेवाले दूसरों को अपने सम्प्रदाय में तो सम्मिलित कर सकते है, इसके लिए करोडों रुपये भी खर्च करते हैं जैसे ईसाई मिशनरी कर रहे है, परन्तु ये मनुष्य को मनुष्य नही बना सकते।

विज्ञान असफल, राजनैतिक-वाद फ़ेल, राजनैतिक पार्टियाँ निष्फल, सम्प्रदाय असफल—तब कौन यह कार्य कर सकता है?

आजकल प्लानों की बहुत चर्चा है। प्रत्येक बात के लिए प्लान बनाये जाते है, योजनाएँ बनाई जाती है, यहाँ तक कि फ़ैमिली प्लानिंग (Family Planning) भी आरम्भ हो गई है; अर्थात् बच्चे उत्पन्न करने हो तो वे भी प्लान के अनुसार करो। अच्छी बात है, योजना बनाके काम करना बुरा नहीं। परन्तु इन योजनाओं से होता क्या है?

हमारे देश मे योजनाओ को देखिये। दो योजनाएँ पूर्ण हो चुकीं, तीसरी चल रही है। इन योजनाओ के अनुसार बडे-बडे बाँध बनते हैं, नई धरती की सिचाई करने के लिए नहरें बनती है, ताकि राजस्थान का मरुस्थल भी हरे-भरे खेतों से लहलहा उठे। पर्वतो का माना काटकर बडी-बड़ी झीलें बनाई जाती है। उनसे पानी लेकर विद्युत् पैदा की जाती है। बड़े-बडे कारखाने बनते है, जिससे देश में अधिक वस्त्र तैयार हों, अधिक अन्न उत्पन्न हो। यह सब-कुछ अच्छा है, बहुत अच्छा है, परन्तु यह सब-कुछ जिसके लिए बनाते हो वह मनुष्य कहाँ है? मनुष्य को अच्छा मनुष्य कौन बनायेगा? बहुत सुन्दर उद्यान लगा लिया आपने, बहुत अच्छा मकान बना लिया, फूल खिल उठे, वृक्ष झूम उठे, पक्षी चहचहा

उठे, मखमल-जैसी घास पर चाँदी-जैसे फ़व्वारों के पास मेज लगा दिया गया। इसपर भाँति-भाँति के खाने सजा दिये गये, देशी भी, विदेशी भी; शर्बत रख दिये गए, मधु रख दिया गया, परन्तु जिसके लिए सब-कुछ किया वह कहाँ है? यदि वह कहीं गन्दगी में पड़ा है, यदि उसके बाल बदबूदार कीचड़ से भर गये है, यदि उसका मुखमण्डल किसी चट्टान से टकराकर लहूलुहान हो गया है, यदि चोट के कारण वह खड़ा नही हो पाता, बैठ नहीं पाता, मुख खोल नही सकता, यदि उसकी भूख ही समाप्त हो गई है तो यह सब किसके लिए है?

अरे ओ मन्दिर बनानेवाले! इस मन्दिर का देवता कहाँ है?

मस्जिद तो बना ली शबभर में ईमाँ की हरारत वालों ने।
मन अपना पुराना पापी है बरसों में नमाजी बन न सका॥

अरे भाई! मस्जिद तो बना ली बहुत अच्छी...ये जवाहरलाल जी है न, देश के कई दूसरे नेता हैं, इनमें देशभक्ति के ईमान का जोश है। बहुत परिश्रम से, बहुत प्यार से बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाकर वे निर्माण का प्रयत्न कर रहे है। परन्तु सुनो मेरे भाई! यदि नमाजी ही नहीं तो इस मस्जिद का क्या करोगे? यदि मानव ही मानव न बना तो इस कला-कौशल, निर्माण और उन्नति को क्या करोगे? और मानव? हे भगवान्! कैसा मजाक उसके साथ होता है! अमेरिका हमें धन देता है कि देश का निर्माण करो, रूस भी देता है। दोनों दूसरे देशों को भी देते है। परन्तु इसके साथ ही ऐटम बम और हाइड्रोजन बम भी बना रहे है जिससे एक ही क्षण में यह सब-कुछ समाप्त हो जायेगा। यह मजाक नहीं तो क्या है? यह मनुष्य की सहायता नही है; बलि के बकरे पालना है। आज इस ससार में महल उभारे जाते हैं, बाजार सँवारे जाते हैं, नगर उभारे जाते है, परन्तु मनुष्य बिगाड़े जाते हैं। मैंने इस दशा पर विचार किया, चिन्तन और मनन किया। इस बार जो कथा कहूँगा वह मनुष्य की निर्माण-योजना के सम्बन्ध में होगी; जिसके लिए यह सब-कुछ बनाया जाता है मैं उसको बनाने की योजना आपके समक्ष रक्खूँगा।

हमारे प्यारे पण्डित जवाहरलाल जी हृदय से चाहते हैं कि ससार में शान्ति हो जाये, युद्ध सदा के लिए समाप्त हो जाये। श्री कैनेडी

भी यही कहते है, श्री ख्रुश्चेव भी कहते है। भारतीय नेता रूस और अमेरिका में गये तो दोनों देशों के नेताओं ने कहा—Peace! Peace! Peace! परन्तु इनके मन एक-दूसरे के सम्बन्ध में सोचते हुए कह रहे थे—(हाथ से पीसने का सकेत करते हुए पूज्य स्वामी जी ने कहा) पीस, पीस, अर्थात् सबको पीस डालो। और इस बुरी नीयत का प्रमाण है भारत पर चीन का आक्रमण। कैसी-कैसी बाते ये लोग मुँह से करते है! बगल मे छुरी मुँह में राम-राम! बातें शान्ति की कर रहे हैं, तैयारियाँ युद्ध की। जिह्वा कुछ कहती है, आचरण कुछ और ही है। मानवता नही, शैतानियत है यह। इसलिए कि मनुष्य को मनुष्य बनाने की बात इन लोगों ने सोची नही। फिर कौन बनायेगा मनुष्य को मनुष्य?

आज से बहुत पहले हमारे पूर्वजों ने और उनसे भी पूर्व स्वयं परमात्मा ने मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना बताई। गर्जती हुई ध्वनि में प्रभु ने उपदेश दिया—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।

ऋ० १०।१३।१॥

सुनो! तुम सब एक हो, अमृत परमात्मा के पुत्र हो।

एक और वेद-मन्त्र में भी कहा है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥

ऋ० ५।६०।५॥

तुममें कोई छोटा या बडा नहीं, तुम सब भाई-भाई हो, मिलकर समृद्धि के लिए, सौभाग्य के लिए आगे बढ़ो।

यह थी योजना जिसे परमात्मा ने संसार के सामने रक्खा और जिसे हमारे पूर्वजो ने समझा। यदि अब भी यह योजना होती तो ये बुरे दृश्य दिखाई न देते जो आज हमारे सामने है। जब तक यह योजना हमारे सामने रही और इसपर आचरण होता रहा, तब तक मानव मानव था। लोगों के मन में सुख था, शान्ति थी, एक-दूसरे के कल्याण की भावना थी।

एक युवक ने एक बार मुझे कहा—"आनन्द स्वामी जी! ये आप बार-बार प्राचीन युग और पुराने लोगों की बातें क्या करते हो? क्या

उन्होंने कभी ऐटम बम भी बनाया था ?" मैने कहा—"नहीं बनाया था मेरे भाई ! परन्तु आज जिन लोगों ने ऐटम बम और हाइड्रोजन बम बनाये हैं उनसे पूछकर देखो, उनका ऐटम बम क्या किसी निस्सहाय विधवा के आँसू भी पोंछ सकता है ? क्या वह किसी बिलकते हुए यतीम बच्चे का सहारा बन सकता है ? क्या वह सर्दी में ठिठुरते किसी निर्धन वृद्ध के लिए लिहाफ़ भी बन सकता है ? क्या वह किसी भूखे की भूख मिटा सकता है ? चीखते-चिल्लाते अशान्त संसार को शान्ति प्रदान कर सकता है ? मनुष्य का कल्याण कर सकता है ?—यदि नही तो अच्छा ही किया हमारे पूर्वजों ने जो विनाश का यह सामान नहीं बनाया। उन्होंने मनुष्य को मनुष्य समझा, परमात्मा की सन्तान समझा। उसके विनाश का सामान यदि उन्होंने पैदा नही किया तो यह गौरव की बात है।"

परन्तु आज का युवक चकाचौंध हो गया है, विज्ञान के तमाशों को देखकर। भूल गया है कि वह मनुष्य है और इस ससार मे केवल इन तमाशो को देखने के लिए नही आया था।

एक माँ ने अपने छोटे पुत्र से कहा—"बेटा ! तेरे पिता जी के सिर में दर्द है, ये पैसे ले और बाजार से शीघ्र दवाई ले आ।" बेटा घर से चला। मुहल्ले के बाहर ही एक बन्दरवाला तमाशा कर रहा था, डुगडुगी बजाकर, हाथ में छडी लेकर बन्दर को नचा रहा था; बार-बार बन्दर से पूछता था, "विवाह करेगा ?" बार-बार वह सिर हिलाकर इनकार कर देता था। एक बन्दरी भी थी। लहँगा पहने नाच रही थी। उससे भी यह पूछता था—"शादी करेगी ?" वह भी सिर हिलाकर मना कर देती थी। इस युग के नौजवानों की भाँति थे शायद वे दोनों। ये नौजवान भी शादी करना नही चाहते। बाद में करा भी लेते है। वे बन्दर-बन्दरी भी यही तमाशा कर रहे थे। वह लडका देर तक यही तमाशा देखता रहा। तमाशा समाप्त हुआ तो आगे बढ़ा। कुछ ही आगे गया तो देखा कि बाँसो के ऊपर रस्सा बाँधकर एक आदमी रस्से के ऊपर चढ़ गया है, उसके ऊपर नाच-नाचकर आगे बढ रहा है। नीचे खड़ा दूसरा आदमी ढोल बजा रहा है। वह लडका देर तक यह तमाशा भी देखता रहा। घण्टा गुज़र

गया, दो घण्टे व्यतीत हो गये। पीछे माँ को चिन्ता हुई कि बेटा कहाँ गया? उसने अपने बड़े बेटे को भेजा—"जाकर देख तेरा भाई कहाँ रह गया है। तेरे पिताजी के सिर मे बहुत दर्द है, उनके लिए दवाई लेने भेजा था।" बडा भाई बाजार में गया तो देखा कि छोटे भाई साहब तमाशा देखने में मस्त हैं। उसका कन्धा हिलाकर उसने कहा, "अरे! तुझे तो माँ ने दवाई लेने को भेजा था, यहाँ क्या कर रहा है?" छोटे भाई को होश आया; चौककर बोला—"अरे! मैं तो भूल ही गया था।"

आज का मनुष्य भी भूल गया है कि वह ससार-रूपी बाजार में क्यों आया था। तमाशा देखने मे मस्त है। कही विज्ञान का तमाशा है, कही धन-दौलत का, कही परिवार का तमाशा है, कही भूमि और सम्पत्ति का।

पिछले दिनों यहाँ 'सरका रामा' आया था, अमेरिका के जादूगरो का तमाशा। हमारे अमृतलाल जी हाडा जिनके पास मै ठहरा हूँ, उसे देखने गये। वापस आकर बोले—"मेरा तो सिर घूम गया! वहाँ प्रत्येक वस्तु घूमती है।" जहाँ प्रत्येक वस्तु घूमती है वहाँ सिर बेचारा क्या करेगा?

इन तमाशो में खो गए है हम। भूल गये कि संसार-रूपी बाजार में कुछ लेने के लिए आये थे। इस भोले मनुष्य को जगाने के लिए हमारे पूर्वजो ने जो योजना बनाई थी वह क्या थी?

सबसे पहले यह कि मनुष्य अपूर्ण है, उसे किसी-न-किसी का सहारा चाहिए। बच्चे को मा का सहारा चाहिए। बडा हो तो पिता की अँगुली का सहारा चाहिए, पढ-लिख जाये, जवान हो जाये तो लड़की का सहारा चाहिए, वृद्ध हो जाये तो सन्तान का सहारा चाहिए, सन्तान को माता-पिता का सहारा चाहिए। जीवन के प्रत्येक क्षण में किसी-न-किसी का सहारा चाहिए अवश्य। और फिर मनुष्य ही क्यो? इस संसार मे कोई भी वस्तु सहारे के बिना रह नही सकती—

ईशावास्यमिदꣳसर्व यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।

यजु० ४०। १॥

यह सब-कुछ जो भी जगत् मे है···

और यह सब-कुछ कितना है इसका अनुमान भी लगाया आपने ? एक समय था जब पश्चिम के लोगो ने समझा कि एक पृथिवी है, एक चन्द्रमा, एक सूर्य । हमारे शास्त्रों ने उस समय भी कहा—"नहीं, इस संसार में अनन्त लोक है ।" अब दो-दो सौ इंच की दूरबीनों से देखकर पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इस परिणाम पर पहुँचे है कि ये लोक वस्तुत: अनन्त हैं । हमारे इस सौर-मण्डल में ही इस पृथिवी के अतिरिक्त बुध, शुक्र, मगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण, और यम नाम के ग्रह विद्यमान है । प्रत्येक ग्रह के चहुँ ओर कई-कई चन्द्रमा घूम रहे है और शनि तारे के गिर्द तो चन्द्रमाओ का एक पूरा चक्र विद्यमान है । और अकेला बृहस्पति हमारी पृथिवी से बारह गुणा बड़ा है । सूर्य इतना बडा है कि इसमे तेरह लाख पृथिवियाँ समा सकती हैं । परन्तु सूर्य, बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण, यम और बहुत-से चन्द्रमा, यही कुछ नही, इस सौर-मण्डल में मंगल और बृहस्पति के मध्य लगभग दो सहस्र आवारागर्द ग्रह भी है, छोटे-छोटे ग्रह । इनमे बडे-से-बड़ा केवल पाँच मील चौडा है । छोटे ग्रह एक मील से भी कम चौड़े है । नंगी आँख से वे दिखाई नही देते । आवारागर्द इसलिए है कि सूर्य के चहुँ ओर घूमते हुए भी कभी किसी ओर निकल जाते है कभी किसी ओर । इनमे से एक ग्रह है जो कभी-कभी पृथिवी से केवल सात लाख मील की दूरी पर पहुँच जाता है । अंग्रेजी में इन ग्रहों को Aestroids कहा जाता है । ये दो सहस्र आवारागर्द, ये दस बड़े-बड़े ग्रह और अनन्त चन्द्रमा—एक ओर से दूसरी ओर तक आठ अरब मील मे फैला हुआ हमारा यह सौर-मण्डल है । परन्तु यह सौर-मण्डल स्वय भी एक ग्रह की भाँति घूम रहा है । एक बड़े सूर्य के गिर्द, जो आकाशगंगा के केन्द्र में है जो रात्रि के समय सफेद दुग्ध की भाँति दिखाई देती है । इस आकाशगंगा का प्रत्येक कण एक-एक सौर-मण्डल है । वैज्ञानिकों ने बड़ी-बड़ी दूरबीनों से इन सौर-मण्डलों को देखकर इन्हें गिना और घोषणा की कि हमारी आकाशगगा में, जिसे हमारा ब्रह्माण्ड कहना चाहिए, ढाई अरब सौर-मण्डल विद्यमान है । हमारा सौर-मण्डल इनमे से एक है और शायद सबसे छोटा है । इससे कई-कई सहस्र गुणा बड़े सौर-मण्डल भी हैं । इतना बडा है यह महामण्डल या

ब्रह्माण्ड।

और इस ब्रह्माण्ड से, इस आकाशगगा से परे जो सितारे हम देखते है, उनके सम्बन्ध मे भी कभी विश्वास था कि वे एक-एक सौर-मण्डल हैं। अब पता चला कि वे एक-एक सौर-मण्डल नही, अपितु एक-एक ब्रह्माण्ड है। शायद इनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में कई-कई अरब सौर-मण्डल है। वैज्ञानिकों ने महामण्डलों या ब्रह्माण्डों को भी गिना। आज तक वे लगभग एक अरब ब्रह्माण्डों को गिन चुके है और कहते है कि अभी पूरी तरह गिन नही पाये। बड़ी-बड़ी दूरबीनें बनेंगी तो शायद कई खरब ब्रह्माण्ड दिखाई देंगे। वैज्ञानिकों का कहना है कि ये सब-के-सब ब्रह्माण्ड भी एक बडे सूर्य के गिर्द घूम रहे है जिन्हें वे देख नहीं पाते, जिनके सम्बन्ध में यह भी नही कह सकते कि वे कहाँ है?

यह है 'सब-कुछ' का संक्षिप्त विवरण। कोई भी यहाँ बिना सहारे के नही। पृथिवी का सहारा सूर्य है, सूर्य का आधार इस ब्रह्माण्ड का केन्द्रीय सूर्य है। इन ब्रह्माण्डों का सहारा वह बडा सूर्य है जिसे वैज्ञानिक अभी देख नही पाये। प्रत्येक वस्तु किसी दूसरे के सहारे पर है।

यह पृथिवी है न, सूर्य का सहारा लेकर सात मील प्रति सेकण्ड की गति से एक घण्टे में २५, २०० मील आगे बढ जाती है। और पृथिवी ही क्यों? प्रत्येक वस्तु दौड़ रही है, प्रत्येक वस्तु किसी के सहारे घूम रही है। प्रत्येक परमाणु घूम रहा है, प्रत्येक ऐटम घूम रहा है, ठीक उसी प्रकार इसके खण्ड घूम रहे हैं जैसे एक सूर्य-मण्डल हो। ऐटम का अर्थ अणु है, परमाणु नही। ऐटम-केन्द्र में सूर्य की भाँति एक वस्तु है इलेक्ट्रॉन। इसके गिर्द ग्रहो की भाँति प्रोटोन और न्यूट्रॉन घूम रहे है। एक मिनट में एक खरब चक्कर वे लगा लेते है। और इस ऐटम का भार कितना है? वैज्ञानिकों ने इसका पता लगाया। दस-दस खरब ऐटमों के दस खरब बण्डल बनाये जाएँ तो इनका कुल वजन ढाई माशे होगा। छोटी-से-छोटी, बडी-से-बडी प्रत्येक वस्तु किसी दूसरे के सहारे पर है। परन्तु यह जो मैने आपको बताया यह 'सब-कुछ' तो नही है। यह 'सब-कुछ' का केवल एक भाग है। इसीलिए वेद भगवान् ने कहा :—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।

ऋ० १० । ९० । ३ ॥

यह सारा विश्व, खरबों ब्रह्माण्ड इस 'सब-कुछ' का केवल एक खण्ड है । इसके तीन भाग इससे ऊपर अमृत में छिपे पड़े हैं । परन्तु ये सब-कुछ किसके सहारे है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वम् ।

यह सब-कुछ ईश्वर का है । इसके प्रत्येक अणु मे, परमाणु में और परमाणु के प्रत्येक खण्ड में ईश्वर विद्यमान है । इसका सहारा है सबको । सहारे के बिना कुछ भी नही—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ।

ऋ० १० । १२१ । १ ॥

यह पृथिवी और इससे ऊपर कई खरब मीलों में फैला हुआ यह द्युलोक किसी आधार के बिना नही ।

और जब सबको आधार चाहिए, सहारा चाहिए, तब मनुष्य को क्यों नही चाहिए ? प्रत्येक अपने से बड़े का सहारा लेता है । मनुष्य को भी ऐसी शक्ति का सहारा चाहिए जो इससे बड़ी हो । सहारे के बिना कोई चलता नही । किसी को दुकान का सहारा है, किसी को मासिक वेतन का । किसी को भूमि की आय का सहारा है, किसी को मकान से मिलनेवाले किराये का । पिता को बेटे का सहारा है, बेटे को पिता का । ये सब-के-सब सहारे अच्छे हैं; मै इनकी निन्दा नही करता । परन्तु, ये सब सहारे क्षणिक हैं । आज है, कल रहेंगे नही । पिता और पुत्री, पति और पत्नी, भाई और भाई, ये सब एक-दूसरे का सहारा लेते है । प्रत्येक सहारे मे थोडी देर के लिए सुख मिलता है, परन्तु यह सुख क्षणिक है, सदा रहता नही ।

ये नदियाँ हैं न, ये भी किसी को सहारा बनाकर, आधार बनाकर भागी जाती है । ये गगा और यमुना, कृष्णा और गोदावरी, नर्मदा और ब्रह्मपुत्र, रावी, व्यास, सतलुज, जेहलम और चिनाब—सबका आधार है । मै रहता हूँ गगोत्री में, साढे दस सहस्र फ़ीट की ऊँचाई पर । वहाँ से डेढ दिन के फ़ासिले पर 'गोमुख' है, साढ़े तेरह सहस्र फीट की ऊँचाई पर । वहाँ चौदह मील लम्बा अर्द्धचन्द्र-जैसा बर्फ का

पहाड़ है; उसके भीतर से गंगा बाहर आती है—उछलती, कूदती, नाचती, चीखती-चिल्लाती हुई। बड़ी-बड़ी चट्टानें इसके सामने ठहर नहीं सकती। हाथी भी ठहर नहीं सकते। जैसे कोई छलाँग लगाकर नीचे आता हो इस प्रकार वह कूदती है इसलिए उसे गंगोत्री—'गंगा से उतरी' कहते हैं। चली वहाँ से आगे गर्जती-उछलती हुई, चट्टानों को तोड़ती-फोडती, उखाड़ती हुई। आगे पहुँची तो 'केदार गंगा' उसमें आ मिली; तो भी वह रुकी नही, भागती गई। 'गौरी-कुण्ड' में पहुँच गई। इस प्रकार समा गई उसमें जैसे अब चलेगी नही। परन्तु थोड़ी ही दूर जाकर वह फिर उभरी, फिर दौड़ पड़ी। 'भैरों घाटी' के पास पहुँची तो उसमें सफेद रंग की 'भोट गंगा' आ मिली। 'हर्शल' के पास पहुँची तो एक-साथ पाँच नदियाँ उसमें सम्मिलित हो गई; तो भी वह रुकी नहीं; दौड़ती-उछलती हुई आगे बढ़ी। 'उत्तरकाशी' पहुँची; फिर भी रुकी नही। आगे बढ़ी; अलखनन्दा उसमें आ मिली। तब वह ऋषिकेश पहुँची। हरद्वार पहुँची। हरद्वार से इंजीनियरों ने बाँध बनाया कि उसे रोक ले। वह नहर बनकर 'हर की पौड़ी' के पास पहुँची। एक ओर नदी बनकर कानपुर पहुँची, दूसरी ओर नहर बनकर खेतों को सींचती हुई कानपुर में इस नदी से जा मिली। फिर आगे बढ़ी। प्रयाग, बनारस, पटना से होती हुई हावड़ा में पहुँच गई। वहाँ भी रुकी नहीं; आगे बढती गई, बढ़ती गई, क्योंकि उसे अपने आधार के पास पहुँचना है। वहाँ पहुँचने से पूर्व उसके लिए रुकना नही है, ठहरना नहीं है। और अन्तत 'गगा सागर' आ गया। उसने आव देखा न ताव, एक ही बार में उसमें कूद पड़ी और शान्त हो गई। सागर ने प्यार से कहा—"तुम आ गई हो गगा!" गंगा ने उत्तर दिया, "हाँ प्रीतम! तुम्हारे लिए दौडती आती थी। तुम ही मेरा आधार हो, मेरा सहारा हो।" सचमुच सागर इसका आधार है। वहाँ से वह वाष्प बनकर उठती है। मेघ बनकर हिमालय पर पहुँचती है। बर्फ या वर्षा बनकर नीचे गिरती है और फिर अपने आधार की ओर भागती है। इस आधार का सहारा उसे हर समय हरा-भरा और भरपूर बनाये रखता है। लाखों वर्ष व्यतीत हो गये, वह चलती ही जाती है। उसकी गति कभी थमी नहो; उसका पानी कभी समाप्त नही हुआ; क्योंकि उसने अपने

से बड़े को आधार बना लिया है।

सुन, ऐ मनुष्य ! तेरा भी तब कल्याण होगा जब तू अपने से बड़े को सहारा बना लेगा। तभी तू पूर्ण बनेगा। तभी तू सच्चे अर्थों में मनुष्य बनेगा। तू आत्मा है, तुझसे बड़ा है परमात्मा। उसे अपना सहारा बना, तुझे अमृत मिलेगा—

यस्यच्छायाऽमृतम्।

ऋ० १०। १२१। २॥

उसकी छाया में जाकर, उसको आधार बनाकर, उसको सहारा बनाकर ही तू अमृत को प्राप्त करेगा—यह है वास्तविक आवश्यकता। जिसने ईश्वर को अपना आधार नही बनाया, वह मनुष्य नही बन सकता, राक्षस बन जाता है। यह है आज की सबसे बड़ी समस्या। हमने वास्तविक सहारे को छोड़कर दूसरे सहारे अपना रक्खे हैं परन्तु ये दूसरे सहारे तो आज हों या कल, अन्त में नष्ट होनेवाले है। ये बिल्कुल ऐसे हैं जैसे डूबता आदमी तिनके का सहारा लेता है। परन्तु तिनके का सहारा लेकर तरा कौन है ? तिनके का सहारा लेनेवाले को अन्ततः डूबना पड़ता है।

इसलिए ऐ अपूर्ण मनुष्य ! पूर्ण बनना है तो पूर्ण परमात्मा का सहारा ले, दूसरा मार्ग नही है।

परन्तु इस युग के लोग तो यह बात नही मानते। कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें ईश्वर के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं और बहुत-से ऐसे है जो ईश्वर को मानकर भी नहीं मानते है। आपको यह बात विचित्र प्रतीत होगी परन्तु यह सत्य है। ऐसा माननेवाले वाणी से कहते है—ईश्वर सर्वत्र है, सर्वशक्तिमान् है, दयालु है, न्यायकारी है। इसके पश्चात् भी यदि वे दूसरे का सहारा खोजते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ वे मानते है उसे भी वस्तुतः मानते नही। वाणी से कहते है कि 'ईश्वर सर्वत्र है, प्रत्येक का सहारा है', परन्तु आचरण ऐसे करते है जैसे ईश्वर कही किसी कोठरी में कैद है, किसी का सहारा नही और नित्य नये सहारे खोजते हैं। यह मानना क्या हुआ ?

परमात्मा को मानने की सीधी-सी विधि यह है कि उसे अपना आधार बनाओ।

कुछ लोग कहते हैं—'आनन्द स्वामी ! तुम कहते तो ठीक हो परन्तु ईश्वर दिखाई तो देता नहीं, उसको सहारा कैसे बनायें ?' यह साधारण नहीं, बहुत बड़ा प्रश्न है। मेरे समक्ष यह ध्वनिविस्तारक यन्त्र (लाउड-स्पीकर) है, यह घड़ी है, यह चौकी है। सब दिखाई देते हैं तो ईश्वर दिखाई क्यों नही देता ?

विनोदी लोग इसका उत्तर देते हैं कि वह इसलिए दृष्टिगोचर नहीं होता कि यदि वह कल दिल्ली आ जाय तो ईसाई लोग कहेंगे—चलो ईश्वर जी ! हमारे गिरजा में चलो। मुसलमान कहेंगे—गिरजा में नहीं, मस्जिद में चलो। सनातन धर्मी कहेंगे—मस्जिद में क्या, हमारे मन्दिर में चलो। पण्डित चन्द्रभानु जी कहेंगे—नहीं, सबसे पहले आर्य-समाज हनुमान रोड पर चलो। रामकृष्णाश्रमवाले उसे अपनी ओर खींचेंगे, राधास्वामी अपनी ओर, सिख अपनी ओर, सब लोग अपनी-अपनी ओर खींचेंगे। कोई उसका कुर्त्ता फाड देगा, कोई उसकी टोपी उतार देगा, कोई उसके बाल खीच लेगा। इसी डर से वह किसी को दिखाई नही देता।

विनोदी लोग ऐसा कहते है, मै नहीं कहता। मेरा उत्तर यह है कि ईश्वर दृष्टिगोचर होता है, उसे देखनेवाली आँख होनी चाहिए। अन्दर की यह आँख खुल जाती है तो फिर कोई पर्दा नहीं रहता—

रोशन हैं मेरे जलवे हर एक शै में लेकिन,
है चश्म कोर तेरी क्या है कुसूर मेरा ?

अरे ओ अन्धे ! आँख खोलकर देख, सूर्य चमक रहा है। अपनी आँख को तूने स्वयं ही बन्द कर रक्खा है और शिकायत करता है कि वह दिखाई नहीं देता, इसमें उसका क्या दोष है ?

न कोई पर्दा है उसके दर पर, न रूये-रोशन नकाब में है।
तू आप अपनी खुदी से ऐ दिल, हिजाब में था हिजाब में है।।

अहं की, अभिमान की यह दीवार हटा दो भाई ! तुम्हारा प्रीतम तुम्हारे सामने खड़ा है। वह नहीं, तुम स्वयं पर्दे में हो। पर्दा हटा दो और अपने प्यारे को देखो।

परन्तु, देखकर ही प्यार किया तो वह प्यार क्या हुआ ? यह तो मुँह-देखे का प्रेम हुआ। एक सज्जन दूसरे को बहुत देर पश्चात् मिले;

बोले—"श्रीमन् ! मैं तो आपको देखने के लिए तरस गया। आपके बिना शान्ति नही मिली, जीवन नीरस हो गया।"

दूसरे ने हंसते हुए कहा—"यह तो मुँह-देखे का प्रेम है मेरे भाई ! अन्यथा तुम चाहते तो पहले भी मिल लेते।"

सो भाई मेरे ! यह मुँह-देखे का प्यार अच्छा नहीं। प्यार करना है तो बिन-देखे विश्वास करो। दो सज्जन आपस में मित्र थे। एक दिन नदी-किनारे सैर को गये। देखा—एक साधु अपनी कुटिया के बाहर मिट्टी के खिलौने बना रहा है। एक छोटा बँगला भी उसने बना रक्खा था। एक मित्र ने पूछा—"यह बँगला तो बहुत अच्छा है।" साधु से पूछा—"इसे बेचोगे ?" साधु बोला—"हाँ !" उस व्यक्ति ने मूल्य पूछा। साधु बोला—"पाँच रुपये।" पहले मित्र ने पाँच रुपये दिये और बँगला ले लिया।

दूसरे मित्र ने कहा—"यह क्या करते हो तुम ? यह तो साधारण कच्ची मिट्टी का बँगला है और इसका मूल्य पाँच रुपये ! वापस कर दो इसे !" पहला मित्र माना नहीं। दूसरे मित्र ने फिर कहा—"क्यों अपना परिश्रम से उपार्जित धन नष्ट कर रहे हो ?" पहले ने फिर भी नहीं माना; बँगला लेकर घर आ गया। रात्रि मे दूसरे मित्र ने सोते हुए स्वप्न देखा कि वह स्वर्ग में पहुँच गया है और सामने ठीक वैसा ही बँगला है जैसा उसके मित्र ने पाँच रुपये में खरीदा था। बहुत बड़ा बँगला, सुन्दर फर्श, उत्तम छतें, अन्दर हर प्रकार का फ़र्नीचर, डनलप के सोफे, डनलप के पलँग, चमकते हुए रेशमी पर्दे, बाहर हरी-हरी घास का मैदान, उसमें स्थान-स्थान पर उछलते हुए फ़व्वारे, कितने ही प्रकार के फूलों की क्यारियाँ। आगे बढ़कर उसने देखा कि बँगले के बाहर मित्र का नाम लिखा है। आश्चर्य से उसने कहा—पाँच रुपये में इतना बड़ा बँगला ? और नींद खुल गई। उसी समय उठा, घर से निकला, मित्र के घर पहुँचा और द्वार खटखटाया। मित्र ने पूछा—"कौन ?" उसने बताया—"मैं हूँ। चलो, भ्रमण को चलें।" मित्र ने द्वार खोलकर कहा—"तुम्हे क्या हुआ है ? अभी तो रात्रि के ढाई बजे है। इस समय भ्रमण की बात कैसे सूझी ?" दूसरे मित्र ने अपना स्वप्न सुना डाला; बोला—"मैं भी उस साधु से पाँच रुपये में बँगला

खरीदूँगा।" पहले मित्र ने उसे बिठाया। पाँच बजे, तो दोनों भ्रमण को चले। नदी के किनारे पहुँचे साधु की कुटिया पर। साधु अन्दर भजन कर रहा था। उन्होंने आवाज़ दी। साधु बोला, "क्या चाहिये?" पहले मित्र ने कहा—"बाबा! कल मैं तुमसे पाँच रुपये में मिट्टी का एक बँगला ले गया था न! मेरे मित्र ने उसे स्वर्ग में देखा। वह बहुत बड़ा हो गया था, बहुत सुन्दर उसपर मेरा नाम लिखा था। वह भी वैसा ही बँगला खरीदना चाहता है। तुम दे सकते हो?" साधु ने उत्तर दिया—"क्यों नहीं! बँगला तैयार पड़ा है, ले जाओ।" दूसरे मित्र ने बँगला लिया। पाँच रुपये देने लगा तो साधु ने कहा—"नहीं भाई! इसका मूल्य पाँच रुपये नहीं, पाँच लाख रुपये है।" दूसरा मित्र आश्चर्य से बोला—"पाँच लाख! कल तो तुमने ऐसा ही बँगला केवल पाँच रुपये में दिया था?" साधु ने कहा—"तुम्हारे मित्र ने उसे देखे बिना खरीदा; केवल विश्वास कर लिया और खरीद लिया। तुम देखकर खरीदना चाहते हो, तुम्हें अब अधिक मूल्य देना पड़ेगा।"

सो भाई मेरे! मुँह-देखे का प्रेम ठीक नहीं। देखकर प्यार करोगे तो मूल्य बढ जायेगा। बिना देखे ही प्यार करो। विश्वास करो उस ईश्वर पर! उसे अपना आधार बना लो! सहारा बना लो!

आप कहेंगे—"अच्छा आनन्द स्वामी जी! तेरी बात मान लेते हैं, बिना देखे ही ईश्वर को आधार बनायेंगे। परन्तु यह तो बता, ऐसा करने से क्या होगा?"

तो सुनो मेरे भाई! निवेदन करता हूँ कि क्या होगा—

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान् न तमंहो अश्नवत्।

ऋ० २। २३। ३॥

तू उस मनुष्य को उत्तम मार्गों से, कल्याणकारी मार्गों से ले जाता है। तू उस मनुष्य को हर प्रकार के पाप से, दुःख से, संकट से, कष्ट और क्लेश से, बीमारी, पराजय और गिरावट से बचा लेता है। तू उस मनुष्य की प्रतिक्षण, प्रत्येक स्थान पर रक्षा करता है—

यस्तुभ्यं दाशान्

जिसने अपने-आप को तेरे अर्पण कर दिया है।

यह वेद भगवान् का मन्त्र है। ऋग्वेद में भी आता है, सामवेद में भी। आज लोगों में व्यावसायिक भावना बहुत अधिक हो गई है। प्रत्येक बात में वे लाभ ढूँढते हैं। मैंने सोचा—कोई-न-कोई लाभ की बात पूछेगा अवश्य। इसलिए परिश्रम करके वेद भगवान् से यह मन्त्र ढूँढ लिया। प्रत्येक व्यक्ति व्यापारी बन जाय और हानि-लाभ देखना शुरू कर दे तो फिर इन्हें बताना चाहिए कि लाभ क्या है?

एक पठान किसी ग़लत मार्ग पर चला जा रहा था। किसी आदमी ने कहा, "उधर मत जाओ, खतरा है।" पठान बोला—"तेरी बात तो मान लूँ परन्तु तू देगा क्या?" उस व्यक्ति ने कहा—"मैं किसलिए दूँ? तुझे बुद्धि की बात कही है। मानना है तो मान, नहीं तो खतरे में पड़ेगा।" पठान बोला—"यही तो मुसीबत है! मैं मूल्य लिये बिना कुछ नहीं करता। तेरी बात कैसे मान लूँ?"

एक सज्जन कुएँ में गिर पड़े थे। बनिया प्रकार के दुकानदार थे। रोये-चिल्लाये तो एक यात्री ने हाथ नीचे करके कहा—"ला मुझे हाथ दे।" वह सज्जन रोते और चिल्लाते तो रहे, हाथ नही दिया। वह व्यक्ति चकित कि यह कुएँ में गिरनेवाला क्या पागल है? कई दूसरे लोगों ने भी कहा—"अरे, तू रोये जाता है, हाथ क्यों नहीं देता?" तभी एक बुद्धिमान् वहाँ आया। उसने कुएँ में गिरे आदमी को देखा; बोला—"आप लोग गलती कर रहे है। यह व्यक्ति है व्यापारी। देना कुछ जानता नहीं, केवल लेना जानता है। ठहरो, मैं इसे निकालता हूँ।" उसने हाथ को नीचे करके कहा—"ले भाई, यह हाथ ले। पकड़-कर ऊपर आ जा।" उसने तुरन्त नये आदमी का हाथ पकड़ा और ऊपर आ गया।

(कथा सुननेवाले बहुत जोर से हँस उठे। स्वामी जी भी हँस उठे। हँसते हुए बोले—)

हम व्यापारी बन गये हैं। हर बात में लाभ चाहते है। कई लोग मेरे पास आते है, कहते है—आप प्रभु-भजन के लिए कहते है परन्तु हमने तो कई भक्तों को देखा है। बहुत बड़े है वे। कहने को भक्ति करते है परन्तु करते हैं दूसरों का बुरा, दूसरों की निन्दा। वाणी से इस प्रकार बोलते है जैसे तलवार चलती हो। भजन करके उठते है,

तो बीवी को गाली देते हैं, बच्चों और पड़ोसियों को गालियाँ देते हैं। ऐसे लोग वस्तुतः नास्तिकपन को बढ़ाते है। ऐसे भक्त तो प्रशान्त महासागर में चले जायँ तो अच्छा है।

यह भक्ति नही है। यह प्रभु-भजन नही है। जो मन्त्र मैंने आपके समक्ष पढा उसमे एक शब्द आता है 'दाशान्'। इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसने अपने-आपको पूर्ण रूप से प्रभु के अर्पण कर दिया है; जो एक-एक कण में भगवान् को देखता है; जिसे भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु अनुभव न होती हो। ऐसा व्यक्ति कड़वा बोलेगा तो किससे? निन्दा करेगा तो किसकी? बुरा चाहेगा तो किसका? ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान कहते हैं—

अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।

ऋ० १०। ४८। १॥

जिसने अपने-आपको मेरे अर्पण कर दिया है, मै उसका भोजन लेकर पीछे-पीछे चलता हूँ।

हरि भजे, हरि के हुए, भूला सकल शरीर।
पाछे-पाछे हरि फिरें, कहें कबीर कबीर॥

कुछ लोग कहेगे यह तो बहुत अच्छी बात है भाई! कुछ करने की आवश्यकता नही। ठेकेदारी बन्द, नौकरी बन्द, दुकान बन्द। अब हम हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जायेंगे। भगवान् जी को कह देंगे कि श्रीमन्! हमे तुमपर भरोसा है, और वह रोटी का थाल लेकर हमारे सामने आ खड़ा होगा। हम बैठे-बैठे खाते रहेगे। परन्तु खाओगे भी क्यों भाई! उसमें भी दाँत हिलाने पड़ते है। भगवान् ही खा लेगा। तुम केवल लाश बनकर पड़े रहना।

पहली बार मैं शिमला गया। यह बहुत वर्ष पहले की बात है; तो सुना, वहाँ 'मुण्डु' नामक एक जानवर होता है। मैंने आश्चर्य से पूछा—"यह कैसा जानवर है? मैने तो कभी देखा नहीं। क्या करता है वह?" शिमलावालों ने बताया—"मुण्डु प्रत्येक काम करता है। बाज़ार जाये तो मुण्डु, सब्ज़ी लाये तो मुण्डु, आटा गूँधे तो मुण्डु, आग जलाये तो मुण्डु, तवा रक्खे तो मुण्डु, रोटी पकाये तो मुण्डु, और खा जाये बाबू।"

यदि आपने भगवान् को भी ऐसा मुण्डु समझ लिया है तो ग़लत है। ऐसा मुण्डु वह कभी बनता नहीं। हमारे देश में एक समय आया जब लोगों ने भगवान् को ऐसा 'मुण्डु' ही समझ लिया। एक नया दर्शन उन्होंने आरम्भ किया—

राम भरोसे बैठ कर, रहो खाट पे सोय।
अनहोनी होनी नहीं, होनी हो सो होय॥

यह दृष्टिकोण ठीक नहीं। यह परमात्मा को आधार बनाना नहीं, अपने-आपको आलसी बनाना है। आलस्य को हमारे शास्त्रों ने जीवित मनुष्य की मौत का नाम दिया है। ईश्वर को सहारा बनाने, ईश्वर में विश्वास रखने का तात्पर्य आलसी बनकर, निकम्मे होकर बैठ जाना नहीं है। ऐसी बात हमारे शास्त्र नही कहते, हमारे पूर्वज नहीं कहते। वे प्रातः उठते ही सिर झुकाकर कहते थे—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

ऋ० १।१८९।१॥

हे अग्निरूप! हे प्रकाशरूप! हे ज्योति के भण्डार! हमें अच्छे मार्ग से ले चल। हमने अपना हाथ तेरे हाथ में दे दिया। अब ले चल माँ, जिधर तू चाहे उधर ले चल। तेरी इच्छा ही हमारे कल्याण का मार्ग है। अपने-आप को हमने तुझे सौंप दिया है, जिधर तू कहेगी उधर हम चलेंगे। जो तू कहेगी वही हम करेंगे।

'ले चल!' उन्होंने कहा—'चलेंगे।' उन्होंने कहा—'करेंगे।' यह नहीं कहा कि हम निकम्मे होकर बैठे रहेंगे और चलने-फिरने का काम तू करता रहना।

उन्हें पता था कि मनुष्य इस संसार में कर्म करने, परिश्रम करने, तप करने के लिए आया है—

श्रमेण तपसा सृष्टा।

अथर्व० १२।५।१॥

यह वेद भगवान् की वाणी है। भगवान् कहते है, मैंने मनुष्य को हाथ-पर-हाथ रखकर निकम्मा बैठ जाने के लिए नही बनाया; परिश्रम करने के लिए बनाया है, तप करने के लिए बनाया है। तप का अर्थ

क्या है ? यह कि भगवान् ने मनुष्य को केवल बिना सोचे-विचारे बुरे कर्मों के लिए परिश्रम करने के लिए नहीं बनाया; चोरियाँ करने, डाके डालने, दूसरों को लूटने और उनके घरों को आग लगाने के लिए नहीं बनाया। परिश्रम यह भी है, परन्तु यह गलत परिश्रम है। भगवान् ने मनुष्य को बनाया इसलिए कि वह तप की भावना से परिश्रम करे। दुःखों और कष्टों को हँसता हुआ सहन करे। अपने और दूसरे के कल्याण के लिए, सुख के लिए परिश्रम करे। सत्य के लिए, न्याय के लिए, धर्म के लिए, देश के लिए, मानवता के उद्धार के लिए परिश्रम करे।

यह है प्रभु की आज्ञा। जो लोग समझ बैठे कि यह संसार विश्राम-स्थल है, वे ग़लत समझे। यह विश्राम-स्थल नही है। लगातार संघर्ष, निरन्तर कर्म, अनवरत परिश्रम का स्थान है यह ! परमात्मा को आधार बनाने का तात्पर्य यह नही कि निकम्मे होकर बैठ जाओ; उसे आधार या सहारा बनाने का तात्पर्य केवल यह है—उस महाशक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ो। उस महान् एवं विशाल पॉवर-हाउस (Power House) से अपना सम्बन्ध (Connection) जोड़ लो जिसकी शक्ति से यह सब-कुछ चलता है। सर्दी लगती है तो पहले हीटर को अपने सामने रख लो। गर्मी लगती है तो ठण्डे कमरे में चले जाओ। मन में दुःख है, अशान्ति है तो उस प्रभु का आश्रय लो जिसमें अनन्त शान्ति है, अनन्त आनन्द है; जिसके निकट दर्द, चिन्ता, दुःख, कष्ट, क्लेश फटक भी नही पाते। वह महा-शक्ति है। जो अनन्त ग्रह, सौर-मण्डल और ब्रह्माण्ड है, वेद भगवान् ने ईश्वर को इन सबकी नाभि कहा है। उसके आधार पर, उसके आश्रय पर, उसके सहारे पर ये सब चल रहे है। दो अरब वर्ष से चले आये है और अभी दो अरब वर्ष तक चलेंगे। ईश्वर को सहारा बनाया है उन्होंने। परन्तु सहारा बनाने के पश्चात् बैठ नहीं गये, रुक नहीं गये। यह सूर्य है न ! प्रत्येक शाम को आँखों से ओझल होता है, प्रातः फिर विद्यमान। दो अरब वर्ष से निरन्तर यही कर रहा है। यदि कभी यह सुस्त पड़ जाय, यदि यह भी आज यूनियन (Union) में सम्मिलित हो जाय, क्योंकि आजकल यूनियन बनाने का रिवाज बहुत हुआ जाता है, तो सोचो कि होगा क्या ?

आजकल तो घरेलू कर्मचारी भी यूनियन बनाकर छुट्टी माँगते हैं। सबको छुट्टी चाहिये आजकल और अधिक-से-अधिक चाहिये। पंडित जवाहरलाल जी ने कहा था—'आराम हराम है।' हम लोगों ने समझ लिया—'काम हराम है।' यदि यह सूर्य भी ऐसा समझ ले और कहे कि 'बाबा! दो वर्ष हो गये मुझे कार्य करते हुए, अब मुझे भी छुट्टी चाहिये, वर्ष मे मैं भी १५ दिन की छुट्टी किया करूँगा' तो पन्द्रह दिन में ही सबका 'ओम् तत् सत्' हो जायेगा। सब-कुछ ठप्प हो जायेगा, अन्धकार छा जायेगा हर ओर। उसी अन्धकार में प्रलय जाग उठेगी। परन्तु नही, सूर्य कभी ऐसा नही कहता, वह छुट्टी नहीं माँगता, निरन्तर काम किये जाता है। इसलिए वेद ने कहा—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

ऋ० ५। ५१। १५॥

अरे! ओ मानव! यदि तू कल्याण चाहता है, अपनी भलाई चाहता है, तो सूर्य और चन्द्रमा की भाँति निरन्तर कर्म करता चल! चन्द्रमा घटता है, बढता है, परन्तु कभी भी अपने काम को रुकने नहीं देता। अमावास्या से पूर्णमासी तक और पूर्णमासी से अमावास्या तक निरन्तर चलता ही रहता है वह। रुकना और ठहरना उसके लिए नही। यही दशा सूर्य की भी है। निरन्तर वह अपना कार्य कर रहा है। इसलिए वेद भगवान् ने कहा—सूर्य के पीछे चल! सूर्य का नाम है भानु। वेद कहता है—भानु की भाँति चल। हमारे ये चन्द्रभानु है न! (आर्यसमाज हनुमान रोड, नई दिल्ली के पुरोहित श्री चन्द्रभानु जी हैं) इन्होंने अपने नाम में सूर्य और चन्द्र दोनों ही एकत्र कर रक्खे है। इसलिए दिन-रात काम करते हैं। पता नहीं अब तक कितने विवाह इन्होंने कराये है। (सब लोग बहुत जोर से हँस उठे। स्वामीजी ने कहा—) अपने नहीं कराये, दूसरों के कराये हैं। अपना तो एक ही कराया है, लोगों के बहुत कराये। (सारा हाल हँसी से गूँज उठा। स्वामी जी भी जोर से हंस उठे।)

तो यह पहली बात है मेरे भाई! भगवान् का सहारा ले, भगवान् को अपना आधार बना! यह आधारभूत बात है और कमाल यह है कि आज का मानव इस आधारभूत बात को भूल गया है। युक्तियाँ

बहुत देता है वह । परन्तु ईश्वर युक्तियों से परे की वस्तु है, वह तर्क की वस्तु नहीं। हमारे महात्मा मुन्शीराम जी थे न ! उस समय वे केवल मुन्शीराम थे और नास्तिक थे । ईश्वर को मानते नहीं थे । सुना कि बरेली से महर्षि दयानन्द आये हैं तो उनके पास पहुँचे । उन्होंने कहा—"स्वामी जी ! मैं ईश्वर को नहीं मानता । मेरा मस्तिष्क कहता है कि ईश्वर नहीं है ।" स्वामी दयानन्द जी महाराज ने उन्हें युक्तियों से, प्रमाणों से समझाया, बताया कि ईश्वर है। महर्षि दयानन्द-सा विद्वान् हो तो उनकी दलीलों का उत्तर कौन देगा ? महात्मा मुन्शी-राम जी ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज ! मैं निरुत्तर हो गया हूँ। आपकी युक्तियाँ ठीक हैं परन्तु मेरा हृदय अब भी नहीं मानता।" महर्षि ने हँसते हुए कहा—"हृदय को तो भगवान् आप ही मनाएगा, तर्क वहाँ चलता नहीं ।" और वस्तुतः ईश्वर बुद्धि की वस्तु नहीं, बुद्धि से परे की वस्तु है ।

हमारे योग-मार्ग मे भगवान् का दर्शन करना हो तो आज्ञाचक्र से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में, दशम द्वार मे पहुँचकर करते है । अंग्रेजी में उसे Cerebrum कहा जाता है, हम उसे शिरो-ब्रह्म कहते हैं । बुद्धि से ऊपर है वह स्थान, वहीं पहुँचकर ईश्वर के दर्शन किये जाते हैं । बुद्धि की पकड मे वह आता नहीं । इसी बात को अकबर इलाहाबादी ने एक शे'र में कहा—

ज़ेहन में जो घिर गया, ला-इन्तहा कैसे हुआ ?
जो समझ में आ गया वो फिर ख़ुदा क्योंकर हुआ ?

समझ से परे है वह, बुद्धि से परे, आँख से परे । सबसे ऊपर उठो, फिर वह दिखाई देता है । मन से ऊपर, बुद्धि से ऊपर, चित्त से ऊपर, अहंकार से भी ऊपर उठो । फिर देखो वह प्रीतम प्यारा, वह परम शान्ति-रूप, परम आनन्द-धाम, परम शक्ति-धाम, अजर-अमर-नित्य-शाश्वत मुस्कराता हुआ दिखाई देता है या नहीं । फिर देखो विश्वास होता है कि नहीं ।

आप कहेंगे, अच्छा भाई मान लिया कि उसका सहारा लेना चाहिये । विश्वास कर लिया कि वह शक्तियों की महाशक्ति, सबसे बड़ा पॉवर-हाउस है । शक्ति और शान्ति की आवश्यकता हो तो उसके

साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। जोड़ लिया यह सम्बन्ध, कर लिया विश्वास, अब आगे क्या करें ?

आगे जो करना है वह भी निवेदन करता हूँ।

यह मनुष्य क्या है ? यह दो वस्तुओं की समष्टि—समूह है। एक है माया, दूसरी है चेतना। यह शरीर, इसका सारा-का-सारा व्यवहार, यह माया है। इसके अन्दर जो रहता है, जिसके लिए यह शरीर है, वह चेतन है। माया अथवा प्रकृति में पाँच आधारभूत तत्त्व है—जल, वायु, पृथिवी, आकाश और अग्नि। इन पाँचों के कही एक, कहीं दूसरी प्रकार मिलने पर ही भाँति-भाँति के रूप, रंग, स्वाद, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि बनती हैं। इन्हीं को लेकर वैज्ञानिक आविष्कार करते हैं। यह माया अथवा प्रकृति झूठ नहीं है, सत्य है। यह जगत् मिथ्या नहीं है, वास्तविकता है। विज्ञान ने और भले ही कुछ न किया हो, यह तो सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति स्वप्न नहीं, असत्य और धोखा नही, अपितु ठोस वास्तविकता है। यदि ससार मिथ्या और धोखा होता तो सब-के-सब आविष्कार कभी न हो सकते।

परन्तु मनुष्य केवल माया ही तो नही, केवल प्रकृति ही नहीं, केवल मिट्टी और पत्थर का पुतला नही है। ऐसा होता तो विज्ञान के आविष्कारों से मनुष्य सुखी हो गया होता। यदि विज्ञान के आविष्कारों के पश्चात् भी वह सुखी नही हुआ, यदि उसे शान्ति नहीं मिली, वास्तविक आनन्द नही मिला तो इसलिए कि इस शरीर के भीतर एक आत्मा भी है जो प्रकृति या माया नहीं, प्रकृति या माया से बिल्कुल अलग-थलग है वह।

परन्तु एक क्यों ? इस शरीर में दो आत्माएँ है। 'वेदान्त-दर्शन' में एक सूत्र आता है जिसमें कहा है—शरीर के अन्दर दो आत्माओं (आत्मानौ)[1] का निवास है। जगद्गुरु शंकर अद्वैत मत के समर्थक थे। वे भी इस मन्त्र का दूसरा अर्थ नही कर पाये। उन्होंने भी लिखा है, शरीर में दो आत्मा रहते है—उनमें से एक है परमात्मा और दूसरा है जीवात्मा।

---

१. वेदान्त दर्शन १।२।११॥

मनुष्य क्या है ? यह जानना हो तो पहले प्रकृति को समझो । इस माया को समझो; देखो कि शरीर क्या है ? शरीर का विज्ञान क्या है ? परन्तु केवल इतना जानने से मनुष्य का पूरा पता नही लगेगा । मनुष्य को पूर्ण रूप से समझना हो तो आवश्यक है कि आत्मा का ज्ञान भी प्राप्त करो, उसे भी समझो ।

परन्तु देखो जी, साढे नौ तो बज गये, अब शेष कल सही ।

ओम तत् सत् !

दूसरा दिन

(पूज्य स्वामी जी महाराज कथा आरम्भ करने से पूर्व प्राय. वेद भगवान् का कोई एक मन्त्र पढते है । आज उन्होंने वह मन्त्र पढा जिसमे केवल एक शब्द है—भगवान् का नाम 'ओ३म्' । पूरे अस्सी सैकण्ड एक ही श्वास मे वे ओ३म् कहते रहे । फिर इतनी ही देर मौन रहे । आर्यसमाज, हनुमान रोड का पण्डाल खचाखच भरा था । नये लोग चले आते थे । चहुँ ओर शान्ति थी और पूज्य स्वामी जी महाराज कह रहे थे—)

प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

कल मै मनुष्य को मनुष्य बनाने के विषय पर बोल रहा था । आइनस्टाइन से एक पत्र-प्रतिनिधि ने पूछा—"ससार में सुख और शान्ति कैसे हो सकती है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"उत्तम मनुष्य उत्पन्न करने से ।" बहुत बडा वैज्ञानिक था वह । यदि उसे विज्ञान पर विश्वास होता तो कहता कि 'विज्ञान की उन्नति से ससार को सुख एव शान्ति मिलेगी ।' इसकी बजाय उसने कहा—"ससार यदि सुख और शान्ति चाहता है तो उसे अच्छे मनुष्य उत्पन्न करने होंगे ।" परन्तु ये अच्छे मनुष्य उत्पन्न कैसे होंगे ?

विज्ञान के पास तो कोई ऐसी योजना नही । यह बिजली बनाता है । बिजली के पंखे और हीटर बनाता है । टेलीफोन और टेलीविजन बनाता है । ऐटम बम और हाइड्रोजन बम बनाता है । परन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाने की कोई योजना उसके पास नही । राजनैतिक पार्टियों

के पास भी ऐसी कोई योजना नहीं। जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर है उनके पास भी नही। शासन नहरों का निर्माण करता है, पुल बनाता है, बाँध बनाता है, हवाई जहाज़ बनाता है, सड़कें बनाता है, ऐसी ही और अन्य वस्तुएँ बनाता है; परन्तु मनुष्य को मनुष्य कैसे बनाया जाय, इसकी कोई योजना उसके पास नही। साम्प्रदायिक सगठनों के पास भी ऐसी कोई योजना नहीं। उनके पास मुसलमान बनाने की योजना है, ईसाई बनाने की योजना है, बौद्ध या अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी बनाने की योजना है; मनुष्य को मनुष्य बनाने की कोई योजना नही।

तब क्या किसी के पास ऐसी योजना है भी ? आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व महाराज अशोक ने अपने प्रचारक विभिन्न देशों मे भेजे। प्रत्येक देश के लोगों और शासन से उन्होंने कहा—"आज तक मनुष्य मनुष्य का शत्रु रहा, इससे मनुष्य को दुःख मिला, कष्ट-क्लेश और युद्ध मिला, पारस्परिक द्वेष और घृणा मिली, सुख और शान्ति तो मिली नहीं। आओ, हम उस सुख और शान्ति के लिए मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न करें। उस मानवता को जगायें जो देशो और जातियो के मतभेदों के अन्धकार में सो गई है।" सम्राट् अशोक ने तलवार का नही, शान्ति का सन्देश हर ओर भेजा। सबको कहा—आओ ! तुच्छ स्वार्थों से ऊपर उठकर, मिलकर सहानुभूति और प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ो।

और इससे लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व वेद भगवान् ने कहा—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।

ऋ० १०। १३। १।।

तुम सब लोग उस अमृत पिता की सन्तान हो जो कभी मरता नही, कभी समाप्त नहीं होता। परस्पर लड़ो मत ! एक-दूसरे को दु.खी बनाने का प्रयत्न न करो ! तुम सब भाई-भाई हो।

करोड़ों वर्ष पूर्व वेद भगवान् ने यह महान् आदर्श मनुष्य के समक्ष रक्खा। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज ने इसी विचार को सरल भाषा में सबके समक्ष रखते हुए कहा—

इक्को अल्ला नूर उपाया
कुदरत दे सब बन्दे।
इक्क नूर तों सब जग उपज्या
कौन भले कौन मन्दे ॥

परन्तु मानवता का यह महल कैसे तैयार होगा ? मकान बनाना हो तो पहले नींव भरी जाती है। इस महल के लिए भी नीव की आवश्यकता है, किसी आधार की आवश्यकता है। यह आधार क्या है ? यह सहारा क्या है ?

हमारे पूर्वजों ने मनुष्य के समक्ष यह आधार भी रक्खा। महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मणग्रन्थों, गृह्यसूत्रों और वेद भगवान् का सूक्ष्म अध्ययन किया है। सबका मन्थन करके एक नन्ही-सी पुस्तक 'संस्कार-विधि' लोगों के सामने रक्खी। उसमें मनुष्यों के लिए सोलह संस्कारो का वर्णन किया। तीन संस्कार जन्म से पूर्व किये जाते हैं, तेरह जन्म के पश्चात्। 'जातकर्म' जन्म के पश्चात् सबसे पहला सस्कार है। इस संस्कार के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि बच्चे का जन्म होने के पश्चात् उसका पिता अथवा कोई दूसरा वयोवृद्ध सोने की सलाई को शहद में लगाकर बच्चे की जिह्वा पर 'ओम्' लिखे और उसके कान में 'वेदोऽसि' तू वेद है—ऐसा कहे। आप कहेगे, यह संस्कार क्या हुआ ? छोटा-सा बच्चा अभी-अभी उत्पन्न हुआ, वह इस 'ओम्' को और वेद को क्या समझेगा ? परन्तु स्मरण रक्खो, बच्चा भी समझता है। हमारे पूर्वज मनोविज्ञान के विशेषज्ञ थे। उन्हें पता था कि बच्चे को अच्छे या बुरे सस्कार उस समय से मिलने लगते हैं जब वह अभी गर्भ में ही होता है। इसलिए उन्होने कहा—बच्चा जब गर्भ में हो तो उसकी माता उत्तम पुस्तकों को पढे, उत्तम पुस्तकों को सुने, अच्छे विचारों को सोचे, उत्तम लोगों की सगति में रहे। माता जो कुछ पढती, सुनती, सोचती या खाती-पीती है उसका प्रभाव गर्भ के भीतर सोये हुए बच्चे पर होता है। इसलिए उन्होने यह 'जातकर्म' सस्कार निश्चित किया। बच्चा इस संसार में आता हैं। पिता उसे कहता है—'ओ नन्ही-सी जान ! ससार का यह सफाचट वन—यहाँ घने जंगल हैं, मरुस्थल हैं, लम्बे-चौड़े मैदान है, कठिन घाटियाँ है; यहाँ अन्धकार भी है, तूफ़ान भी आते है। इस

वन में डाकू और लुटेरे भी रहते हैं, चोर और ठग्के भी घूमते हैं; यहाँ हिंसक पशु भी हैं, उन सबका मुकाबिला करने के लिए तुझे एक सहारा देता हूँ, उसका नाम है 'ओ३म्'—

ओ३म् प्रतिष्ठ।

यजु० २। १३॥

ओ३म् क्रतो स्मर।

यजु० ४। १५॥

ओ३म् को आदर के स्थान पर रक्खो। ओ३म् का स्मरण करो। यह तेरा सहारा है, यह मनुष्य का आधार है।

और यह मनुष्य है न, इसे कोई-न-कोई सहारा चाहिए अवश्य, क्योंकि यह स्वय अपूर्ण है। अपूर्ण होने के कारण यह कोई-न-कोई सहारा ढूँढता है। जो लोग ईश्वर को नही मानते, वे भी कोई-न-कोई सहारा खोज लेते है। उसका आश्रय लेना शुरू कर देते है। बुद्ध भगवान् वास्तविकता की खोज में एक जगल में जा पहुँचे; एक वृक्ष के नीचे बैठ गये; समाधि लगा ली। अपने अन्दर उन्होंने देखा, इन्द्रियों से आगे बढे, मन तक पहुँच गये। मन से आगे नही जा पाये बुद्ध भगवान्। इसीलिए उन्होंने कहा—मन ही सब-कुछ है।

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः।

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसी के कारण वह जन्म और मरण के चक्र में पड़ता है। इसी के कारण वह सुख और दुःख उठाता है। इसी से मुक्ति प्राप्त करता है। बस, मन तक पहुँचे भगवान् बुद्ध। इससे आगे आत्मा-परमात्मा तक वे पहुँच नही सके।

पिछले वर्ष मैं छह मास बर्मा में रहकर आया हूँ। बौद्ध मत बर्मा का राजकीय धर्म है। स्थान-स्थान पर बुद्ध भगवान् के मन्दिर हैं। मैने इन मन्दिरों को देखा। बौद्ध भिक्षुओं को भी मिला। उनमें कई बहुत विद्वान् हैं। भगवान् बुद्ध की सभी शिक्षाओ का उन्होने बर्मी भाषाओ में अनुवाद कर दिया है। माण्डले मे एक मन्दिर है, बहुत लम्बा। उसके अन्दर भगवान् बुद्ध की सभी शिक्षाएँ, सभी ग्रन्थ पत्थरों पर खोद-खोदकर लिख दिये गये हैं, ताकि यदि कभी सब नष्ट हो जाएँ तो भी पत्थरो पर लिखी ये पुस्तके विद्यमान रहें। एक और

मन्दिर है 'शोदे गाँव पेगोड़ा'। उसके कलश पर तीन बड़े-बड़े हीरे लगे है। एक-एक हीरा दस-दस लाख रुपये का है। तीस लाख रुपया तो वही पड़ा है।

(तभी पुरुरवा के पास बैठी कुछ बच्चियो के कारण ध्वनि-विस्तारक[1] यन्त्र का तार टूट गया। पूज्य स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—"ओये गुड्डियो, इह की कीत्ता जे ? इह ते तार ही निकल गया है।" और प्रबन्धको की ओर देखकर उन्होने कहा—"जोड़ो पण्डित जी एहनूं।" थोड़ी ही देर मे तार जुड गया। स्वामी जी कहने लगे—)

हाँ, मै शोदे गाँव पेगोडा की बात कह रहा था। भगवान् बुद्ध की बडी-बड़ी मूर्तियाँ है इस मन्दिर में। एक मूर्ति ठोस सोने की है। शेष मूर्तियों पर सोने का पानी चढ़ा है। बौद्ध लोग मन्दिर के अन्दर जाते है तो जूता उतारकर नहीं, जूते को पहनकर भी नही; जूते को अपनी बग़ल मे दबा लेते हैं, मुँह में सिगार के कश लगाते हुए मूर्तियों के सामने पहुँचते हैं। हाथ जोड़ते है, सिर झुकाते और मन्नत माँगते है। उन्होने भी सहारा बना लिया है। बुद्ध भगवान् को ही ईश्वर की भाँति आधार बना लिया है। और ये कम्युनिस्ट हैं न ? इनके गुरु एञ्जल और कार्ल मार्क्स ईश्वर को मानते ही नही थे। रूस में कम्युनिस्ट-राज्य शुरू हुआ तो उन्होंने ईश्वर को देश-निकाला दे दिया, कहा—"हमें ईश्वर की आवश्यकता नही। हम बिजली और भाप से सब कार्य कर लेंगे।" परन्तु कुछ वर्ष हुए, चन्द्रप्रकाश जी के बड़े भाई यश जी रूस में गये। वापस आकर मुझे मिले तो बोले—"आपके मतलब की एक बात रूस में देखकर आया हूँ। रूसवालों ने ईश्वर को तो अपने देश से निकाल दिया परन्तु मनुष्य की निर्बलता को नहीं निकाल सके। प्रत्येक नगर में रूसी नेताओ के बड़े-बड़े बुत है, श्वेत सगमरमर के बुत। साधारण लोग इन बुतों के गले में फूलों की माला पहना जाते है। इनके सामने मोमबत्तियाँ जला जाते है। इनके सामने खड़े होकर सिर झुकाते है, मन्नत माँगते है।

यह अवस्था है मनुष्य की ! कोई-न-कोई सहारा उसे अवश्य चाहिये।

---

१. लाउडस्पीकर

परन्तु वास्तविक सहारा कौन-सा है ? ये मूर्तियाँ बहुत देर नहीं रहतीं, टूट जाती हैं। श्री गुरु गोविन्दसिंह महाराज ने ठीक कहा—जो मूर्तियाँ अपने लिए कुछ नहीं कर सकती, वे तुम्हारे लिए क्या करेंगी ? तब वास्तविक सहारा क्या है ?

कल मैंने बताया कि वास्तविक सहारा केवल एक है—वह ईश्वर, वह परम पिता परमात्मा—

यस्यच्छायाऽमृतम्...

जिसकी छाया अमृत है, जिसका सहारा कभी मरता नही, हटता नही, समाप्त नहीं होता और—

यस्य मृत्युः।

जिसके बिना केवल मौत है। मृत्यु का अर्थ केवल मौत नहीं अपितु दुःख, शोक, रोग, निर्धनता, पराजय इन सबका नाम मृत्यु है। उसका सहारा ले लो, यह सब-कुछ दूर हो जाता है। उसका सहारा न लो, यह सब-कुछ विद्यमान है। जो ईश्वर को अपना आधार बनाता है, अपने मानवता-रूपी महल की नींव बनाता है, उसे अमृत मिलता है।

अरे बाबा ! कभी इस नीव को रख के तो देख ! नींव के बिना भवन बनता नही। देहली में कारपोरेशनवाले एक बहुत बडा भवन बना रहे है, कई मंजिला भवन। सबसे पहले रक्खी जायेगी उसकी नींव। नीव के बिना भवन बनेगा नही। परन्तु मनुष्य-रूपी यह भवन तो उससे बहुत बड़ा भवन है।

जो लोग विकासवाद को मानते हैं, डारविन के चेले हैं और मानते हैं कि बन्दर और लंगूर से मनुष्य बना, वे भी यह मानते है कि मनुष्य इस विकास की सबसे अन्तिम कड़ी है। मनुष्य से बड़ा और कोई प्राणी हो नहीं सकता और हमारे शास्त्र तो कहते ही है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

तुझे रहस्य की बात बताता हूँ, मनुष्य से बढकर कोई प्राणी नहीं। जो इतना बड़ा है उसकी नींव भी बहुत बडी होनी चाहिए; और मैंने कहा, यह नींव केवल परमात्मा है। इस भवन की आधारशिला बना लो तो भवन पक्का बनेगा, नहीं तो अधूरा और कच्चा रहेगा। ऐसा

न हो तो मनुष्य रोता है, चिल्लाता है, पुकारता है। कभी-कभी समय आता है जब वे सारे सहारे छूट जाते हैं जिन्हे मनुष्य गलती से अपना समझ लेता है; अपने पराये हो जाते है, पराये शत्रु हो जाते हैं। शरीर काम नही करता। जेब के पैसे समाप्त हो जाते हैं। चहुँ ओर अन्धकार दृष्टिगोचर होता है और हर ओर निराशा। तब मनुष्य पुकारकर कहता है—

है फ़िज़ा तारीक कोई रास्ता मिलता नहीं।
इस कड़ी मंजिल में कोई रहनुमा मिलता नहीं॥
क्या करूँ जाऊँ कहाँ कोई नहीं पुसलि-हाल।
इस भरी दुनिया में कोई आसरा मिलता नहीं॥

अरे भाई! आसरा तो है बाबा! तू ही उसे लेता नहीं। वह आधार हर समय तेरे अंग-संग है। सोते में, जागते में, प्रत्येक स्थान पर है, प्रत्येक दशा में है। जीवन में, मृत्यु में, मृत्यु के पश्चात् भी वह विद्यमान है। तू यदि स्वयं ही उसका सहारा न ले, उससे दूर खड़ा रहे तो इसमें दोष किसका है—

सारी दुनिया से हाथ धोकर देखो।
जो पास रहा है उसे खोकर देखो॥
क्या तुमसे कहूँ इसमें है कैसी लज्जत!
इक मरतबा तुम किसी के होकर देखो॥

अरे भाई! एक बार उसका सहारा लेकर देखो! उसके होकर तो देखो, फिर पता लगेगा कि इसमें कैसा आनन्द है। परन्तु जैसा मैंने कल कहा था, आजकल कुछ लोग कहते हैं—"आनन्द स्वामी, तू बार-बार ईश्वर की बात कहता है, उसका सहारा लेने की बात कहता है, परन्तु वह तो कही दिखाई ही नही देता, फिर उसका सहारा कैसे लें?" मै कहता हूँ, वह दिखाई देता है। उसके लिए मन की आँख को खोलने की आवश्यकता है। हृदय के पट खोलने की आवश्यकता है। जिसकी यह आँख खुल जाती है वह दावे के साथ कहता है—

जग में आकर इधर-उधर देखा।
तू ही आया नजर जिधर देखा॥

और जब हृदय में विश्वास हो और प्रेम से टूट गया हो दिल, तब—

पता तो यूँ बताते हैं वो सबको ला-मकाँ अपना।
मगर मालूम है रहते हैं वो टूटे हुए दिल में॥

जिसके हृदय में विश्वास है, जिसमें प्रभु-विश्वास है और जिसने प्रभु-प्रेम के रास्ते पर अपना पग रख दिया है, उसको भगवान् की बुरी बातें भी अच्छी लगती है—

तेरी खुशी से अगर ग़म में भी खुशी न हुई।
वो ज़िन्दगी तो मुहब्बत की ज़िन्दगी न हुई॥

जिससे प्यार होता है उसकी कोई बात कभी बुरी लगती नहीं। ये दादा लोग है न, इन्हें अपने पोतों से बहुत प्यार होता है। अब वानप्रस्थ होने का युग तो रहा नहीं। बूढ़े लोग घरों में ही रहते हैं; अपने छोटे-छोटे पोतों-पोतियों को देखकर निहाल होते रहते हैं। पोते को गोद में लेते है, सिर पर बिठाते हैं। आजकल दाढ़ी-मूँछ तो लोगों के होती नहीं, सब कर्ज़न-फैशन के हो गये हैं, केवल सिर पर बाल होते हैं। पोता उनके सिर के बाल पकड़कर खेंचता है, सिर को झँझोड़ता है और बूढ़े बाबा ज़ोर-ज़ोर से हँसते हैं। वह उनकी नाक में अँगुली घुसेड़ देता है, कान को खींच लेता है और वे हँसते है और यदि वह पेशाब कर दे तो यूँ समझते हैं जैसे अमृत आ गया है। यह सब-कुछ क्यों होता है? उस प्रेम के कारण जो दादा के हृदय में अपने पोते के लिए है—

उलफ़त में बराबर है जफ़ा हो कि वफ़ा हो।
हर चीज़ में लज़्ज़त है अगर दिल में मज़ा हो॥

तब अपने प्रीतम की बुरी बात भी अच्छी लगती है। वैसे भगवान् कोई बुरी बात करता नहीं; किसी का बुरा वह चाहता नहीं; परन्तु फिर भी कुछ लोगों को कुछ बातों से कष्ट हो जाता है इसलिए कहता हूँ कि प्रीतम से प्यार हो तो बुराई में भी अच्छाई दिखाई देती है। कुछ लोग कहते हैं बुराई में अच्छाई कैसे दृष्टिगोचर हो सकती है? अब देखिए, कहीं तूफ़ान आ जाते है, कहीं बाढ़, कहीं आँधियाँ। पंजाब में इतनी वर्षा हुई कि खेत बह गये, गाँव बह गये, मकान टूट गये। कुछ दूसरे प्रदेशों में ऐसी अनावृष्टि हुई कि फ़सल नष्ट हो गई। पशु घास के लिए तरस गये। परन्तु यह तो ठीक दृष्टि से देखने की बात है

बाबा ! सम्यक् दृष्टि से देखो तो यही सब-कुछ अच्छा भी प्रतीत होगा। इससे हमारा कौन-सा पाप कटता है, कौन-सी भलाई होती है, यह हम कैसे जान सकते हैं ? जाननेवाला जानता है।

बहुत दिन पहले की बात है। एक जहाज़ जा रहा था समुद्र में। यान के यात्री आनन्द में मग्न थे। कोई ताश खेल रहा था, कोई शतरंज। कोई खाना खा रहा था, कोई शराब के प्याले से दिल बहला रहा था। तभी आ गया एक भयंकर तूफ़ान। बादल गर्ज उठे, आँधी चीख उठी। समुद्र की लहरें इस प्रकार ऊपर-नीचे होने लगीं जैसे भूकम्प आ गया हो। कप्तान ने इस अवस्था को देखा तो खतरे की घण्टी बजाई। सबको कहा, "जहाज खतरे में है, बचने की कोई आशा दृष्टिगोचर नहीं होती।" सब लोग हतसंज्ञ हो गये, चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगी। कई लोगों ने रोना शुरू कर दिया। परन्तु एक यात्री था वहाँ। उसने यह सब-कुछ सुना तो जोर से हँसने लगा। लोगों ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा। कुछ लोगों ने उसकी पत्नी से कहा—"तुम्हारा पति क्या पागल है ?" वह बोली—"नहीं जी ! पागल क्यों होगा, चंगा-भला है।" लोगों ने कहा—"तब वह हँसता क्यों है ? हम सब तो मृत्यु को सामने देखकर रो रहे हैं ?" पत्नी ने अपने पति के पास जाकर कहा—"आप हँस क्यों रहे हैं ? लोग समझते हैं कि आप पागल हो गये हैं !" पति ने यह बात सुनी तो और भी जोर से हँसने लगा। पत्नी ने पूछा—"आपको क्या हुआ है ?" पति हँसता हुआ अपने केबिन की ओर गया। वहाँ से अपना लम्बा छुरा उठा लाया; उस देवी की गर्दन पर रख दिया छुरा और बोला, "अब तू बचेगी नहीं, देख मैं तेरी गर्दन काटने लगा हूँ।" वह देवी, उसकी पत्नी मुस्कराई। पति बोला—"अरे ! मैं तेरी गर्दन काटने लगा हूँ, तू मुस्कराती क्यों है ?" वह बोली—"मेरे देवता ! मेरा पति ही मेरी गर्दन काट दे तो इससे बड़ा सौभाग्य मेरे लिए क्या हो सकता है ?" पति ने कहा—"इसीलिए मैं भी हँसता हूँ। मैं तेरा पति हूँ, वह भगवान् सारे संसार का पति है। जो मेरा पति है यदि वह चाहे कि मैं इस समुद्र में जल-समाधि लेकर शरीर को छोड़ दूँ तो मैं रोऊँ किसलिए ? यह तो प्रसन्नता की, हँसने की बात है।"

यह है विश्वास की बात !

परन्तु कई लोग कहते है—"श्रीमन् ! हम तो ईश्वर-भक्तो को सदा रोते हुए देखते है।" मै कहता हूँ—"अरे भाई ! मैं भी भक्त हूँ, मुझे देखो ! सदा प्रसन्न रहता हूँ, हँसता हूँ। तुम रोनेवाले को क्यो देखते हो ? हँसनेवालों को देखो।" परन्तु वे कहते है, "हमारा यह तात्पर्य नहीं; परन्तु प्रायः हम देखते है कि जो ईश्वर-भक्त है, जो ईश्वर से प्यार करते है, वे कष्टों, दुःखों और आपत्तियों में घिरे रहते है।"

इसका कारण भी सुनो !

लोग बहुत अच्छे वस्त्र का सूट सिलवाते है। कुर्त्ता, पगड़ी, जम्पर अथवा ऐसी कोई अन्य वस्तु बनवाते हैं। बहुमूल्य ऊन लेकर उससे स्वेटर बनाते हैं। तब किसी दिन यह वस्त्र किसी प्रकार हो गया मैला, उसपर लग गया धब्बा, तब क्या करते हैं ? साबुन लेकर उसे रगड़ते हैं, उसे डण्डे से कूटते भी है, उसे भट्टी पर भी चढ़ा देते है। नीचे तेज जलती हुई अग्नि, ऊपर बर्तन, उस खौलते हुए पानी मे वस्त्र—उस समय कोई पूछे—"इस वस्त्र को इतना कष्ट क्यों देते हो ?" तो आप कहेंगे—"इसकी मैल को दूर कर रहे हैं। कपड़ा बहुमूल्य है, बार-बार बनवाया नहीं जाता।" परन्तु यदि यह वस्त्र मूल्यवान् नही, यदि आरम्भ से ही मैला-कुचैला, फटा-पुराना है, थोडा और मैला हो गया है तो उसे क्या करते हैं ? कोई उसे धोता नही, कोई उसे साबुन नहीं लगाता, उसे उठाकर एक ओर रख देते है और जब किसी बात के लिए मशाल की आवश्यकता हो तो उस वस्त्र को एक लाठी पर बाँधकर, तेल में भिगोकर आग लगा देते है। केवल मूल्यवान् वस्त्रों को साबुन लगाया जाता है, उसको डण्डों से साफ़ किया जाता है, उसको भट्टी पर चढ़ाया जाता है; फटे-पुराने वस्त्रों के साथ यह व्यवहार नही होता।

प्रभु का भक्त भी बहुमूल्य वस्त्र है, उत्तम वस्त्र है। उसपर कहीं किसी प्रकार की मैल लग गई तो दुःखो, कष्टों और क्लेशों के साबुन से ईश्वर उसको धोता है कि वह फिर चमक उठे। तुम समझते हो कि ईश्वर उसपर अत्याचार कर रहा है।

ये सुनार और सर्राफ़ होते हैं न ! सोने को अग्नि पर रख देते हैं।

गर्मी के कारण वह गलकर पानी-सा बन जाता है, तब उसे बाहर निकालकर जमाते हैं; जम जाये तो फिर कुठाली में डालकर आग पर रख देते है। वह फिर जलता है, खौलता है; पानी बन जाता है तो उसे फिर जमाते हैं, फिर अग्नि पर रख देते हैं; वह फिर जलता है, खौलता है; पानी बन जाता है तो उसे फिर जमाते हैं, फिर अग्नि पर रख देते है। एक सुनार यह सब-कुछ कर रहा था। एक व्यक्ति ने यह सब-कुछ देखा तो बोला—"ऐ भाई! यह क्या कर रहे हो इस सोने को? क्यों इस बेचारे को बार-बार अग्नि में रख देते हो? क्यों इस-पर अत्याचार करते हो?" सुनार ने कहा—"अत्याचार नहीं करता, इसकी मैल दूर रहा हूँ। यह कुन्दन बन जायेगा, इसका मूल्य बढ़ जायेगा।"

और आजकल के ये बच्चे है न? चोखे शरारती है। कई लोग इनकी शरारतों से तंग आकर कहते है—"कितने शरारती हो गये हैं ये बच्चे!" मैं कहता हूँ, तुम लोग अपना युग भूल गये। अपने समय में प्रत्येक बच्चा शरारती होता है। हाँ, आजकल के बच्चे प्रतिभावान् शरारती है। अब एक बच्चा कीचड़ में खेलता हुआ कही लथपथ हो गया। मिट्टी लग गई शरीर पर, केशों पर, चेहरे पर। होली के दिन हों तो रग भी लग गया। अब उनकी माँ क्या करती है? पकड़ती है बच्चे को, लेती है साबुन और उसे रगड़ना शुरू करती है। बच्चा रोता है, चीखता है परन्तु माँ उसे साबुन लगाना, धोना और रगड़ना नही छोडती। एक बार के साबुन से मैल न उतरे तो दूसरी बार लगाती है, तीसरी बार लगाती है। एक पडोसिन ने कहा—"बहन, यह क्या करती है? बच्चा रो रहा है। शेष मैल कल उतार लेना।" माँ कहती है—"नहीं, आज ही उतारूँगी यह मैल। यह मेरा लाडला बच्चा है, इसे मेरे साथ मेरी गोद मे सोना है।"

यह माँ अपने बच्चे का बुरा नहीं, भला कर रही है। ऐसी ही हमारी वह ममताभरी माँ, वह सच्ची माँ जब दुःखों, कष्टों, क्लेशों और आपत्तियों के साबुन से हमारे अन्तःकरण के मैल को धोती है तो हमारे बुरे के लिए नही, अपितु भले के लिए ऐसा करती है।

एक कसाई की बात सुनाते है—

(परन्तु जैसे-जैसे उत्सव में भीड़ बढ रही थी, आर्यसमाज हनुमान रोड में लगा पण्डाल इसके लिए छोटा हुआ जाता था। एक प्रबन्धक ने उठकर कहा—"सब लोग थोड़ा-थोड़ा आगे आ जाइये। पीछे जो लोग खडे है उन्हे बैठने दीजिये।" स्वामी जी ने कहा—"आगे-आगे हो जाओ मेरे बच्चो!" और प्रबन्धकों से बोले—"कल यह कनात मत लगाइये, इसे हटवा दीजिये।" एक प्रबन्धक ने कहा—"इसे तो मै अभी हटवाये देता हूँ।" स्वामी जी ने कहा—"नही रहने दो, कल उतरवा लेना।" और लोग बैठ गये तो बोले—)

एक कसाई की बात मैं कह रहा था। उसने पाल रक्खा था एक कुत्ता, जो पहरा भी देता था, रक्षा भी करता था। उसके साथ-साथ उसने एक बकरा भी पाल रक्खा था। बकरे को वह अच्छे-अच्छे भोजन देता था, घास देता था, दाना देता था। कुत्ते को कभी कोई हड्डी, कभी कोई सूखी रोटी डाल देता था। कुत्ते के मन में आया कि कसाई तो बड़ा अन्यायी है। मै इसके लिए पहरा देता हूँ; दुकान और मकान की रक्षा करता हूँ। मुझे यह सूखी रोटी देता है और इस बकरे को जो कुछ भी नहीं करता, दिन-भर खूँटे के साथ बँधा रहता है, बिल्कुल निखट्टू है, एक पैसे का भी काम करता नही, इसको भाँति-भाँति की वस्तुएँ खिलाता है, बिस्कुट भी खिला देता है, कभी-कभी दूध भी पिला देता है। मैं दिन-प्रतिदिन सूखता जाता हूँ, यह बकरा दिन-प्रतिदिन मोटा हुआ जाता है। निश्चितरूपेण यह कसाई अन्याय कर रहा है। यह अच्छा नहीं है। परन्तु तभी आ गया ईद का दिन। बकरा हो गया बहुत मोटा। कसाई ने छुरी पकड़ी और उसकी गर्दन पर फेर दी, उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, उसका मास बेच डाला। तब उस कुत्ते ने कहा—"भला हो तेरा भगवान् कि तूने मुझे बकरा नहीं बनाया।"

यह है प्रभु का न्याय! जितने पल रहे है बकरे, सावधान हो जाये! छुरियाँ चलनेवाली है, स्मरण रक्खो!

यह मैं ईश्वर-विश्वास की बात कह रहा हूँ।

जिसने इस विश्वास की चट्टान पर पाँव रख दिया उसके लिए चहुँ ओर सौन्दर्य जाग उठता है, माधुर्य जाग उठता है। उसे दुःख में भी सुख मिलता है; शोक के समय भी प्रसन्नता अनुभव होती है,

क्योंकि वह जानता है कि यह सब-कुछ उसके भले के लिए है। इसीलिए कल मैंने वेद का यह मन्त्र सुनाया था--

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।

जो व्यक्ति अपने-आप को प्रभु के समर्पित कर देता है, परमात्मा उसको अच्छे मार्ग पर ले जाता है।

परन्तु वह ले कैसे जाता है? 'सत्यार्थप्रकाश' के सातवें और नौवें समुल्लास में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"मनुष्य जब कोई उत्तम काम करने का विचार करता है तो उसके अन्दर उत्साह उत्पन्न होता है, आनन्द उत्पन्न होता है और साहस उत्पन्न होता है; और जब कोई बुरा कार्य करने को तैयार होता है तो उसके मन में शंका, भय और लज्जा उत्पन्न होती है।" महर्षि कहते हैं—"यह जीवात्मा की ओर से नहीं अपितु परमात्मा की ओर से है।" प्रत्येक व्यक्ति के भीतर बैठा हुआ वह परमपिता उत्तम काम करनेवालों को कहता है--"तूने जो विचार किया मेरे बच्चे, वह बहुत अच्छा है। आगे बढ़, अवश्य कर, तुझे प्रसन्नता होगी।" और बुरा कर्म करनेवाले को कहता है—"न बाबा! ऐसा काम न कर! यह कार्य गलत है। इसका परिणाम दुःख और अपमान है, कष्ट और संकट है।" यह परमात्मा की आवाज़ है, उनकी प्रेरणा है। परन्तु वह प्रेरणा मिलती किसको है? **दाशान्**—उनको, जिन्होंने अपने-आप को प्रभु के अर्पण कर दिया है, उसका सहारा ले लिया है, उसे अपना बना लिया है।

यह गायत्री मन्त्र है न! वेद भगवान् के २०३०० मन्त्र हैं। इनमें से इस एक मन्त्र को ही गुरुमन्त्र क्यों कहा गया? महर्षि दयानन्द ने इसे महामन्त्र क्यों कहा? श्री शंकराचार्य ने इसे जगज्जननी क्यों कहा? इसलिए कि इसमें एक शब्द आता है 'वरेण्यम्'।

भक्त अपने भगवान् को कहता है—"मैंने तुझे वर लिया, तुझे अपना लिया। मैं तेरा हो गया।" जिस प्रकार विवाह के समय वधू अपने पति को वरती है और कहती है—"आज से मैं तेरी हो गई, तू मेरा हो गया।" इसी प्रकार भक्त भी भगवान् को वरता है; कहता है—"तू मेरा हुआ प्रभो! आज से दूसरा कोई मेरा नहीं।"

और यह 'वरेण्यम्' शब्द है न? विचित्र प्रकार का शब्द है यह।

इसको बोलने के साथ ही दोनों ओष्ठ बन्द हो जाते हैं। क्यों बन्द हो जाते है? इसलिए कि जब किसी को वर ही लिया, अपना ही लिया और अपने-आप को उसके अर्पण कर दिया तो फिर इसके पश्चात् बोलने को रह ही क्या गया? इसके पश्चात् कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रहती, इसीलिए ओष्ठ बन्द हो जाते है। इसके पश्चात् मनुष्य चर्चा करता है तो अपने प्रीतम की, विचार करता है तो उसका, चहुँ ओर उसे देखता है। उसका सहारा लेता है, उसमें विश्वास करता है, दूसरा उसके लिए कोई रहता नहीं।

महाकवि रहीम ने इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर बात कही है—

सर सूखे पंछी उड़ें औरन सरन समायँ।

तालाब सूख गया, जो पक्षी उसका पानी पीते और इसके किनारों पर चहचहाते थे वे उस सूखे तालाब को छोडकर चले गये। परन्तु—

कहु रहीम बिन पंख के, दीन मीन कहँ जायँ॥

परन्तु वे मछलियाँ कहाँ जाये जिनका और कोई सहारा नहीं? उनके लिए तो एक ही रास्ता है कि तालाब सूखे तो उसके साथ सूख जायें, उसी में समाप्त हो जायें। यह है प्यार! दूसरा सहारा रखना नहीं, दूसरी ओर देखना नहीं।

चातक एक पक्षी होता है। कहते है कि स्वाति नक्षत्र में आकाश से वर्षा की जो बूँद गिरती है उसी को पीकर वह प्यास बुझाता है, दूसरा कोई पानी वह कभी पीता नहीं। उसके सम्बन्ध में तुलसीदास जी ने कहा है—

गंगा यमुना सरस्वती, है जग में भरपूर।
तुलसी चातक के मते, स्वाति बिना सब धूर॥

गंगा, यमुना, सरस्वती सब विद्यमान हैं; नदियाँ हैं, नाले है, कुएँ है, तालाब हैं, परन्तु चातक के लिए ये सब धूल के ढेर हैं। इनका पानी वह पी नहीं सकता। पानी पीता है तो स्वाति नक्षत्र में गिरी बूँद का, अन्यथा तृपित दृष्टि से आकाश की ओर देखता रहता है; प्यास से मर जाता है परन्तु दूसरा पानी पसन्द नहीं करता। यह है वरण अर्थात् आधार बना लेने की बात!

और कल मैं निवेदन कर रहा था कि ईश्वर को आधार बनाओ

जिससे बड़ा, जिससे स्थिर, जिससे अधिक सुख, शान्ति और शक्ति देनेवाला कोई आधार है नहीं। इसको आधार बनाकर आगे चलो।

अच्छा भाई! आधार बना लिया परमात्मा को। मानवता का महल बनने लगा। तब इसके पश्चात् करना क्या है? सुनिये! मनुष्य दो वस्तुओं का समूह है। एक यह माया-प्रकृति, जिसके रूप है—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। दूसरी यह चेतन शक्ति—यह जीवात्मा; और यह आत्मा शरीर के बिना रहता नहीं। इस स्थूल शरीर को छोड़ दे तो सूक्ष्म शरीर में चला जाता है। इसको भी छोड़-दे तो कारण शरीर का सहारा लेता है। मुक्त हो जाए तो भी कारण शरीर के साथ होता है, इसी के सहारे मुक्ति का आनन्द लेता है। प्रत्येक अवस्था में उसके लिए शरीर आवश्यक है। और यह मानव-शरीर घृणा की नही, प्यार और आदर की वस्तु है। यह यज्ञस्थली है, यह देवताओं की तपोभूमि है। इसे तुच्छ मत समझो। जिसने शरीर को समझ लिया वह सुख और आनन्द प्राप्त करता है। इससे अधिक सुन्दर, अधिक पूर्ण भगवान् की कोई रचना है नहीं। इसीलिए जैसा मैंने कल कहा था, वेद भगवान् ने इसके सम्बन्ध में कहा—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

अथर्व० १०।२।३०॥

'जरसः पुरा' जरा-अवस्था से पूर्व उस मनुष्य की न आँखे खराब होती हैं, न उसके प्राण खराब होते हैं और न उसे छोड़ते हैं जिसने ब्रह्म की इस नगरी—मनुष्य के इस शरीर को जान लिया। ऐसे लोगो को ही पुरुष कहना चाहिए; दूसरे लोग पुरुष कहलाने के अधिकारी नही।

और यह जरस या जरा-अवस्था किसको कहते हैं? आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार 'हमारे वैद्यराज यहाँ बैठे हैं, यह बात उन्हे बतानी चाहिए थी, अधिकार उनका है। मै बिना अधिकार के पढ़ी हुई बात सुनाता हूँ। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार, उत्पन्न होने से सोलह वर्ष तक मनुष्य की कुमार-अवस्था या शैशव होता है। सोलह वर्ष से बीस वर्ष तक उसकी बाल-अवस्था अर्थात् लड़कपन होता है। बीस वर्ष से सत्तर वर्ष

तक यौवन होता है। सत्तर वर्ष तक यह शरीर जवान रहता है। आज-कल तो पचास-साठ वर्ष के ही मनुष्य अपने-आपको बूढ़ा कहना शुरू कर देते हैं। वे अपने शरीर को जानते नहीं। मनुष्य का बुढ़ापा आरम्भ होता है सत्तर वर्ष पश्चात्। सौ वर्ष की अवस्था तक बुढापा रहता है। उसके पश्चात् सौ वर्ष से एक सौ बीस वर्ष तक जरा-अवस्था रहती है। परन्तु जो मनुष्य ब्रह्म की इस पुरी को जानता है, उसकी आँखें एक सौ बीस वर्ष तक उसका साथ देती हैं, उसके प्राण भी उसका साथ देते है। वह मरता है तो अपंग और रोगी होकर नहीं, वर्षों चारपाई पर लेटकर नहीं; अपितु चलता-फिरता, कार्य करता हुआ अपनी इच्छा से इस संसार को छोड़कर चला जाता है।

और यह पुरी, यह नगरी कैसी है?

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

अथर्व० १०।२।३१॥

आठ चक्र है इस नगरी में, नौ इसके दरवाजे है, प्रत्येक द्वार पर देवता पहरा देता है। इसके भीतर सोने की भाँति दमकता हुआ एक कोश होता है जहाँ स्वर्ग की ज्योति चमकती है। कितनी सुन्दर है यह नगरी! इसीलिए मै कहता हूँ कि यह घृणा करने की वस्तु नहीं है; बहुत मूल्यवान्, बहुत ऊँची वस्तु है। यह देवताओं की निवासभूमि है, यह ऋषियों की तपोभूमि है। यह वह मन्दिर है जहाँ प्रभु के दर्शन होते हैं।

कुछ लोग कहेगे—आनन्द स्वामी! यह आर्यसमाज की वेदी पर बैठकर तू क्या कहता है? आर्यसमाज तो ईश्वर को सर्वव्यापक—प्रत्येक स्थान पर विद्यमान मानता है और तू इस शरीर को प्रभु का मन्दिर कहता है? यह भी कहता है कि यहाँ इसके दर्शन होते हैं?

मै भी परमात्मा को सर्वव्यापक मानता हूँ। वह प्रत्येक स्थान पर है। इस अनन्त विश्व में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो, परन्तु परमात्मा का दर्शन करनेवाला आत्मा तो शरीर के अन्दर रहता है। शरीर की आँख उसे नही देखती, बुद्धि उसे नही देखती, आत्मा देखता है और आत्मा कैद है इस शरीर में। इसमे भगवान् भी हैं, इसलिए यहीं आत्मा को परमात्मा के दर्शन होते हैं। भक्त और भगवान् दोनों

जहाँ विद्यमान हों वही तो दर्शन होगा। और इस शरीर में आत्मा और परमात्मा, भक्त और भगवान् दोनों विद्यमान है। इसीलिए आवश्यक है कि इस शरीर की रक्षा की जाये, स्वास्थ्य का ध्यान रक्खा जाये, इसे रोगी न होने दिया जाये। इसीलिए भक्त प्रार्थना करता है—

तनूस्तन्वा मे सहेदतः अनेमायुरशीय।

अथर्व० १९। ६१। १॥

हे भगवन्! मेरे शरीर में फैलने-फैलाने की शक्ति बनी रहे, ताकि मैं पूर्णायु को भोगने के योग्य बन सकूँ।

शरीर के लिए वेद का शब्द है 'तनूः', इसी से तन शब्द बना है जिसे हम शरीर के लिए प्रयुक्त करते है। 'तनूः' का अर्थ ही फैलनेवाला है। फैलने की यह शक्ति, यह Flexibility ही तन का जीवन है। इस शक्ति के कारण ही यह शरीर स्वयमेव अपने-आपको ठीक रखता है। मोटर टूट जाए तो उसे वर्कशॉप भेजना पड़ता है कि जाओ भाई! इसका अमुक पुर्जा टूट गया है, इसे बदल लाओ। परन्तु शरीर को चोट लग जाये तो इसकी मरम्मत अन्दर से होती है। बाहर से हम मरहम लगा देते हैं, पट्टी बाँध देते है, परन्तु वास्तव में जो कुछ होता है वह अन्दर बैठा हुआ मिस्त्री करता है। बहुत योग्य मिस्त्री है यह। कहाँ कौन वस्तु लगानी, कहाँ से इसे प्राप्त करना, किस प्रकार इसे पहले की भाँति नया बना देना, यह सब वह स्वयं ही करता है। मैं कैलास की यात्रा को गया तो भारत और तिब्बत की सीमा पर साढ़े सत्रह सौ फ़ीट की ऊँचाई पर एक घाटी आती है। लिप्पू लेह घाटी इसका नाम है। कैलास की ओर जाते हुए मैं इसपर आराम से चला गया। लौटते हुए बर्फ पर से पाँव फिसला तो गिर पड़ा। पाँव की हड्डी टूट गई। अब वहाँ कोई डॉक्टर नहीं, कोई सुखालय (अस्पताल) नहीं। क्या करता मैं? दर्द बहुत था, परन्तु अभी ढाई सौ मील की यात्रा शेष थी। दर्द को सहन कर यह यात्रा की। कई दिनों के पश्चात् अल्मोडा पहुँचा। वहाँ से बस में बैठकर हलद्वानी आया, रेल में बैठा और देहली पहुँच गया। यहाँ आकर जीवन-अस्पताल मे ऐक्सरे कराया तो डॉक्टर साहब ने कहा, "कमाल है! यह हड्डी ठीक वैसी ही जुड़ गई है जैसी जुडनी चाहिए थी। अब इसमें कुछ भी करना शेष नहीं।"

यह है फैलने की शक्ति ! इस शरीर की मरम्मत इस शक्ति के कारण स्वयमेव अन्दर से होती रहती है। इसके कारण पानी की एक छोटी-सी बूँद बढ़कर-फैलकर कीकरसिंह बन जाती है, दारासिंह भी बन जाती है और दुर्गा मोटा भी बन जाती है।

यह दुर्गा मोटा एक बार 'मिलाप' के कार्यालय मे आया। भगवान् मेरे ! कितना मोटा था वह ! गर्मियों के दिन थे। मेरे पास आकर बोला—"प्यास लगी है।" मैने कहा—"पानी मँगवाऊँ ?" वह बोला—"नहीं जी ! पानी से क्या होता है, लेमोनेड मँगवाओ।" मैंने चपरासी से कहा—"लेमोनेड की एक बोतल ले आओ।" दुर्गा बोला—"एक बोतल से क्या बनेगा ?" मैंने पूछा—"फिर क्या दो-तीन पीयेगा ?" वह बोला—"दो दर्जन मँगवाओ।" आई ये दो दर्जन बोतलें। मैने चपरासी से कहा—"बोतलें खोलकर इन्हे पिलाते जाओ।" दुर्गा बोला—"नही जी, ऐसे नही। एक बाल्टी मँगवाओ। सब बोतलें खोलकर उसमें डाल दो।" तब ऐसा ही किया गया। दुर्गा ने बाल्टी को उठाया, एक ही श्वास में सारा लेमोनेड पी गया। उस समय रणवीर भी वही था, प्रकाश भी था। मैं, रणवीर और प्रकाश तीनो ने मिलकर उसके पेट का माप लिया तो कठिनता से तीन व्यक्तियों के घेरे में वह आया।

यह है तनू की कहानी ! यह फैलता है तो बहुत फैल जाता है।

परन्तु इतना भी न फैलो कि दुर्गा मोटे बन जाओ ! इतने भी न सिकुड़ो कि लकीरचन्द बनके रह जाओ। मर्यादा के अनुसार फैलो। इस मानव-शरीर को ठीक रखना चाहिए।

अथर्ववेद में इसके एक-एक अंग की महत्ता बताई गई है। कई बार हम स्वयं भी सोचते हैं तो चकित हो जाते है कि निर्माता ने इसका प्रत्येक अग कितने कौशल से बनाया है !

लाहौर मे लाहौरी और शाह आलमी द्वार के मध्य एक उद्यान था। उस उद्यान मे एक मुसलमान फ़कीर रहता था। उसके दोनों हाथ नही थे। उद्यान के पथ पर से जो लोग जाते थे, उनसे वह दान के रूप में पैसे माँगा करता था। कई बार मैंने उसे देखा। एक बार पूछा—"बाबा ! तेरे हाथ तो हैं नहीं, फिर खाना कैसे खाता है ?" वह

बोला—"लोग दया करके पैसे दे देते हैं। प्रातः या सायंकाल जब देखता हूँ कि पर्याप्त पैसे एकत्र हो गये हैं तो वहाँ नानबाई की दुकान है, उसे आवाज देता हूँ—म्हाभ्के ! पैसे हो गए। किसी को भेज, ये पैसे ले जाये, मुझे रोटियाँ दे जाये।" मैने कहा—"यह तो मैं समझा, परन्तु तू रोटी खाता कैसे है ?" वह बोला—"नानबाई का लड़का रोटी दे जाता है तो फिर मार्ग-चलते लोगों को पुकारता हूँ। खुदा का वास्ता देकर कहता हूँ—'मेरे हाथ नहीं है भाई ! कोई आओ, मुझे ये रोटी खिला जाओ।' तब कोई-न-कोई दयालु आ जाता है। ग्रास तोड़-तोडकर मेरे मुँह में डालता है और मैं खा लेता हूँ।" मैने पूछा—"रोटी तो इस प्रकार खा लेते हो, पानी कैसे पीते हो ?" वह बोला—"सामने वह घड़ा पड़ा है न, उसके पास जाता हूँ। एक पाँव से प्याले को सरकाकर उसके पास करता हूँ। दूसरे पाँव से घडे को उल्टाकर प्याले में पानी डालता हूँ।" मैने पूछा—"परन्तु पीते कैसे हो ?" वह बोला—"जैसे बकरी पीती है वैसे पीता हूँ।" मैने पूछा—"यह बाग है, यहाँ मच्छर भी होते होगे ?" वह बोला—"कुछ न पूछो, बहुत हैं। माथे पर लड़े तो माथा रगड़ता हूँ, पाँव पर काटे तो पाँव रगडता हूँ और पीठ पर लड़ें तो बेचैन होकर पृथिवी पर लोटता हूँ। इतना कष्ट होता है उस समय कि वर्णन नहीं कर सकता।" हाय ! केवल दो वस्तुएँ नहीं है शरीर में और यह अवस्था होती है !

ईश्वर के प्रत्येक कार्य में अद्भुत कौशल है। उससे बड़ा कलाकार कोई है नहीं। मानव-शरीर के एक-एक अंग में, इस संसार की प्रत्येक वस्तु में, फूलों में, वृक्षों मे, पत्तो में, सर्वत्र उसका कौशल दृष्टिगोचर होता है। मैं आजकल रहता हूँ कीलिग रोड पर, लाला मेलाराम जी की कोठी में। वहाँ भाँति-भाँति के फूल लगे है—चम्पा है, चमेली है, गुलाब है, गेंदा है। कितने ही प्रकार के वृक्ष भी वहाँ है। सब अपने समय पर खिलते हैं, अपने समय पर समाप्त हो जाते हैं। कौन उन्हें कहता है कि अब खिलने का समय आ गया है ? एक फूल है वहाँ जो दोपहर के समय खिलता है। प्रातः सोया रहता है, शाम सोया रहता है, रात्रि में तो सोता ही है, परन्तु दोपहर होते ही खिल उठता है। विचित्र कौशल है उसका ! परन्तु प्रभु की कला का सबसे बड़ा कौशल

है यह मानव-शरीर।

कुछ लोग कहते है, "क्या कमाल है जी ? शरीर के साथ उसने पेट बना दिया है जो सभी कष्टो की जड़ है।" यह बात ठीक है। पेट का धन्धा बहुत लम्बा है। इसके लिए धन कमाओ, इसके लिए खाना लाओ, इसके लिए खाओ, और यह रोगी हो जाये तो इसके लिए दवाई लाओ। औषध से ठीक न हो तो मर जाओ। सब इसके धन्धे हैं। परन्तु यह पेट बहुत आवश्यक है। इसके अन्दर हमारी आँखें बनती है, आँखों की ज्योति बनती है, मस्तिष्क बनता है, मस्तिष्क मे सोचने की शक्ति बनती है। मनुष्य के शरीर का प्रत्येक भाग अपने-अपने स्थान पर बहुत आवश्यक है। इस शरीर की निन्दा मत करो ! कई लोग कहते है—

क्या तन माँजता रे, आखिर मिट्टी में मिल जाना।

सो ठीक है मेरे भाई ! अन्ततः इसे मिट्टी में मिल जाना है। परन्तु जब तक मेरा प्रभु प्रीतम इसमें है, जब तक मेरा प्रधानमन्त्री इसमें रहता है, तब तक आवश्यक है कि इसका ध्यान रक्खो, इसे स्वच्छ और पवित्र रक्खो, इसे अपवित्र न होने दो, क्योंकि इसमे ही प्रभु के दर्शन हो सकते है, और किसी शरीर में नही।

परन्तु इस शरीर को ठीक रखने की विधि क्या है ? आयुर्वेद-शास्त्र ने शरीर के तीन स्तम्भ बताये है—भोजन, निद्रा, और ब्रह्मचर्य। भोजन के बिना यह शरीर चलता नही। है ही यह अन्नमय शरीर, फिर अन्न के बिना, भोजन के बिना यह रहेगा कैसे ? इस शरीर को योग-शास्त्र ने अन्नमय कोश कहा है। उसके भीतर प्राणमय कोश है, उससे आगे मनोमय कोश है, उससे आगे विज्ञानमय कोश और उससे भी आगे आनन्दमय कोश है। ब्रह्मचारी श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पुस्तक 'आत्म-विज्ञान' में इन सभी कोशों का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने यह भी बताया कि अन्नमय कोश से प्राणमय कोश में कैसे प्रविष्ट होना चाहिए। प्राणमयकोश से मनोमय कोश में कैसे पहुँचना चाहिए। मन को जीतकर विज्ञानमय कोश मे किस प्रकार के दर्शन करने चाहिये, जिसके प्रकाश मे सभी अन्धकार दूर हो जाते है, सभी ज्ञान मिल जाते है। और उससे आगे बढकर आनन्दमय कोश में

कैसे पहुँचना चाहिये जहाँ परमात्मा के दर्शन होते है और इतना आनन्द मिलता है जितना और किसी वस्तु मे नही। परन्तु इन सबका मूल तो यह अन्नमय कोश, यह मानव-शरीर है। यह अन्न से बनता है, अत: इसे ठीक रखने के लिए इसे भोजन देना आवश्यक है। भोजन कई प्रकार का होता है। शरीर को ऐसा भोजन देना चाहिए जिससे यह स्वस्थ रहे। इसका निर्णय प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। कई लोग वात प्रकृति के होते हैं, उन्हे बादी बहुत होती है, उनके लिए करेले बहुत उपयुक्त है। कई लोग पित्त प्रकृति के होते है, उनमें गर्मी बहुत होती है, वे करेले खायें तो नकसीर फूटने लगती है। अत: प्रकृति के अनुसार ठीक और उचित भोजन शरीर को देना चाहिए। संसार में सभी वस्तुएँ उत्तम हैं परन्तु सभी वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तम नही है।

कल वैद्यराज सुधन्वा जी मेरे पास आये। योगासनों के सम्बन्ध में उन्होंने एक पुस्तक लिखी है। मैंने पूछा—"क्या आपने सभी आसनों का वर्णन किया है?" योग में कई आसन है; चौरासी अधिक महत्त्व-पूर्ण है परन्तु ये चौरासी-के-चौरासी आसन सब लोगों के लिए नहीं हैं। कई लोगो को शीर्षासन से लाभ होता है, कई अन्य व्यक्तियों को हानि भी होती है। सब लोगों के लिए लाभदायक आसन चार हैं—सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, सुखासन, ताड़ासन। इनको स्त्री-पुरुष, बच्चा-बूढा प्रत्येक प्रकृति का व्यक्ति कर सकता है। शेष आसन अपनी प्रकृति के अनुकूल हों तो करना, नहीं तो नही करना। जो लोग सब-के-सब आसन आरम्भ कर देते हैं, उनकी अवस्था उस व्यक्ति जैसी होती है जो एक कैमिस्ट की दुकान पर गया, वहाँ अनेक प्रकार की दवाइयाँ पडी है, सबको उठाकर पीने लगा। अब ऐसा व्यक्ति मरेगा नही तो क्या होगा? ऐसे ही भोजन भी है।

प्रत्येक प्रकार का भोजन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अच्छा नही होता। पुराने समय मे लोग दूध, घी, मक्खन, मलाई खाने पर जोर देते थे। मैं छोटा था तो मेरी माताजी कहती थी—मक्खन खा, लस्सी पी, रोटी बहुत मत खा। बहुत रोटी खाने से शरीर अपवित्र हो जाता है। परन्तु अब तो वह बात ही नही रही। अब तो दो बाते रह गई है—विटामिन

और प्रोटीन। अब सर्वत्र विटामिन और प्रोटीन की चर्चा होती है। परन्तु ये विटामिन आते कहाँ से हैं ? फलों, सब्जियों, दालों और विभिन्न प्रकार के अन्नों से। मै विटामिन या प्रोटीन का विरोध नहीं करता। केवल इस रट का विरोध करता हूँ जो हम यह समझकर लगाते हैं कि विटामिन और प्रोटीन शायद आकाश से आते है। मैं आपको एक सरल विधि बताता हूँ जिससे अनेक प्रकार के विटामिन आपको कैमिस्ट की दुकान पर गये बिना मिल जाएँगे। कच्चे चने, जौ और साबुत मूंग लेकर उन्हें पानी मे भिगो दीजिये। छह-सात घण्टे तक भीगने दीजिये। तब पानी से निकालकर इन्हें किसी ऐसे स्थान पर सूखने के लिए रख दीजिये जहाँ छाया हो। गर्मी की ऋतु हो तो दूसरे दिन, शरद् ऋतु हो तो इससे कुछ अधिक समय में इनमें अंकुर फूट आयेगा। इस अकुर को इकट्ठा करके खाइए। बहुत-से विटामिन इसमे हैं। इससे आपके शरीर को शक्ति मिलेगी। प्रतिदिन ऐसा कीजिये तो आपको विटामिन की गोलियाँ खाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

खाने की बात चल पड़ी तो एक और बात सुनिये! हमारे देश के आयुर्वेद-शास्त्र ने आँवले को रसायन कहा है। आयुर्वेद-शास्त्र का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति आँवले के वृक्ष की छाया में रहे, गायत्री मन्त्र का जप करे और प्रतिदिन प्रात.-सायं आँवले का रस निकालकर पीये तो वह १७५ वर्ष तक न केवल जीवित रहता है, अपितु युवा रहता है; बुढ़ापा उसके निकट नही आता। आप कहेंगे पहले आँवले का वृक्ष खोजो, फिर उसकी छाया में रहो, तब आँवले का रस पीओ। यह सब-कुछ करेगा कौन ? वस्तुत: यह बहुत कठिन है। परन्तु मैं आपको एक सरल उपाय बताता हूँ। कच्चे परन्तु पीले रग के पाँच सेर आँवले लेकर उनकी गुठलियाँ निकाल दीजिये। तब उन आँवलों को दस सेर चीनी में डालकर चीनी या शीशे के किसी बर्तन में डाल दीजिये। आठ-नौ दिन के पश्चात् यह आँवले का मुरब्बा बन जायेगा। इसे प्रतिदिन प्रातःकाल खाइये। इससे आयु दीर्घ होती है, शरीर मे शक्ति आती है, मस्तिष्क में शक्ति आती है, आँखों में ज्योति आती है।

यह सब-कुछ पुस्तकों में नहीं लिखा; मै अपने अनुभव की बात बतलाता हूँ।

(एक भाई ने पूछा—"आँवलों को उबालकर खाँड मे डाले या कच्चे ही?"

स्वामी जी ने कहा—"ना जी, उबालना क्यों? कच्चे ही डालिए, परन्तु यह देख लीजिये कि उनका रग पीला हो।")

अब अनुभव की एक और बात सुनिये। बादाम की पन्द्रह गिरियाँ और मुनक्का के दस दाने लेकर रात्रि के समय इन्हें पानी में भिगो दीजिये। प्रात. बादाम का छिलका उतार दीजिये। मुनक्का के दानों से बीज निकाल दीजिये। तब तीन छोटी इलायची के दाने निकालकर इनमें मिलाकर चारों को खूब पीसिये। चटनी बना दीजिये इनकी। सर्दी की ऋतु हो तो इस चटनी को तवे पर थोड़ा भून लीजिये। प्रतिदिन यह चटनी खाइये। हृदय, मस्तिष्क और शरीर में शक्ति आयेगी, स्मरण-शक्ति तीव्र होगी। किसी भी समय शरीर में कोई थकावट नहीं आयेगी।

और यदि इससे भी अधिक शक्ति देनेवाली वस्तु की आवश्यकता हो तो पन्द्रह बादाम, पन्द्रह दाने मुनक्का और ब्रह्मी बूटी की पन्द्रह पत्तियाँ लेकर उन्हें रात्रि मे भिगो दीजिये और यदि ताजा ब्रह्मी बूटी मिल सके तो केवल बादाम और मुनक्का भिगोइये। ब्रह्मी बूटी की पत्तियाँ दूसरे दिन प्रातः मिलाइये। बादाम को छीलकर, मुनक्का के बीज निकालकर ब्रह्मी बूटी के साथ इन्हें पीसिये। इस चटनी में तीन काली मिर्च और तीन छोटी इलाचियों के दाने भी पीसिये। अधिक मीठा पसन्द हो तो थोड़ी मिसरी डाल दीजिये। प्रतिदिन यह वस्तु खाइये। शरीर में किसी भी प्रकार की कोई निर्बलता नही आयेगी। मस्तिष्क शक्ति-सम्पन्न बनेगा, शरीर के प्रत्येक अग को लाभ होगा।

ऐसी बाते मै सुनाता बहुत लोगों को हूँ, करता कोई नहीं; क्योंकि यह बादाम भिगोना, छीलना, पीसना भी तो एक झंझट का काम है। किसी ने शिकायत की—"मेरे सिर में दर्द होता है।" किसी दूसरे ने कहा—"गर्मी के दिन है, गर्मी से सिर-दर्द होता होगा, चन्दन घिसकर माथे पर लगाओ।" रोगी बोला—"परन्तु श्रीमन्! चन्दन को घिसना भी तो एक सिर-दर्द है।" यही बात आजकल के लोगों की है। इन्हें

केवल बनी-बनाई गोलियाँ चाहियें—विटामिन ए की गोलियाँ, विटामिन बी की गोलियाँ, विटामिन सी की गोलियाँ, विटामिन डी, विटामिन ई, विटामिन एफ़—अंग्रेजी की सारी वर्णमाला विटामिन खा गये हैं।

विटामिन की गोलियों के बिना किस प्रकार कार्य चल सकता है, यह मैंने थोड़ा-सा बताया। यह मैं उस भोजन के सम्बन्ध में कह रहा था जो शरीर का एक स्तम्भ है।

भोजन के पश्चात् इस शरीर का दूसरा स्तम्भ है नींद। मनुष्य को अच्छी प्रकार नींद न आये तो शरीर बहुत देर तक चलता नहीं। परन्तु निद्रा का अर्थ केवल चारपाई या पलँग पर लेट जाना, संसार-भर की चिन्ता करते रहना और भाँति-भाँति के स्वप्न देखते रखना नही है। निद्रा का अर्थ है ऐसी गहरी नीद जिसमें कोई स्वप्न न हो, जो बीच में टूटे नहीं, जिसके पश्चात् मनुष्य इस प्रकार जाग उठे जैसे उसे नया जीवन मिल गया हो। विचित्र बात यह है कि लोग सब-कुछ इस शरीर के लिए करते है, परन्तु जब शरीर का विचार करने का समय आता है तो शरीर को भूल जाते है। हमारा गाँव है जलालपुर जट्टाँ—गुजरात के उस जनपद में जो पाकिस्तान मे चला गया है। वहाँ एक दुकानदार थे। प्रात· दुकान पर पहुँच जाते। पर्याप्त रात गये घर वापस जाते थे। दिन के ग्यारह बजे उनके घर से खाना आ जाता था और पडा रहता था। उसपर मक्खियाँ बैठती रहती थी। खाना ठण्डा हो जाता था परन्तु उन्हें दुकानदारी से अवकाश ही नही मिलता था। कहीं शाम को चार बजे वे खाना खाते थे। मैंने एक दिन उन्हें कहा—"चाचाजी! यह आप क्या करते हो? खाना ठण्डा हो जाता है, खराब हो जाता है तब आप उसे खाते हो।" वह बोले—"अरे कुछ ठण्डा-वण्डा नहीं होता; अन्दर जाकर सब ठीक हो जाता है।" जिस भोजन के कमाने के लिए वे दिन-रात परिश्रम करते थे उसी के सम्बन्ध में उनका ऐसा व्यवहार था। परन्तु वही क्यों? प्राय. लोग ऐसा ही करते है। हर समय कमाने की चिंता, हर समय झगड़े, हर समय ईर्ष्या और द्वेष, इन बातों में निद्रा भी ठीक नही आती।

पिछले दिनों मैं था श्रीनगर में। एक सज्जन के साथ 'ओबराय

पैलेस' होटल में चला गया। वहाँ एक पारसी सज्जन ठहरे हुए थे। मुझसे बोले—"स्वामी जी! शराब पीने में क्या बुराई है? लोग इसे बुरा क्यों कहते है? मुझे देखो, मै दिनभर ऑफिस मे काम करता हूँ, शरीर थककर चूर हो जाता है। शाम को घर आता हूँ तो एक पैग शराब पी लेता हूँ, सारी थकावट दूर हो जाती है। इसमें बुराई क्या है?"

मैने कहा—"अरे भाई! पहले शरीर को थकाते क्यों हो?" वे बोले—"वेतन जो लेना हुआ।" मैने कहा—"तनिक कम वेतन ले लो। पहले अधिक वेतन लेने के लिए शरीर को थकाते हो, फिर शरीर की थकान दूर करने के लिए उसी वेतन की शराब लेकर पीते हो। यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है? परन्तु उन महोदय को शायद मेरी बात समझ में नहीं आई। किसी को भी नही आती। सब लोग पैसा कमाने के चक्कर में है और जिसके लिए पैसा कमाते हैं उसकी कोई चिन्ता नहीं। ये लोग जब रात को सोते है तो चिन्ताओं का ढेर अपने साथ लेकर; अमुक झगडा शेष है, अमुक प्रोनोट का समय समाप्त हो गया; अमुक व्यक्ति के पास अमुक सौदा बेचना है। बस, चिन्ता-ही-चिन्ता! तब नीद कहाँ से आयेगी? भगवान् ने नींद ऐसी वस्तु बनाई है जिसमें थके हुए, टूटे हुए शरीर को भेज दो। इस वर्कशॉप में से वह तरोताज़ा होकर फिर बाहर आ जाता है; परन्तु इस वर्कशॉप में भेजो ही नही, चिन्ताओं में ही बैठे रहो तो भगवान् क्या करे?

लो जी, साढ़े नौ बज गये। शेष बातें कल सही—

ओ३म् शम्!

तीसरा दिन

मेरी प्यारी माताओ तथा सज्जनो!

इस युग की सबसे बडी समस्या क्या है? यह कि मनुष्य को मनुष्य कैसे बनाया जाय? पिछले दो दिन से इस समस्या पर हम विचार कर रहे है। हमने देखा कि किसी राजनैतिक या साम्प्रदायिक के पास इसके

लिए कोई योजना नहीं। विज्ञान के पास कोई योजना नहीं। किसी शासन के पास नहीं चाहे वह पूँजीपतियों का हो, कम्युनिस्टों का हो अथवा सोशलिस्टों का। किसी के पास कोई उपाय नहीं। विज्ञान के पास भी नहीं। आइनस्टाइन ने कहा—"संसार में सुख-चैन और शान्ति होगी तो अच्छे मनुष्य उत्पन्न करने से।" यह नही कहा कि विज्ञान की उन्नति से, मनुष्य के चन्द्रमा, मंगल अथवा शुक्र तारे मे पहुँच जाने से सुख-चैन और शान्ति हो जायेगी। विज्ञान की उन्नति से मनुष्य को कुछ सुविधाएँ मिली अवश्य, कुछ विश्राम भी मिला है परन्तु सुख नहीं मिला, चैन नही मिला, शान्ति नही मिली, और फिर इसी विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य को जगली पशु भी बना दिया है। पहले वह तलवार के वार से एक व्यक्ति को घायल कर सकता था, समाप्त कर सकता था, अब ऐटम बम से सहस्रों लोगों को नष्ट कर सकता है। एक हाइड्रोजन बम से लाखों लोगों को पलभर में मौत की नींद सुला सकता है, लाखों अन्य लोगों को पंगु बना सकता है। वह ऐसा विष संसार में फैला सकता है कि वर्षों तक किसी प्राणी के लिए सुरक्षित स्थान ही न रहे। यदि यह उन्नति है तो अवनति क्या है? यदि यह सुख और चैन है तो बेचैनी और विनाश क्या है? इकबाल ने पाश्चात्यो को कहा था—

तुम्हारी तहज़ीब अपने ख़ञ्जर से आप ही ख़ुदकुशी करेगी।
जो शाख़े-नाज़ुक पै आशयाना बनेगा नापायदार होगा॥

यह बात अब हो रही है। विज्ञान ने मनुष्य को पारस्परिक शत्रुता, घृणा और विनाश के मार्ग पर चला दिया है। यह तो मनुष्य को मनुष्य बनाने का मार्ग नहीं है! मनुष्य जब मनुष्य बनता है और उसमें मानवता जाग जाती है तो उसके हृदय में शत्रुता नही रहती, घृणा नहीं रहती। वह पाप, अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध लड़ता है, किसी का बुरा नही चाहता, किसी को नष्ट करने का प्रयत्न नही करता। उसके लिए यह संसार एक 'अटूट पुरुष' बन जाता है। सारा संसार अपना परिवार बन जाता है। इस बादल को देखो! क्या कभी ऐसा हुआ कि वह एक खेत में बरसे और दूसरे में न बरसे? बादल सबके लिए है, सूर्य सबके लिए है, वेद का ज्ञान सबके लिए है। ये प्रभु-

प्रदत्त वस्तुएं है। इसी प्रकार मनुष्य भी उस समय भगवान् का मनुष्य बनता है जब वह सबका हो जाता है। दो सहस्र वर्ष पूर्व अशोक महाराज ने संसार के विभिन्न देशों मे अपने दूत भेजे कि 'आओ, युद्ध, विनाश, शत्रुता और घृणा का मार्ग छोड़ दे। आज तक मनुष्य विभिन्न जातियो, देशों और सम्प्रदायो मे बॅटा रहा। एक देश दूसरे देश को, एक जाति दूसरी जाति को नष्ट करने का प्रयत्न करती रही। आओ, हम एक नया मार्ग अपनाएँ। मनुष्य के लिए सुख-चैन की सामग्री उपलब्ध करे। कोई देश न रहे, कोई जाति न रहे, केवल एक देश बन जाये यह संसार, केवल एक जाति रह जाये—मनुष्य।'

और महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की तो उसके नियमों मे लिखा—"ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।" जनसंघवाले संन्तुष्ट हो जायेंगे यदि हिन्दुओं का कल्याण हो जाये, कांग्रेसवाले सन्तुष्ट हो जायेगे यदि भारत का कल्याण हो जाये, परन्तु आर्यसमाज सन्तुष्ट होगा उस समय जब सारे ससार का कल्याण हो जायेगा।

यह है मनुष्य को मनुष्य बनाने की समस्या, यह है इसका महत्त्व !

और जैसा मैने कल निवेदन किया, मानव को यदि मानव बनना है तो सबसे पहले इसे कोई दृढ आधार चाहिए। यह सहारा भगवान् से श्रेष्ठ और भगवान् से बडा कोई नही हो सकता। इसलिए 'संस्कार-विधि' मे कहा—"बच्चा उत्पन्न हो तो सबसे पूर्व उसकी जिह्वा पर ओ३म् लिखो।"

और श्री गुरु नानकदेव जी महाराज ने भी कहा—"एक ओंकार सत् नाम कर्त्ता पुरख " कुछ लोग समझते है कि गुरुजी ने ओंकार कहा इसलिए यह ओ३म् से भिन्न है, परन्तु यह बात ठीक तो नहीं। ओ३म् और ओंकार दोनों का तात्पर्य एक ही है। उपनिषदो ने स्पष्ट कहा—

ओंकार एवेदं सर्वम्, ओंकार एवेदं सर्वम् ॥

यह सब-कुछ ओंकार ही है। गुरुजी ने कहा—

ओंकार ब्रह्मा उत्पत्त। ओंकार किया जिन चित्त।
ओंकार सगल जुग भये। ओंकार वेद निर्मये ॥

ओंकार से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसने ओंकार का ध्यान किया। ओंकार अनन्त काल से, सदा से है। ओंकार ने वेदो का ज्ञान दिया। यह गुरु महाराज ने कहा जिनके सम्बन्ध में कुछ अज्ञानी लोग कहते है कि वे वेदों के विरोधी थे। विरोधी कैसे थे? वे तो वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। ईश्वर का भक्त ईश्वर के ज्ञान का विरोध कैसे कर सकता है? परन्तु यह दूसरी बात है। मै ओंकार की बात कह रहा था।

गुरुजी ने ओ३म् को ओंकार कहा तो उपनिषद् ने भी कहा—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥

माण्डूक्य उपनिषद् १॥

'ओ३म्'—यह एक अक्षर ही सब-कुछ है, यह इसका व्याख्यान है। जो पहले था, जो है, जो आगे होगा, सब ओंकार है अर्थात् ओंकार सदा रहता है और जब यह सब-कुछ नही रहता—भूत, वर्तमान, भविष्यत्—तीनों काल समाप्त हो जाते हैं, तब भी ओंकार विद्यमान रहता है।

इससे बड़ा सहारा कौन हो सकता है? इसलिए 'संस्कार-विधि' में कहा कि बच्चे की जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखो और उसके कान में कहो—'वेदोऽसि'।

इस प्रकार मानवता की आधारशिला रक्खी गई। पिता अपने बच्चे को कहता है—"अब किसी बात से घबराना नहीं। मैंने तुझे सहारा दे दिया जिससे बड़ा और कोई सहारा नही। जीवन में कष्ट आयें, क्लेश आये, इस सहारे को छोडना नही।" और यह जो संसार है भाई, इसमें आपत्तियाँ, कष्ट, क्लेश, काले दिन किसके लिए नहीं आते है! परन्तु जिसके भीतर प्रभु-प्रेम की ज्योति जगमगाती है, जो उसका सहारा ले लेता है वह कभी किसी बात से डरता नही, घबराता नही। उर्दू के एक कवि ने बहुत सुन्दर कहा है—

इन्सान के अज्मो-हिम्मत से जब दूर किनारा होता है।
तूफ़ान में टूटी किश्ती का भगवान् सहारा होता है॥

तूफ़ान आये, भूकम्प आयें, आँधियाँ आयें, प्रभु का भक्त कहता है—"मेरा वह सच्चा प्रीतम, वह सच्चा साथी, मेरी वह सच्ची माँ

मेरे साथ है, वह सर्वशक्तिमान् मेरी रक्षा करेगा।"

यह है मानवता की आधारशिला ! यह विश्वास यदि दृढ हो जाय, फिर कोई भय, कोई डर नही रहता।

परन्तु जिस जातकर्म सस्कार की बात मैं कर रहा था, उसमें यह भी लिखा है कि पिता अपने बच्चे को ओ३म् का सहारा देने के पश्चात् कहे—

अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव।

मेरे पुत्र ! यह संसार बहुत भयानक है। यहाँ गर्जते तूफ़ान आते हैं, चीखती हुई आँधियाँ आती है, भूकम्प आते है, तू पत्थर बन जा, पर्वत बन जा, चट्टान बन जा !

आप कहेंगे यह क्या बात हुई ? बच्चा उत्पन्न हुआ है, लोग प्रसन्न हो रहे है, सम्बन्धी और पड़ोसी बधाइयाँ दे रहे है और पिता बच्चे को कहता है तू पत्थर हो जा ? परन्तु ठीक कहता है वह। यह संसार निर्बल और दुर्बलों के लिए नही है। इसीलिए पिता कहता है—'पुत्र ! संसार-रूपी घनघोर जंगल में तुझे आगे बढना है। यहाँ तूफान भी आते हैं, बादल भी गर्जते हैं, भूकम्प भी आते है। यहाँ हिंस्र पशु भी हैं, खूनी डाकू भी है, घबराना नहीं, चट्टान की भाँति उनके सामने खड़े हो जाना, जैसे समुद्र में चट्टान खडी रहती है। लहरें आती है, बार-बार आक्रमण करती है, टक्करें मारती है, शताब्दियाँ व्यतीत हो जाती हैं और चट्टान ज्यूँ-की-त्यूँ स्थिर रहती है, ऐसे ही तू भी दृढ़ बन ताकि कोई शत्रु, कोई बीमारी, कोई आपत्ति तुझे हरा न सके।'

पत्थर से एक बात स्मरण आई। हमारे पूर्वज शरीर को कितना दृढ़ बनाते थे यह बात सुनाता हूँ। भीष्म पितामह का नाम आपने सुना होगा। तीरों की शैया पर कई मास वे लेटे रहे। मृत्यु के लिए ठीक समय की प्रतीक्षा करते रहे। भीष्म नाम इन्हे बाद में मिला, पहले इनका नाम देवव्रत था। शैशव-अवस्था में वे ननिहाल गये। पत्थरों पर खेल रहे थे तो एक ऊँचे टीले से पैर फिसला; काफी नीचे एक चट्टान पर वे आ गिरे। आजकल का कोई लडका या लड़की होती और ऐसी दुर्घटना हो जाती तो कोई-न-कोई हड्डी टूट जाती—सिर की, हाथ की, टाँग की अथवा कोई और। लोग शीघ्रता से सुखालय

में ले जाते, ऐक्सरे होता, पट्टियाँ बाँधकर प्लास्टर लगा दिया जाता, चालीस दिन पश्चात् यह प्लास्टर उतारा जाता। परन्तु देवव्रत चट्टान पर गिरा तो महाभारत का लेखक लिखता है चट्टान टूट गई। इसलिए पिता अपने बच्चे को कहता है, 'अश्मा भव'—पत्थर बन। परन्तु पत्थर बनकर क्या दूसरों को टक्करें मारता रहे ? क्या केवल यह करे कि लहरें आये, शत्रु आयें, अत्याचार हो और चट्टान की भाँति सब-कुछ सहता रहे ? नहीं, पिता दूसरी बात कहता है—'परशुर्भव'—कुल्हाड़ा बन। यदि कोई तेरे देश पर अत्याचार करे तो कुल्हाड़े की भाँति आगे बढके उसे टुकडे-टुकडे कर दे। चीनी हो या पाकिस्तानी, यदि वे तेरे देश पर अत्याचार करते हैं, उसकी स्वतन्त्रता को छीनने का प्रयत्न करते हैं, उसकी शान्ति को भग करते है तो 'परशुर्भव'—कुल्हाड़ा बनकर उनका सामुख्य (मुकाबिला) कर। खरबूजा न बन कि छुरी खरबूजे पर गिरे या खरबूजा छुरी पर, दोनों दशाओं में खरबूजा ही कट जाय। नहीं, कुल्हाडा बन कि तेरे शत्रु का सिर कट जाय। और तब—

हिरण्यमस्तृतं भव।

सोने की भाँति चमक मेरे पुत्र ! सूर्य की भाँति चमक ! अब संसार मे तेरी चमक को कोई कम नही कर सकता।

यह है मानव को मानव बनाने की योजना !

परन्तु अब तो यह सब-कुछ रहा नही। पहले माताएँ बच्चे को जन्म देती थीं घर में, परन्तु अब नर्सिंग होम में पहुँच जाती है। जिसे देखो वह नर्सिंग होम में जा रहा है। हमारे समय में तो नर्सिंग होम होता नहीं था। हम भी जन्म से सन्यासी तो पैदा नही हुए थे। कभी गृहस्थी भी थे। भगवान् की कृपा से बच्चे भी हुए और काफ़ी हुए, परन्तु हमने तो कभी नर्सिंग होम का नाम भी नहीं सुना था। घर में बच्चे का जन्म हो तो घर के सस्कार उसपर पड़ते हैं। पिता जन्म के साथ ही उसकी जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखता है। उसे ईश्वर का सहारा देता है। उसकी मानसिक भावनाएँ बच्चे पर प्रभाव डालती हैं। और अब—

इतफ़ाल में बू आय क्या माँ-बाप के अतवार की।
दूध तो डिब्बे का है, तालीम है सरकार की।।

नर्सिग होम में पिता तो होता नही, घर का वातावरण भी नहीं। वहाँ तो नर्सें हैं। वे बच्चे की जिह्वा पर क्या लिखेंगी? उसके कान में क्या कहेंगी?

इस प्रकार बच्चे को उत्तम सस्कार नही मिलते। ये सस्कार उस समय से आरम्भ होते हैं जब बच्चे का जन्म होता है; और घर के सस्कार घर मे मिल सकते है, नर्सिग होम्स में नहीं।

परन्तु मैं तो शरीर को ठीक रखने की बात कह रहा था। कल उसके लिए आधारभूत बातों की चर्चा की—भोजन और नींद। भोजन ऐसा होना चाहिए जो आपकी प्रकृति के अनुकूल हो, आपके शरीर की आवश्यकता के अनुकूल हो। केवल जिह्वा के स्वाद के लिए खाते चले जाना बुद्धिमत्ता की बात नहीं। कल एक बेटी बोली—'मुझे तो चाट बहुत अच्छी लगती है।' मैने हँसते हुए कहा—'खा चाट और पकड़ खाट।' इससे गला भी खराब होता है, पैसा भी नष्ट होता है, केवल इस जिह्वा रानी को थोडी देर के लिए स्वाद मिल जाता है। परन्तु इसमें इस बच्ची का अपराध क्या है? आजकल प्रत्येक व्यक्ति स्वाद के पीछे भागता है। 'जो पट्टी सो स्वादा पट्टी' पजाबी मे कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वाद चाहिये, शरीर का भला हो या बुरा इसकी कोई चिन्ता नही। अरे भाई! अपने शरीर की आवश्यकता को देखो; जिह्वा के स्वाद को नही। यह तुम्हे उल्टे रास्ते पर ले जायेगी, इसका परिणाम बुरा होगा। स्वाद जिह्वा लेगी, परिणाम तुम्हें भुगतना पडेगा।

भोजन के पश्चात् मैने निद्रा की चर्चा की। भगवान् ने यह ऐसी वस्तु बनाई है जिससे अधिक मूल्यवान् कोई वस्तु नही। दिन-भर की थकावट इससे दूर हो जाती है। चिन्ताएँ समाप्त हो जाती है, कष्ट और क्लेश सो जाते है। परन्तु यह सब-कुछ होता है तब, जब नींद वस्तुतः नीद हो। ठीक निद्रा वह है जिसे गहरी नीद कहते है, सुषुप्ति कहते है। नीद आ जाये और मन जागता रहे तो यह वास्तविक नीद नही। यह मन बड़ा कारीगर है। बिना सीमेण्ट के, बिना मिट्टी के, बिना पत्थर के यह अद्भुत मकान बनाता है, महल बनाता है। बिना लोहे के रेल-गाड़ियाँ बना देता है, बिना पैट्रोल के हवाई जहाज बना देता है और

फिर दुर्घटनाएँ भी कर देता है। एक दिन मैं सोया हुआ था लाहौर में, आर्यसमाज अनारकली की सबसे ऊपरवाली छत पर। तभी स्वप्न आने लगा, देखा कि मैं कलकत्ते मे हूँ, एक सडक पर जहाँ मोटरें भागी जाती हैं, बसे भागी जाती है। मै सडक के इस ओर था। दूसरी ओर एक मित्र श्री गुप्ता जी को देखा। उन्हे आवाज़ दी—"गुप्ता जी ! तनिक ठहरिये। मुझे आपसे बात करनी है।" गुप्ता जी बोले—"खुशहालचन्द ! तुम कहाँ हो ? कब आये हो ? परन्तु सँभलकर इस ओर आना, मोटरे और बसे बहुत है।" मैंने सडक को पार करना शुरू किया तो मोटरों का ध्यान नही रक्खा। एक मोटर दौडती हुई मेरे ऊपर से निकल गई। मेरी टॉग टूट गई। घबराकर मैने आँख खोली तो वहाँ न कलकत्ता था, न सडक थी, न मोटर, न गुप्ता जी, टॉग भी अच्छी-भली थी। यह सब मन का खेल था, वह अपनी दुनिया बनाये बैठा था। यह नीद नहीं है। निद्रा वह है जिसमे मन भी सो जाये, कोई स्वप्न नही आये। जब शरीर सो जाये, मन भी सो जाये, तब भी दो वस्तुएँ जागती रहती है—एक यह प्राण जिससे अधिक अनमोल नौकर कोई हो नही सकता। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—पॉच प्रकार का यह प्राण है और ऐसा नौकर है कि बिना किसी वेतन के, बिना किसी छुट्टी के रात-दिन काम करता है। शुक्र यह है कि इस नौकर की कोई लेबर-यूनियन नही। यदि यह भी लेबर-यूनियन में सम्मिलित हो जाय और निर्णय करे कि चौबीस घण्टे में कम-से-कम दो घण्टे उसे छुट्टी मिलनी चाहिये तो इन दो घण्टो में प्रत्येक व्यक्ति का 'ओम् तत् सत्' हो जायेगा। परन्तु जैसाकि मैंने कहा, भगवान् ने यह अनमोल नौकर दिया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह कभी छुट्टी नही माँगता। परन्तु गहरी नींद मे, वास्तविक नींद मे प्राण के अतिरिक्त एक और वस्तु भी जागती रहती है। शरीर सो गया, मन सो गया, गहरी निद्रा मे सो गया व्यक्ति, तो उसकी थकावट नीद के रास्ते पता नही कहाँ चली जाती है। चित्त भी सो जाता है, कोई होश नही रहता, चिन्ताएँ कही दूर चली जाती है, कष्ट और क्लेश समाप्त हो जाते है। इस गहरी निद्रा से व्यक्ति जागता है तो कहता है - "आज बहुत आनन्द आया।" क्यों भाई ! सब-कुछ

तो सो गया, मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ, सब-कुछ, फिर यह श्रानन्द किसको श्राया ? जिसको श्रानन्द श्राया वह है श्रात्मा जो शरीर, मन, बुद्धि, चित्त सबके सो जाने पर परमात्मा के साथ जुड जाता है । उस परमानन्द की सगति में ऐसे श्रानन्द को प्राप्त करता है जिससे बडा दूसरा कोई श्रानन्द नही । शरीर का बन्धन उस समय ढीला हो जाता है, प्रकृति थोडा परे हट जाती है, श्रात्मा परमात्मा में मग्न हो जाता है। परमात्मा श्रानन्द का भण्डार है, इसलिए श्रात्मा को यह श्रानन्द मिलता है । गहरी निद्रा में भी प्राण के साथ-साथ श्रात्मा जागता रहता है ।

येह निद्रा एक अनमोल रत्न है जिसे भगवान् ने मनुष्य को दिया। क्रियात्मक रूप मे यह एक नमूना है, उस श्रवस्था का जो मुक्तात्मा को प्राप्त होती है श्रौर जिसमें वह करोड़ों शताब्दियों तक भगवान् के उस रूप में मग्न रहता है जो परम-श्रानन्द है जिससे अधिक सुन्दर, अधिक शान्ति देनेवाला, अधिक सुख देनेवाला, अधिक श्रानन्द देनेवाला श्रौर कुछ भी इस ससार में है नहीं । अच्छा दुकानदार जैसे अपनी दुकान के बाहर कपड़े के नमूने लटका देता है, वैसे ही भगवान् ने भी मनुष्य को समझाने के लिए मुक्ति का यह नमूना इसके लिए रक्खा है । मुक्ति करोड़ो शताब्दियों के लिए है । जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है अनन्त समय के लिए है, निद्रा केवल थोडी देर के लिए है। नमूना है न, श्रादर्श (नमूना) यथार्थ से सदा छोटा होता है। परन्तु हमने इस निद्रा को खराब करना शुरू कर दिया है ।

अंग्रेज चला गया परन्तु पीछे कई ऐसी वस्तुएँ छोड़ गया जो हमारा पीछा नहीं छोड़ती । एक तो छोड गया है अंग्रेजी जो हमारे गले से नीचे नही उतरती । ठीक प्रकार हम बोलते नही परन्तु बोलते है अवश्य । दूसरी वस्तु छोड गया है मम्मी-डैडी । किसी घर मे चले जाश्रो, बच्चे अपने माता-पिना को माता-पिता नही, मम्मी-डैडी कहते है । मै कई परिवारो मे जाता हूँ । बच्चो को कहता हूँ—"अरे भाई ! यह डैडी-मैडी क्या हुआ ? पिताजी क्यों नहीं कहते ?" वे कहते है—"पिताजी जिह्वा पर नही चढ़ता ।" अब बताश्रो मै क्या करूँ ? उनके जिह्वा-रूपी घोडे पर डैडी तो चढ़ता है, पिताजी चढता ही नहीं । श्रौर यह मम्मी, मम्मी, मम्मी । कई तो मम्मी को मामी कहते है । रिश्ता ही

बदल देते हैं क्योंकि मामी तो मामा की पत्नी को कहते है। यह डैडी-मम्मी भी अंग्रेज़ छोड़ गया है। इनके अतिरिक्त एक और बात छोड़ गया है--देर से सोना, देर से जागना। स्वयं उसका नियम था—

Eaıly to bed and early to rise,
Makes a man healthy, wealthy and wise.

हमारे लिए छोड गया है—

Late to bed and late to rise.

किसी को कहो—"भाई! प्रात: जल्दी उठा करो।" तो वह कहता है—"उठें कैसे? रात को देर से सोना मिलता है।" और देर से सोना न मिले तो हो क्या? राज्य ने दुकानो का समय निश्चित कर दिया आठ बजे या साढे सात बजे। ये दुकानो को बन्द करके इन्कम-टैक्स और सेल्स-टैक्स के रजिस्टर तैयार करते रहते हैं। अरे बाबा! यह सब-कुछ करना है तो दिन के समय करो। तुम दुकान पर बैठे रहते हो, घर पर पत्नी प्रतीक्षा करती रहती है। बच्चे डैडी का रास्ता देखते-देखते सो जाते है। अन्ततः ऐसे काम का लाभ क्या है जिससे शरीर ही नष्ट हो जाये?

वेद भगवान् मे उषाकाल की बड़ी महिमा गाई गई है। यह कहा है कि उषा जब आती है तो चार वस्तुएँ अपने साथ लेकर—बुद्धि, बल, धन और यश। जो लोग उस समय जाग रहे होते है उन्हें दे जाती है, शेष लोग सोये-के-सोये रह जाते है। भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध में लिखा है कि वे सूर्य निकलने से पहले जागते थे, स्नान करते थे, गायत्री का जाप करते थे, हवन करते थे, तब ब्राह्मणों से वेद-पाठ सुनते थे। अब देखो, आप यदि श्रीकृष्ण भगवान् को मानते हो तो आपका भगवान् तो सूर्योदय होने से दो घडी पहले जागता था। आप सूर्य निकलने से दो घडी पश्चात् जागते हो। यह बात बनेगी कैसे?

यह प्रीत करन की रीति नहीं,
रब जागत है तू सोवत है।

मनुष्य को सोना चाहिये कम-से-कम छ: और अधिक-से-अधिक आठ घण्टे। परन्तु पिछले दिन एक सज्जन मिले; बोले—"मै तो कम-

से-कम बारह घण्टे सोता हूँ।" मैने आश्चर्य से कहा—"कैसे सोते हो मेरे कुम्भकर्ण ! हमें भी कोई मार्ग बताओ।" परन्तु मार्ग है नही। वास्तव में जो लोग आठ घण्टे से अधिक सोते है वे सोते नही, सुस्ती और आलस्य के कारण पड़े रहते हैं। और 'शतपथ ब्राह्मण' ने आलस्य को जीवन की मृत्यु कहा है। आलसी व्यक्ति जीते-जी मर जाते है।

महर्षि दयानन्द जब लाहौर में अन्तिम बार आये तो एक अन्तिम व्याख्यान उन्होंने दिया। उनके पश्चात् लाहौर में उनका कोई व्याख्यान नही हुआ। लाहौर से वे राजस्थान चले गये जहाँ उनको विष दे दिया गया। उस अन्तिम व्याख्यान मे उन्होंने कहा—"नौ वर्ष पूर्व मैने शहरों में भ्रमण शुरू किया तो देखता था कि अंग्रेज़ स्त्री और पुरुष प्रात: सूर्योदय से पूर्व सड़कों पर भ्रमण कर रहे है। अब नौ वर्ष पश्चात् देखता हूँ तो प्रात सूर्योदय से पूर्व कोई भी अंग्रेज दृष्टिगोचर नही होता। इससे मै इस परिणाम पर पहुँचा कि अंग्रेज़ों की अवनति का समय अब निकट आ गया है।" और आपने देखा, वस्तुत' यह अवनति हुई।

प्रात: उठने का अभ्यास डालो भाई ! रात को जल्दी सोने का स्वभाव बनाओ। इससे तुम्हारा शरीर स्वच्छ रहेगा। परन्तु आजकल शरीर की चिन्ता करता कौन है ? सब पर धन कमाने का भूत सवार है। धन कमाओ अवश्य, परन्तु समय-बे-समय का तो ध्यान रक्खो ! यह धन कमाना क्या हुआ कि भूख लगे तो रोक दो, प्यास लगे तो रोक दो, लघुशका आये तो रोक दो, नींद आये तो रोक दो, बस धन कमाने की चिन्ता करते रहो ? अरे बाबा ! यह शरीर नही रहेगा तो धन किस काम आयेगा ? सारा धन देकर भी इस शरीर को फिर तो प्राप्त नही कर सकोगे।

बम्बई में एक बहुत धनी सेठजी रहते थे। उन्होंने एक बार पत्रो मे विज्ञापन दिया कि 'मुझे नीद नही आती। विभिन्न प्रकार की दवाइयाँ खाता हूँ तो उनके नशे के कारण अचेत पडा रहता हूँ। बिना औषध मैं सो नहीं सकता। यदि कोई सज्जन मुझे औषध के बिना सुला दे, औषध के बिना मुझे नींद आ जाये तो मै एक लाख रुपये दूँगा।'

उन दिनों सेठ शूरजी वल्लभदास जी जीवित थे। मै उनके घर

ठहरा था। ये सेठ साहब एक दिन वहाँ आ गये। सेठ शूरजी वल्लभदास ने इनसे मेरा परिचय कराया कि ये वे सेठजी हैं जिन्होंने विज्ञापन दिया है कि जो कोई इन्हे बिना औषध के सुला देगा, उसे ये एक लाख रुपया देंगे। मैने उन सेठ साहब को देखा—पीला चेहरा, सूखे ओष्ठ, रुग्ण-सी आँखे। सचमुच उन्हे नींद नही आती थी। नीद न आने के कारण भूख नही लगती थी। मैने पूछा—"सेठजी ! निद्रा तो प्रत्येक व्यक्ति को आती है, आपकी नीद चली कैसे गई ?" तब उन्होंने अपनी कहानी सुनाई; बताया कि वे बहुत निर्धन थे। एक सेठ के पास नौकर हुए। उसके मुनीम बने, उसका बही-खाता, उसका हिसाब रखते थे। उन्होंने कहा—"बहुत परिश्रम से मैं अपना काम करता था। रात्रि के बारह बज जाते, एक-एक बज जाता, मैं पाई-पाई का हिसाब जोडता रहता। जब तक हिसाब ठीक न होता, सोता नही था। नीद आती थी तो आँखों पर पानी के छींटे दे-देकर उसे दूर करता था। मेरे इस कार्य से और परिश्रम से सेठजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने मेरा वेतन बढा दिया। कुछ समय पश्चात् मुझे व्यापार में भागीदार भी बना लिया। तब वह समय भी आया जब मैंने अपना व्यापार आरम्भ कर दिया। पूरे परिश्रम से रात्रिभर जाग-जागकर, निद्रा से लड-लड़कर काम करता रहा। अब मैं करोडपति हूँ। कई करोड रुपया मेरे पास है परन्तु निद्रा नहीं आती।" मैने कहा, "अरे बाबा ! जब आती थी तब तुम उसका अपमान करते रहे। जिसका बार-बार अपमान करोगे वह तुम्हारे पास आयेगा क्यों ?"

ये माताएँ बैठी है। रसोईघर में बैठकर खाना बनाती है। एक कुत्ता आता है। उसे झिडककर बाहर भगा देती है। वह फिर आता है। ये अधिक ज़ोर से डाँटकर कहती हैं—"भाग यहाँ से !" वह फिर आता है, ये जलती हुई लकडी लेकर उसके ऊपर दे मारती हैं। कुत्ता चीखता हुआ भाग जाता है, फिर नही आता।

अरे भाई ! कुत्ता भी वहाँ नहीं आता जहाँ उसका अपमान होता है, निद्रा कैसे आयेगी ? जब निद्रा आती थी, तब तुमने उसका अपमान किया, रुपये कमाने में लगे रहे। अब रुपया है तो उसे लिपटा के रखो। नींद को तुमने जलती लकडी मारके भगा दिया, अब वह आयेगी

कैसे? रुपये से तुम कैमिस्ट की दुकान खरीद सकते हो, निद्रा नहीं खरीद सकते। यह तो भगवान् का दिया हुआ अनमोल रत्न है, कैमिस्टों और दवा-विक्रेताओं के यहाँ मिलता नहीं। नींद जब आती है तो अपनी गोद में सुलाकर थकावट को दूर करती है। नींद तब आती है जब उसके पास अकेले जाओ, अपनी चिन्ताएँ लेकर नहीं। उसकी गोद में आपके लिए तो स्थान है, चिन्ताओं की भीड के लिए नहीं। वह कहती है मेरे बच्चे, मेरे पास आना है तो अकेले आओ, चिन्ताओं को साथ लेकर नहीं।

एक दिन मैं सन्ताक्रुज में ऐसी ही बात कह रहा था तो एक सज्जन बोले—"स्वामी जी ! आप हो गये हो साधु, आपको कोई चिन्ता है नहीं। परन्तु हम तो गृहस्थी हैं, हम चिन्ताओं को कैसे छोड़ सकते हैं? मुझे देखिये। रुपया मेरे पास बहुत है, व्यापार ठीक चलता है। परन्तु मेरा एक लड़का है, उसे पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया। वह अब फ़िल्म में जाना चाहता है। उसकी चिन्ता मुझे सोने नहीं देती। ऐसी कई चिन्ताएँ हैं, उन्हें छोड़ा कैसे जा सकता है?" मैंने कहा—"रात्रि को जब सोने का समय हो तो चिन्ताओ को कोठी से बाहर निकाल दो। उन्हें बोलो कि तुम कोठी से बाहर प्रतीक्षा करो, प्रातः तुमसे फिर भेंट करेंगे। तब नींद आ जायेगी।" परन्तु उन्हें शायद मेरी बात समझ में नहीं आई। निद्रा के महत्त्व को उन्होंने समझा नहीं। यह नहीं देखा कि नींद ऐसी वर्कशॉप है जिसमें पहुँचकर शरीर की यह बैटरी फिर चार्ज हो जाती है, इसके सभी अग ठीक हो जाते है; मनुष्य तरोताज़ा होकर उठता है, मोटर फिर चलने लगती है।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जिस प्रकार उचित एव सन्तुलित भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार उचित निद्रा भी आवश्यक है। तीसरी वस्तु है ब्रह्मचर्य। हम जो-कुछ खाते हैं वह पेट में जाता है। वहाँ एक बहुत बड़ी भट्टी लगी है। जठराग्नि वहाँ जल रही है। उसके ऊपर मेदे-रूपी पतीले में यह खाया हुआ खाना पकता है तो उससे एक रस तैयार होता है। रस फिर भट्टी पर चढता है तो उससे खून बनता है। रक्त भट्टी पर चढता है तो उससे मास बनता है, तब मेद (चर्बी) बनता है, उसके पश्चात् हड्डियाँ बनती है, उसके पश्चात् वीर्य बनता है। सबसे अन्त में ओज बनता है—वह तेज जो स्वस्थ व्यक्ति के चेहरे

पर, उसकी आँखों में, उसके शरीर के प्रत्येक भाग में चमकता हुआ दिखाई देता है। यह वीर्य एक बहुमूल्य इत्र है। इसे सँभालकर रक्खो, इससे आँखें बनती हैं, मस्तिष्क बनता है, दिल बनता है, हाथों में काम करने की, पाँवों में चलने की शक्ति बनती है। इससे मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है।

भीष्म पितामह शरशय्या पर लेटे थे। अंग-अग में तीर लगे थे। आदमी एक तीर से मर जाता है, उन्होंने तीरों से छलनी होने के बाद भी कहा—जब तक सूर्य उत्तरायण में नहीं आयेगा, तब तक मै मरूँगा नही। यह है मृत्यु पर विजय पाना! भीष्म पितामह पूर्ण ब्रह्मचारी थे इसलिए उन्होंने मृत्यु को भी आदेश दिया—"परे रहो मुझसे! कब मरना है इसका निर्णय मैं करूँगा।"

ब्रह्मचर्य की इस महाशक्ति के सम्बन्ध में मैंने संकेत कर दिया, सँभालकर रक्खो।

ये है शरीर के तीन स्तम्भ—भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य।

परन्तु शरीर तो बन गया, इसके पश्चात् क्या करना है? शरीर अन्ततः शरीर है; रोगी भी होता है। उसे बीमारी से बचाने के लिए हर समय प्रयत्न होना चाहिए। हमारे शास्त्र कहते हैं—

पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्।

जो व्यक्ति पथ्य से खाता है, जो व्यायाम करता है और जिसने स्त्रियों के सम्बन्ध में अपने-आपको जीत लिया है वह व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता है।

पथ्य से खाने का तात्पर्य क्या है? आप रोगी हैं। डॉक्टर या वैद्य के पास जाते हैं तो वह आपको ओषधि देता है और कहता है, "देखो भाई! माष की दाल मत खाना; भिण्डी नही खाना; चाट, इमली, चटनी, अचार, कीचड़वाले चने नहीं खाना।" आप आये घर पर। थोड़ी देर पश्चात् एक चने बेचनेवाला आ गया। बहुत अच्छे कीचड़-वाले चने वह बनाता है। आपको कहता है—"थोड़े-से खाकर देखिये, आज बहुत परिश्रम से बनाकर लाया हूँ।" आप पहले कहते है—"वैद्यजी ने मना किया है।" फिर लालच में आ जाते है, थोड़े-से चने खाते हैं, जिह्वा को स्वाद आता है तो और खाते है, तब और खाते हैं,

ऐसी अवस्था में दवा क्या करेगी ?

एक थे सेठजी। उन्हें खाँसी बहुत रहती थी। कई चिकित्साएँ की, कई दवाएँ कीं परन्तु खाँसी जाती नही थी। जाती भी कैसे ? सेठजी का स्वभाव था खट्टी वस्तुएँ खाना। खट्टा दही, खट्टी लस्सी, अनार-दाने की चटनी, राई का अचार, इमली की चाट और ऐसी ही कई वस्तुएँ वे खाते थे। खाँसी समाप्त कैसे होती ? एक वैद्यजी उनके पास आये; बोले—"मैं आपकी चिकित्सा करता हूँ।" सेठजी बोले—"परन्तु मैं खट्टी वस्तुएँ खाना बन्द नही करूँगा।" वैद्यजी बोले—"खूब खाइये, मै आपको रोकता नही।" वैद्यजी ने सेठ साहब को चन्द्रा-मृत का रस दिया और कहा—"प्रातः, दोपहर और शाम एक-एक रत्ती शहद के साथ खाइये।" कुछ दिनों के पश्चात् वैद्यजी वापस आये तो सेठ ने कहा—"आपकी औषध ने तो कमाल कर दिया ! खाँसी कम नही हुई परन्तु बढी भी नही।"

वैद्यजी बोले—"खाँसी की चिन्ता क्यों करते हो ? यह तो बहुत लाभदायक वस्तु है। यह हो तो घर में चोरी नहीं होती, आदमी को कुत्ता नही काटता और वह कभी बूढा नही होता।" सेठजी ने कहा—"यह तो आपने बहुत अच्छी बात कही परन्तु तनिक समझाकर कहिये।" वैद्यजी बोले—"देखो सेठजी ! मनुष्य को खाँसी हो, खट्टी वस्तुएँ वह खाता रहे, तो रात-भर खाँसेगा। स्वयं भी जागेगा, घरवालों को भी जगाये रक्खेगा। ऐसे घर में चोर आयेगा कैसे ? और खाँसते-खाँसते शरीर हो जायेगा निर्बल, पाँव काँपने लगेंगे, लाठी के बिना चला नहीं जायेगा। जिसके हाथ में हर समय लाठी होगी उसे कुत्ता काटेगा कैसे ? और फिर खाँसी से फेफड़े हो जायेंगे दुर्बल, शरीर हो जाएगा सूखकर काँटा। मनुष्य यौवन में ही मर जायेगा, बुढ़ापा उसके लिए आयेगा कैसे ? खाँसी तो बहुत लाभदायक है।" सेठजी की आँखें खुल गईं।

इसीलिए कहा है कि पथ्यपूर्वक खाओ—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

गीता ६ । १७ ॥

उचित खाओ, उचित व्यवहार करो और उचित कर्म करो। इस मर्यादा से बाहर जाओगे तो कष्ट होगा, रोग आयेंगे।

परन्तु शरीर की बात अधिक नहीं कहता। आजकल तो संसार में शरीर-युग ही चल रहा है। प्रत्येक बात शरीर के लिए होती है। अन्न इसके लिए उत्पन्न होता है, ट्रैक्टर इसके लिए बनते हैं, हारवैस्टर इसके लिए बनते हैं, खेती-बाड़ी और सिंचाई की योजनाएँ इसके लिए बनती हैं। कपड़े की मिलें इसके लिए हैं, मोटरें इसके लिए, वायुयान इसके लिए; रेलगाड़ियाँ, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमाघर सब इसके लिए हैं, सब फ़ैक्ट्रियाँ इसके लिए हैं। केवल शरीर की पालना हो रही है। आज विरोचन-बुद्धि के इस युग में शरीर ही सबके लिए अन्तिम लक्ष्य बन गया है।

जी ओ बेटा जी ! तू ही पुत्तर तू ही धी।

सब लोग इसके पीछे लगे हैं। अतः अब इसके सम्बन्ध में अधिक नहीं कहता।

परन्तु भाई ! यह शरीर तो पशुओं का भी होता है, यह यदि बलवान् बन गया तो क्या हुआ ? मनुष्य यदि शरीर के पालन-पोषण और उसे शक्तिशाली बनाने से आगे न बढ़ा तो उसमें और पशु में अन्तर क्या हुआ ? मनुष्य और पशु में अन्तर है बुद्धि का। मनुष्य में बुद्धि है, सोचने और समझने की शक्ति है। इस बुद्धि के कारण ही मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा पशु है। 'निरुक्त' ने मनुष्य की परिभाषा देते हुए कहा—मनुष्य वह है जो मनन करता है, सोचता है, विचार करता है। महर्षि दयानन्द ने भी 'सत्यार्थप्रकाश' में कहा—"मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् दूसरों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझे।" मननशील हो, सोचे-विचारे, भला-बुरा देखने के पश्चात् कर्म करे। परन्तु कैसा कर्म करे ? ऐसा कि उससे किसी को दुःख न हो। जिस प्रकार वह अपने सुख-दुःख को समझता है वैसे ही दूसरों के सुख-दुःख को समझे। यही बात 'निरुक्त' ने भी कही—

मत्वा कर्माणि सीव्यति।

जो सोच-समझकर, बुद्धि से कर्म करता है वह मनुष्य है।

महर्षि दयानन्द ने भी कहा—मनुष्य-जन्म सत्य और असत्य का निर्णय करके सत्य के ग्रहण करने के लिए है, केवल वाद-विवाद और झगड़े करने के लिए नहीं। और एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा—

जो संसार के उपकार को अपना उद्देश्य बनाता है वही मनुष्य है।

परन्तु यह सोचना-विचारना, भले-बुरे का विवेक, दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दु.ख समझना बुद्धि के बिना तो होता नहीं। इसी-लिए वेद भगवान् ने कहा—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥

यजु० ३२ । १४ ॥

हे ईश्वर ! हे परमात्मन् ! जिस मेधा की देव और पितर प्रशंसा करते हैं, जिसकी उन्हें भी इच्छा है, हे प्रभो ! तू उस बुद्धि से मुझे युक्त कर दे। परन्तु कब कर दे ? कल, परसों या एक-दो वर्ष पश्चात् ? नहीं; अद्य, आज ही बना दे। हाईकोर्टवालों की भाँति तीन मास की तारीख नहीं डाली। इस श्रेष्ठ बुद्धि के बिना एक दिन भी पाप और अनाचार की ओर ले जाता है, अतः आज ही दे यह श्रेष्ठ बुद्धि।

अथर्ववेद के छठे काण्ड में भी प्रार्थना आती है—

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।

हे स्वामिन् ! मुझे सायंकाल मेधा दे, प्रातः मेधा दे, दिन-भर मेधा दे, आज ही दे। और यह गुरु-मन्त्र, गायत्री-मन्त्र, इसका महत्त्व क्या है ? यह कि इसमे बुद्धि के लिए प्रार्थना की गई है—

धियो यो नः प्रचोदयात् ।

हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ! अपनी ओर ले चल मेरी माँ ! मैंने तेरा सहारा पकड़ लिया है, अब मुझे अपने पथ पर ले चल। जिधर चाहती है उधर मेरी बुद्धि को चलने की प्रेरणा कर।

देखो ! इस मन्त्र में, जिसे गुरुमन्त्र और महामन्त्र कहते हैं, भगवान् से हाथी, घोड़े, राज्य, शासन, प्रधानमन्त्री का पद, राष्ट्रपति का पद, डिप्टी कमिश्नरी, तहसीलदारी, नम्बरदारी, चौकीदारी नहीं माँगी, केवल बुद्धि माँगी है, बुद्धि के लिए भगवान् की प्रेरणा माँगी है। यही इसकी विशेषता है, क्योंकि भगवान् से माँगने की वास्तविक वस्तु यही है।

महर्षि दयानन्द कहते हैं—भगवान् से माँगना है तो जन्म से लेकर मुक्ति तक जो कुछ भी माँगोगे वह मिलेगा। वह सब-कुछ देनेवाला

है, सब-कुछ दे सकता है; परन्तु सबसे पूर्व बुद्धि माँगो, यह मिल जाये तो सब-कुछ मिल जाता है।

सामवेद का एक मन्त्र है—

जज्ञानः सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।

साम० १०१ ॥

प्रकट हो जाता है वह परमात्मा जब मनुष्य सात मञ्जिलों (पडावों) को पार कर वहाँ पहुँचता है। ये सात पड़ाव क्या हैं? यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा—ये छह मंजिले है। सातवीं मंज़िल है ध्यान। इस ध्यान की मंज़िल मे पहुँचकर मनुष्य ईश्वर को देखता है—

तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

मुण्डक ३ । १ । ८ ॥

ध्यान में पहुँचा हुआ व्यक्ति उस परम पुरुष परमेश्वर को देखता है। वहाँ यह ईश्वर प्रकट होता है। इससे पहले दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह बाहर की आँखों से देखने की वस्तु नही, इनसे कभी दिखाई नही देता।

अच्छा प्रकट हो गया परमात्मा, दर्शन हो गया उसका, तब क्या करो?

मैने प्रार्थना-पत्र भेज दिया प्रधानमन्त्री जवाहरलाल जी नेहरू को मिलने के लिए।

(यह कथा उन दिनो मे हुई जब पण्डित जवाहर लाल विद्यमान थे और प्रधानमन्त्री थे।)

प्रार्थना-पत्र भेजा उनके सचिव के पास। उसने नेहरू जी से पूछकर मुझे लिखा—अमुक दिन, अमुक समय पर आओ, नेहरू जी आपको मिलेंगे। मैं पहुँच गया उनकी कोठी पर। थोड़ी देर प्रतीक्षा के पश्चात् नेहरू जी आ गये। अब वे सामने बैठे है, मैं सामने बैठा हूँ। वे पूछते हैं, बताइये मैं आपके लिए क्या करूँ? और मैं कहूँ कि 'नेहरू जी! मुझे छः आने के रसगुल्ले मँगवा दो।' तो नेहरू जी इसके अतिरिक्त और क्या सोचेंगे कि यह व्यक्ति एक-दो दिन पहले किसी पागलखाने में होगा, किसी ने भूल से छोड़ दिया है; इसके मस्तिष्क में अब भी

कुछ-न-कुछ खराबी अवश्य है कि भारत के प्रधानमन्त्री के पास आकर भी छः आने के रसगुल्ले माँग रहा है। प्रधानमन्त्री सामने हो, माँगने के लिए कहे तो उससे कोई बड़ी वस्तु माँगनी चाहिये। यह कि गो-हत्या बन्द करा दीजिये। यह कि पंजाब की भाषा-समस्या हल कर दीजिये। यह कि अंग्रेजी को देश-निकाला दे दीजिये। छः आने के रसगुल्ले माँगना तो ठीक नहीं है। और वह परमपिता सामने हो, यदि वह कहे—माँग क्या माँगता है ? तो क्या माँगना चाहिये ?

आजकल का कोई नौजवान हो तो शायद माँगे—ईश्वर जी ! मुझे यह दो कि पेपर लिखूँ नहीं और पास हो जाऊँ। कोई लड़की हो तो शायद माँगे—प्रभु जी ! मुझे दो ट्रंक भरकर लिपस्टिक भेज दो, दो ट्रंक जम्पर भेज दो और वह क्या होता है नील कि नेल, हाँ, नेल-पॉलिश भेज दो।

मैं इन लड़कियों की बात नहीं कहता जो यहाँ बैठी हैं, ये तो बहुत अच्छी हैं। मैं तो उन लड़कियों की बात कहता हूँ जो क्लबों में जाती है और इस समय सिनेमा में बैठी हैं। ऐसी लड़कियाँ ये जम्पर, लिप-स्टिक और नेलपॉलिश ही तो माँगेंगी !

परन्तु ये भगवान् से माँगने की वस्तुएँ नही है। भगवान् से माँगना है तो सामवेद कहता है—

मेधामाशासत श्रिये।

मेधा को उससे माँग, यह है माँगने की वस्तु।

और गीता में भगवान् कृष्ण ने भी तो कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

गीता १० । १० ॥

और जो लोग पूरे प्यार के साथ, निरन्तर योग के मार्ग पर चलते हुए, मेरे साथ मिलकर मेरा भजन करते हैं, उन्हें—

ददामि बुद्धियोगं तम्।

गीता १० । १० ॥

उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूँ। अच्छी बुद्धि देता हूँ। उनको गीता ने राजयोग नहीं कहा, पुत्रयोग नहीं कहा, धनयोग नहीं कहा, बुद्धियोग कहा। लोकमान्य तिलक ने भी गायत्री-मन्त्र के सम्बन्ध में लिखते हुए

कहा—भगवान् से माँगना है तो बुद्धि माँग, इसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु मत माँग।

अच्छा भाई ! माँग ली बुद्धि, मिल भी गई परन्तु कभी-कभी यह बिगड़ भी जाती है। बिगड़ जाये तो बुराइयाँ करती है। और बिगड़ती कैसे है ? सबसे प्रथम बुरी संगत से। कई बच्चों के माता-पिता अच्छे होते है परन्तु बच्चे बुरे होते हैं; बुरी संगत में पड़ते है तो बिगड़ जाते हैं। यह संगत का दोष है। फिर यह बुद्धि बिगड़ती है वहम से, भ्रम से; नाना प्रकार की ग़लत बातें सुनने और मान लेने से। बच्चा घर में बड़ा होता है। घर के लोग, बाहर के लोग भाँति-भाँति की भ्रमात्मक बातें कहते हैं। ये बातें उसके मन मे बैठ जाती है, भ्रम बढ़ता है और बुद्धि बिगड़ जाती है। इसकी एक कथा सुनाता हूँ।

यहाँ की नही, यूरोप की बात है। दर्पण शायद उस समय बहुत प्रचलित नही हुआ था। एक सज्जन अपने दफ्तर से आ रहे थे तो मार्ग में शीशे का एक टुकड़ा मिला। उसे उठाया, देखा, अपनी ही आकृति दिखाई दी—'यह मेरे पिताजी की यौवन-अवस्था की फोटो है।' वे अपने मन-ही-मन में बोले—'यह तो बहुत अच्छा हुआ, पिताजी की कोई फोटो मेरे पास नहीं थी। यह मिल गई, इसे सँभालकर रक्खूंगा।' तो लो जी, उसे घर में ले आये। सँभालकर अपने ट्रंक में रख दी। प्रतिदिन दफ्तर जाने से पूर्व इस फ़ोटो को देखते। उसे नमस्कार, या गुडमॉनिंग या गुडबाय कहते। फिर उसे सँभालकर ट्रंक में रख देते और दफ्तर चले जाते। प्रतिदिन बहुत प्रेम से वह ऐसा ही करते थे। उनकी पत्नी ने देखा तो चकित होकर सोचने लगी—यह किसकी फ़ोटो मेरे पतिदेव प्रतिदिन देखते हैं ? चिन्ता पैदा हुई। एक पड़ोसिन से बात की तो उसने कहा—"मूर्खा ! उस फोटो को निकालकर तो देख। हो सकता है तेरा पति किसी अन्य स्त्री के जाल में फँस गया हो, उसकी फ़ोटो रक्खी हो, प्रतिदिन उसी को देखता हो !" पत्नी आई घर में। पति का ट्रंक खोला। वह शीशा निकाला तो उसे अपनी आकृति दिखाई पड़ी, एक सुन्दरी नवयुवती। इसके तन-बदन मे ईर्ष्या की अग्नि भड़क उठी। शीशे को देखती हुई बोली—"इस चुड़ैल को देखता है मेरा पति ! बड़ा भला मानुष बना फिरता था ! दो-दो घण्टे

ईसा से प्रार्थना भी करता था, बाइबिल भी पढ़ता था और करतूत यह है ! अच्छा आने दो घर । आज मैं उसे ऐसा पाठ पढाऊँगी कि उसे अपने पुरखा याद आ जाये ।" उसने शीशे को रख दिया ट्रंक में । मुँह फुलाकर बैठ गई ।

सायंकाल पति घर आया । पहले तो हँसकर उसका स्वागत करती थी, आज बोली भी नहीं । पति ने ये बदलते ढंग देखे तो बोला—"यह क्या हुआ तुझे ?" वह बोली—"चल-चल, बहुत भला मानुष बना फिरता था । आज सब पता चल गया मुझे । दूसरी स्त्री को चाहता है तो मुझे यहाँ क्यों रक्खा है ? मुझसे तेरा सम्बन्ध क्या है ?" वह घबराकर बोला—"अरे बाबा ! दूसरी स्त्री कौन-सी ? मैं किसी दूसरी स्त्री को जानता तक नहीं ।" वह गर्जकर बोली—"मुझे धोखा देने का प्रयत्न मत करो । मैने तेरा ट्रक देख लिया है । जिसे तू प्रति-दिन प्रात देखकर जाता है उसको देख लिया है । किस स्त्री का फोटो है वह ?" वह बोला—"मेरे ट्रंक मे ! स्त्री की फोटो ?" चल दिखा मुझे ।" ट्रंक खोला गया । शीशा निकालकर पत्नी ने कहा—"बता, यह स्त्री कौन है ?"

पति ने शीशे को देखा; बोला—"ये तो मेरे पिताजी हैं, ले देख ।" पत्नी ने देखा; बोली—"यह स्त्री तेरे पिताजी है ? मुझे उल्लू बनाता है ?" अब वह देखता है तो कहता है पिताजी हैं, वह देखती है तो कहती है यह स्त्री है । दोनों झगड़ पड़े । दोनों ने मुँह फुला लिये । घर में जैसे मातम छा गया । इधर वह रूठा बैठा है, उधर यह रूठी बैठी है । इतने में आये पादरी जी; बोले—"क्या हुआ तुमको ?" पत्नी बोली—"इसकी करतूत देखो, बहुत बना फिरता है आपका चेला । ट्रक मे पता नही किस स्त्री की फ़ोटो रक्खी है, प्रतिदिन उसे देखता है ।" पति बोला—"यह झूठ कहती है । इसका मस्तिष्क विकृत हो गया है । वह तो मेरे पिताजी की फोटो है ।" पादरी ने कहा—"अच्छा लाओ, मुझे दिखाओ !" पादरी ने देखा तो कहा—"अरे ! यह तो हमारे पादरी साहब है । मै इस फ़ोटो को साथ लिये जाता हूँ, अपने घर मे लगाऊँगा ।"

यह है भ्रम से बुद्धि बिगड़ने की बात !

एक दानी और धार्मिक सज्जन थे। उन्होने अपना नियम बना रक्खा था कि प्रतिदिन तीन साधुओं को भोजन कराने के पश्चात् स्वयं भोजन करते थे। एक दिन बहुत खोजने पर भी कोई साधु न मिला। दोपहर हो गई। दीपावली का दिन निकट था। हलवाइयों ने अपनी दुकानों पर नाना प्रकार की मिठाइयाँ और खाँड के खिलौने सजा रक्खे थे। ये सज्जन ऐसी ही एक दुकान के पास से निकले तो देखा कि हलवाई ने खाँड के साधु बाबे बना रक्खे है। उन्होंने सोचा, "दूसरे साधु तो मिले नही, खाँड के ये बाबे ही ले चलो। इन्हीं को भोग लगाकर खाना खा लेंगे।" तीन बाबे खरीदकर वह घर पर आये तो देखा कि घर के बाहर तीन असली साधु खड़े है। उसने उनका स्वागत करते हुए कहा—"धन्य है महाराज! आप आ गये, मैं तो प्रातःकाल से खोज रहा था। अन्दर चलकर भोजन करो।" घर में ले-जाकर उसने तीनों साधुओं को बैठाया। दूसरे कमरे में जाकर पत्नी से बोले—"मैं निराश होकर ये खाँड के साधु खरीद लाया था कि इन्हें भोग लगाकर अपना नियम पूरा कर लेगे परन्तु अब सचमुच के तीन साधु आ गये हैं। तुम उनके लिए भोजन तैयार करो, मैं बाजार से दही लेकर आता हूँ। अब खाँड के ये साधु अपने पास रख लो।"

वह बाजार चले गये; पत्नी खाना बनाने लगी। इतने में ही उनका पुत्र स्कूल से आया। उसने वे खाँड के खिलौने देखे तो पुकारकर बोला, "एक साधु तो मै खाऊँगा।" साथवाले कमरे मे बैठे साधुओ ने यह बात सुनी तो घबराये। इतने में उसकी माँ ने आवाज दी—"अरे बेटे! इतना उतावला क्यों होता है? अभी तेरे पिताजी आयेंगे। साधु तीन हैं—एक तुम खाना, एक तेरे पिताजी खायेंगे, एक मै खाऊँगी।" साधुओं ने यह बात सुनी तो उनके होश उड़ गये—"अरे! यहाँ कहाँ आकर फँस गये हम लोग? इस घर में रहनेवाले तो साधुओं को खाते हैं! मनुष्य नहीं राक्षस प्रतीत होते हैं।" एक साधु ने लघुशंका का बहाना किया और चुपके से घर से बाहर हो गया। दूसरे ने भी यही बहाना किया, तीसरे ने भी। तीनों ने अपने-अपने जूते उठाये और भागने लगे। सामने से वह सज्जन दही लेकर आ रहे थे। उन्होंने यह अवस्था देखी तो पत्नी से पूछा—"क्या हुआ?" वह बोली—"मुझे

तो पता नहीं, वे लघुशंका जाने की बात कह रहे थे, न जाने क्यों भाग रहे हैं !" वह सज्जन प्रातः से भूखे थे। साधुओं को भागता देखकर घबराये। उनके पीछे भागे; बोले—"अरे भाई ! कहाँ जाते हो ? हम लोग तो प्रातः से भूखे है।" साधुओं ने दौड़ते हुए कहा—"ये कम्बख्त हमसे अपनी भूख मिटायेंगे।"

(आर्यसमाज हनुमान रोड का सारा पण्डाल अट्टहास से गूँज उठा। स्वामीजी स्वय भी हँस रहे थे। हँसते हुए बोले —)

यह होता है भ्रम का प्रभाव ! अन्ततः वह सज्जन साधुओं के पास पहुँचे। उनकी बात सुनी। उन्हें खाँड के साधुओं की बात सुनाई तो साधुओ की जान-मे-जान आई। वापस आकर उन्होंने भोजन किया।

और फिर तीसरी वस्तु जिससे बुद्धि बिगड़ती है, वह है इन्द्रियों का वश मे न आना। गीता में भी तो लिखा है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

गीता २। ६१ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ वश मे हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है, सच्चे अर्थों में बुद्धि है ; और जिसकी इन्द्रियाँ वश में नही—नाक कहती है मेरी इच्छानुसार चलो, कान कहते हैं हमारी इच्छा के अनुसार चलो, आँखें कहती हैं हमारी बात सुनो, और यह चटोरी रानी—यह जिह्वा सबसे तेज़ है, कहती है, तूने नाक के लिए जौनपुर का इत्र मँगा दिया, कान के लिए फ़िल्मी गीतों का प्रबन्ध कर दिया, आँखों के लिए सिनेमा, थियेटर, नृत्य का प्रबन्ध कर दिया, मेरे लिए भी कुछ कर। पकड़ एक छुरी, काट मूक पक्षियों का गला, बना उनका कीमा, खिला मुझे कूर्मा, कोफ़्ते, कबाब। वह व्यक्ति कहता है—जिह्वा जी ! कैसे खिलाऊँ ? मेरी जेब मे तो पैसे नही। और जिह्वा कहती है कहीं से उधार माँगकर, कहीं चोरी करके, डाका डालकर मेरा स्वाद पूरा कर। जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती, जो उनका दास बन जाता है, उसकी बुद्धि बिगड़ती है, मस्तिष्क बिगड़ता है और सब-कुछ बिगड़ जाता है।

और चौथी वस्तु जिससे बुद्धि बिगड़ती है वह है जमाने की हवा। बच्चे घर में रहते हैं तो अच्छे-भले होते हैं। बचपन में अपने माता-

पिता के साथ सत्सग में भी आते हैं, परन्तु स्कूल या कॉलिज में पहुँचते ही जमाने की हवा लगती है, तब बिगड़ने लगते हैं—बुद्धि बिगड़ जाती है, शरीर बिगड़ जाता है, उल्टे मार्गों पर चलने लगते है।

महर्षि पुनर्वसु जा रहे थे एक मार्ग पर। उनका शिष्य अग्निवेश उनके साथ था। सहसा महर्षि खड़े हो गये; चिल्लाकर बोले—"अग्निवेश! अग्निवेश!" अग्निवेश ने पूछा—"क्यों महाराज! क्या हुआ?" महर्षि बोले—"अग्निवेश! मैं देखता हूँ कि सब-कुछ जल रहा है, वृक्ष जल रहे है, आकाश जल रहा है, पृथिवी जल रही है। सब-कुछ बिगड़ा जाता है। राजा और प्रजा, धनी और निर्धन, सब बिगड गये हैं, सब अधर्म के मार्ग पर चल पड़े है।" अग्निवेश ने पूछा—"परन्तु ऐसा हुआ क्यों?" पुनर्वसु बोले—"बुद्धि के बिगड़ जाने से। बुद्धि बिगड जाय तो सब-कुछ बिगड़ जाता है और अधर्म की हवा में बुद्धि बिगडती है।"

यह शरीर भी तो बुद्धि के बिगड़ने से बिगड़ता है। रोग आते क्यों हैं? क्या कभी खाँसी ने आपके पास प्रार्थना-पत्र भेजा है कि मैं सात दिन के लिए आ रही हूँ, अपने फेफड़े खाली रक्खो? क्या आपने कभी उसे आज्ञा दी है कि हाँ, आ जाओ? आयुर्वेद-शास्त्र बताता है कि बीमारी क्यो आती है? वह कहता है—

प्रज्ञाऽपराधो मूलं सर्वरोगानाम्।

बुद्धि बिगड़ जाए तो सब रोग आते है। सब रोगों का कारण बुद्धि का बिगड़ना है।

यह बुद्धि बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यही मनुष्य को पशु से पृथक करती है; अन्यथा मनुष्य और पशु में अन्तर क्या है? पशु के बुद्धि नही। वह केवल अपने लिए जीता है। मनुष्य में बुद्धि है। वह सोचता है, विचारता है। भले और बुरे में, पाप और पुण्य में विवेक करके आगे बढ़ता है। इक़बाल ने कहा था न—

ख़ुदा तो मिलता है इन्सान नहीं मिलता,
ये चीज वो है जो देखी नहीं कहीं मैंने॥

नही, मनुष्य मिलता है यदि उसकी बुद्धि ठीक है, और यह बुद्धि ठीक रहती है परिश्रम से, तप से। यह सरलता से ठीक होती नही—

मत सहल हमें जानो ! फिरता है फ़लक बरसों,
तब ख़ाक के पर्दे से इन्सान निकलते हैं।

मनुष्य बनने के लिए बुद्धि आवश्यक है। सरलता से मिलती नहीं, मिल जाये तो महान् वस्तु है यह। ठीक रहे तो मनुष्य को उन ऊँचाइयों पर ले जाती है जिनके समक्ष चन्द्रमा और नक्षत्रो की ऊँचाई भी कुछ नहीं; बिगड जाये तो ऐसे पाताल मे ले जाती है जहाँ पतन के अतिरिक्त कुछ नहीं। परन्तु बुद्धि ठीक कैसे रहती है ? यह प्रसग अब मैं आरम्भ करूँगा।

बुद्धि मानव-जीवन की नौका का नाविक है। नाविक होश में हो तो तूफान गर्जे या आँधियाँ आयें, वह नौका को भवसागर से पार ले जाता है और यदि नाविक ही होश में न हो, यदि उसने नशा पी लिया हो तो—

फ़ानी सफ़ीना अब भी न डूबे तो क्या करे।
तूफान को न देख सितमे-नाखुदा को देख ॥

यह नाविक, यह कर्णधार ही यदि बिगड जाये तो फिर नौका डूबती है अवश्य।

मैं इस बुद्धि को मानव-जीवन के ड्रामे का ऐक्टर कहता हूँ। इस ड्रामे का नायक (Hero) आत्मा है, इसकी नायिका बुद्धि है। नायिका बिगड़ जाये तो सारे ड्रामे का सत्यानाश हो जाता है, परन्तु इस नायिका को ठीक कैसे रक्खा जाये ?

युधिष्ठिर जी खड़े थे। सामने यक्ष खड़ा था। यक्ष ने पूछा—धर्मराज ! बुद्धिमान् बनने का उपाय क्या है ?

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

बुद्धिमान् वृद्धसेवया।

महाभारत, वनपर्व ३१३। ४८॥

मनुष्य बुद्धिमान् बनता है वृद्धों की सेवा करने से।

परन्तु आजकल तो यह बात रही नही। आजकल लोग कहते है, बूढ़ा सत्तरा-बहत्तरा हो गया है, साठ वर्ष का हो गया है, सठिया गया है, इसे घर से बाहर निकालो !

एक थी बहू। विवाह के पश्चात् ससुराल आई तो सास की बहुत प्यार से सेवा करने लगी।

(तभी स्वामी जी ने सामने रक्खी घड़ी की ओर देखा, बोले—'अरे! यह घड़ी तो खड़ी है।' आर्यसमाज के एक प्रबन्धक ने कहा—'आप चिन्ता न कीजिये, अभी सवा नौ बजे है।' स्वामी जी ने अपनी कलाई पर लगी घडी को देखा तो बोले—'न भाई! मेरी घडी विच ते साढ़े नौ बज गये ने।' फिर सामने बैठे लोगों से बोले—)

लो भाई! समय हो गया। अब शेष बात कल सुनाऊँगा।

चौथा दिन

(आर्यसमाज हनुमान रोड में इतनी भीड़ थी कि कनातें उतार देने के पश्चात् शामियाने के बाहर भी बैठने को स्थान नही था। आर्यसमाज के बरामदे मे लोग बैठे थे। पूज्य स्वामी जी ने ठीक साढे आठ बजे कथा शुरू की—)

ओम् त्वं हि नः पितावसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो!

मनुष्य श्रेष्ठ मनुष्य कैसे बने? इसपर हम विचार कर रहे थे। कल इस क्रम में बुद्धि का वर्णन किया। बुद्धि न रहे, बुद्धि बिगड़ जाये तो मनुष्य पशु बन जाता है। महात्मा चाणक्य थे भारत के महामन्त्री। उनके समय में भारत की सीमाएँ उधर ईरान तक थीं। अफ़गानिस्तान से आगे ईरान भारत का अंग था। यूरोप में ये सीमाएँ अराकान तक थीं और असम से आगे बर्मा तक। महामन्त्री चाणक्य इस विशाल देश का प्रबन्ध करते थे। इसका सारा राजकाज चलाते थे। पाटलिपुत्र के बाहर जिसे आजकल पटना कहते है, गंगा के किनारे एक झोंपड़ी में रहते थे। मिट्टी के बर्तनों में खाना खाते थे, परन्तु प्रतिदिन प्रातः उठकर क्या प्रार्थना करते थे? यह कि हे भगवन्! यदि मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो मेरी झोंपड़ी छीन ले, मेरे मिट्टी के बर्तन ले ले, मेरा स्वास्थ्य ले ले, परन्तु मेरी बुद्धि न लेना।

धन नही माँगते थे, सेना नहीं माँगते थे, भगवान् से बुद्धि माँगते थे। सुबुद्धि से ही मनुष्य मनुष्य बनता है।

वेद और उपनिषदो मे बारम्बार इस बुद्धि के महत्त्व का वर्णन आता है। उपनिषदों का विषय है ईश्वर-दर्शन। ईश्वर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होता। किसको दिखाई देता है वह? उसको जिसकी बुद्धि सूक्ष्म हो गई है। यह बुद्धि मानव-रूपी नौका की नाविक है, ठीक रहे तो पार लगाती है, न रहे तो डुबो देती है।

और यह बुद्धि बनती कैसे है? बिगड़ती कैसे है? हमारे ऋषियों ने इसके सम्बन्ध में खोज की। उन्होंने कहा—बुद्धि तीन प्रकार की होती है—एक बुद्धि, दूसरी कुबुद्धि, तीसरी सुबुद्धि। यह सुबुद्धि ही सबसे उत्तम है, परन्तु इनको अभी और माँजो, और साफ करो तो बनती है मेधा—ऐसी बुद्धि जिसने एक सच्चे विश्वास को अपना लिया है; इसके मार्ग पर धारणा धरके वह आगे बढ़ती है।

मेधा को भी माँजो, और आगे बढो तो बनती है सुमेधा।

इसको और माँजो, और आगे बढो तो बनती है प्रज्ञा, ऐसी बुद्धि जिससे तमोगुण दूर हो गया है, केवल रजोगुण और सतोगुण शेष हैं।

इसको भी माँजो, आगे चलो, तब बनती है प्रतिभा। व्यास महाराज ने योग-शास्त्र का भाष्य लिखते हुए कहा—माथे के अन्दर एक चमकता हुआ तारा वहाँ लगा दिया जाय, ध्यान को इधर-उधर न होने दिया जाये तो प्रतिभा जागती है। आंग्ल भाषा में इसे Intuitional Insight) कहते हैं। कोई पुस्तक नही, कोई पत्र नही, कोई वायरलैस, रेडियो या टेलीविजन नही; और जिसकी प्रतिभा जागती है, उसे स्वयमेव सब बातें ज्ञात होने लगती हैं।

परन्तु बुद्धि की अन्तिम मंज़िल अभी नही मिली। इस प्रतिभा को माँजो, आगे बढ़ो, तब उत्पन्न होती है ऋतम्भरा बुद्धि—ऐसी बुद्धि जिसमे तमोगुण नही, रजोगुण नही; केवल सतोगुण शेष है। सर्वत्र सत्य को वह कहती है जो कभी बदलता नही।

यह है बुद्धि की खोज! पाश्चात्य विद्वानों के पास केवल एक शब्द है Wisdom। एक मस्तिष्क, दूसरे विज़डम; इससे आगे वे कुछ

जानते नहीं। आजकल के वैज्ञानिकों ने प्रकृति की सूक्ष्मताओं में जाने का प्रयत्न किया, अणु और परमाणु में पहुँच गये; परन्तु हमारे पूर्वजों ने बाल की खाल निकालकर रख दी। प्रकृति की ओर भी वे गये परन्तु उन्होंने देखा यह व्यर्थ है। इसलिए उन्होंने सोचना आरम्भ किया कि मनुष्य कैसे बनता है? और उन्होंने निर्णय किया कि वह मनुष्य उस समय बनता है जब उसमें ऋतम्भरा बुद्धि जाग उठती है।

बुद्धि सुधरे तो ऋतम्भरा बन जाती है, बिगड़े तो प्रलय मचा देती है। परन्तु बिगड़ती कैसे है? आजकल लोग प्रायः कहते है कि 'श्रीमन्! बुद्धि की बात क्या कहते हो? जितनी बुद्धि अमेरिका और रूसवालों के पास है उतनी तो किसी के पास नहीं।' यह बात ठीक है। प्रकट रूप में ऐसा ही प्रतीत होता है। जितने आविष्कार हुए वे अमेरिका में, यूरोप मे और रूस में हुए। परन्तु इन आविष्कारों से क्या सुख मिला है? शान्ति मिली है? क्यों नहीं मिला सुख? इसका उत्तर आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व श्री कृष्ण ने दिया था। उन्होंने कहा—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

गीता २। ६६॥

जिसकी बुद्धि परमात्मा से जुड़ी नही, जिसके हृदय मे प्रभु का प्रेम जागृत नही हुआ, जिसने योग की मंजिले तय नहीं की उसके लिए शान्ति कहाँ? और जिसे शान्ति नही उसके लिए सुख कहाँ? कहीं भी नही।

यह है आज के दुःख का कारण! विज्ञान ज्यूँ-त्यूँ उन्नति करता है, दुःख त्यूँ-त्यूँ बढ़ता जाता है। इसलिए बढता जाता है कि जिस बुद्धि से यह उन्नति होती है वही बिगड़ी पड़ी है।

बुद्धि के बिगडने का कारण मैंने कल बताया—जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं, जो इन्द्रियों का दास है, उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है। श्री कृष्ण महाराज ने कहा—जिसकी इन्द्रियाँ वश मे नहीं उसकी दशा उस नौका के समान है जो एक तूफानी नदी में बही जाती है। नदी की लहरें कभी इसे उस ओर ले जाती है, कभी इस ओर ले जाती हैं, अन्त में डुबो देती हैं। किस प्रकार ये लहरें नौका को खराब करती हैं?

मैं एक बार अमृतसर गया। वहाँ एक साधु महात्मा नहर के किनारे कुटिया बनाकर रहते थे। उनका नाम था जलेबी साधु। मुझे यह नाम विचित्र लगा। मैं उनके पास गया; पूछा—"यह विचित्र-सा नाम आपने कैसे रख लिया?" वे बोले—"सुनो! तुम्हें सुनाता हूँ। मैं वर्षों से इस नहर के किनारे इस झोंपडी में रहता हूँ। भीख माँगता, खाता और ध्यान में मग्न रहता था। परन्तु, तभी पता नहीं कब के संस्कार जाग उठे, मन में बार-बार जलेबियाँ खाने की इच्छा होनें लगी। मैं मन को समझाता कि ऐसी इच्छा मत कर, मेरे ध्यान में भंग पड़ता है। परन्तु मन माना नहीं। मै ध्यान लगाऊँ तो सामने जलेबी से भरा थाल दिखाई दे। कई दिन तक मन से लड़ा, परन्तु हार गया। एक दिन प्रातः उठा, मन को कहा—चल आज तुझे जलेबियाँ खिलाता हूँ, और पहुँच गया लक्ष्मणसर के बाज़ार में। वहाँ एक हलवाई ताज़ा-ताज़ा जलेबियाँ बना रहा था। बनाता और बड़े थाल में डालता जाता। मैंने जलेबियाँ देखीं तो मन पागल हो गया। मैं सीधा थाल के पास पहुँचा। उसमें मुँह डालकर जलेबियाँ खाने लगा। हाथ से नहीं उठाया जलेबी को। मुँह से खाने लगा। हलवाई चिल्ला उठा—'अरे! यह क्या करता है? सारा थाल जूठा कर दिया तुमने।' मैंने थाल से मुँह नहीं हटाया। उसने एक थप्पड मारा। मैं नहीं हटा, तो उसने डण्डा मारना शुरू कर दिया। खूब पीटा तो मैंने मन से पूछा—'अभी और जलेबी खायेगा?' मन ने कहा—'नही, बहुत मार पड़ी है।' तब से मेरा नाम जलेबी साधु हो गया।"

यह है इन्द्रियों के वश में न होने का परिणाम!

जलेबी साधु की बात से मुझे अपने जीवन की एक घटना स्मरण आती है। हम रहते थे लाहौर में। यहाँ आर्यसमाज सीताराम बाज़ार का वार्षिकोत्सव था। मै यहाँ भाषण देने के लिए आया तो किसी ने कहा—"यहाँ एक चाँदनी चौक है। वहाँ घण्टेवाले की दुकान में जलेबियाँ बहुत अच्छी बनती है।" मैं पहुँचा वहाँ। पहले दिन जलेबियाँ खाईं। दूसरे दिन भी खाईं। परन्तु ये आर्यसमाजवाले उत्सव समाप्त होने के पश्चात् किसी को अपने यहाँ रखते नहीं। तीसरे दिन हमें आर्यसमाज से विदाई मिल गई। मैं गाड़ी में चढ़ा, लाहौर पहुँचा।

परन्तु गाड़ी में भी जलेबियाँ स्मरण आईं, लाहौर में भी याद आईं। जलेबियों के बिना मन माने ही नहीं। चार दिन पश्चात् मैंने सीट कराई बुक, देहली पहुँच गया, केवल जलेबियाँ खाने के लिए। गाड़ी से उतरा, सीधा घण्टेवाले की दुकान पर पहुँचा। दुर्भाग्य कि दुकान बन्द थी। पता चला कि आज घण्टेवाले की दुकान नही खुलेगी। जाकर आर्यसमाज मन्दिर सीताराम बाज़ार में ठहर गया। रात्रि में सोया तो स्वप्न भी जलेबी के ही आये। प्रातः उठा तो नहा-धोकर सीधा घण्टेवाले की दुकान पर! दुकान अभी बन्द थी परन्तु अन्दर जलेबियाँ तली जा रही थी। सुगन्ध बाहर आ रही थी। मै खड़ा रहा। दुकान खुली तो सबसे पहला ग्राहक मैं था। जलेबियाँ ली एक पाव एक दोने मे, एक पाव दूसरे दोने में।

यह दशा होती है इन्द्रियों का दास बनने से! इन्द्रियों के संस्कार मनुष्य को तंग करते है, उसे उल्टे मार्ग पर ले जाते हैं, बुद्धि को कुमार्ग पर ले जाते है। बुद्धि को ठीक रखना है तो इन्द्रियों को वश में करो। परंतु इन्द्रियों का सेनापति है मन। पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेद्रियाँ, दस-की-दस इसके अधीन हैं। इस सेनापति को वश में कर लो तो यह सेना आपके वश में हो जायेगी। परन्तु मन को कैसे वश में किया जाये? सत्संग से। सत्सगी बन। अच्छी संगति में बैठ, उत्तम पुस्तकों को पढ़। माता-पिता श्रेष्ठ हों और संगति मिल जाये बुरी तो मन कुमार्ग पर चल पड़ता है।

भगवान् राम बैठे थे जंगल में। उनके पास बैठे थे श्री लक्ष्मण जी। दोनों भाइयों मे मन के सम्बन्ध में चर्चा हो रही थी। लक्ष्मण ने कहा, भय्या! यह मन तो बहुत बलवान् है, इसे वश मे करने का प्रयत्न करो तो और भी फिसल जाता है। लक्ष्मण जी ने कहा—

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा योषित यौवनम्।
······कस्य न चलति मनः॥

जा पहुँचे एक उद्यान में, देखा एक फूल को, सुन्दर खिला हुआ फूल! इधर-उधर देखा। माली नहीं, चौकीदार नही और तोड़ लिया फूल।

एक उद्यान में जा पहुँचे बम्बई में। एलफेन्सों आम देखा, पका

हुआ, रसीला, चमकता हुआ आम। देखा—कोई देखता नहीं, तोड़ लिया उसे।

और यौवन पर आया हुआ सौन्दर्य—उसको देखकर भी यही अवस्था हुई।

ऐसी अवस्था में लक्ष्मण ने पूछा—किसका मन चलायमान नहीं होता?

भगवान् राम ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
……तस्य न चलति मनः॥

जिसका पिता पवित्र भावना वाला है, जिसकी माता पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली है, ऐसे माता-पिता की जो सन्तान है, उसका मन चलायमान नही होता।

परन्तु मैं वहाँ बैठा होता तो कहता—महाराज! माता-पिता भले ही अच्छे हो, यदि संगति ही बुरी मिल गई है तो उस व्यक्ति का मन चलायमान होगा। महात्मा गांधी इतने बडे महापुरुष, इतने बड़े सन्त थे। माता कस्तूरबा इतनी बडी सती और साध्वी कि चन्द्रमा में धब्बा है परन्तु उस पवित्र माँ में कोई धब्बा नही था; और सन्तान हो गई हीरालाल गांधी। मांस वह खाये, शराब वह पीये, अपने धर्म का त्याग वह करे। यह तो आर्यसमाज की कृपा हुई कि उसे फिर शुद्ध करके उसके पिता के धर्म मे वापस ले आया, अन्यथा वह अपना सर्वनाश कर बैठा था। यह सब-कुछ क्यों हुआ? संगत बिगड़ जाने से। इस सगत का प्रभाव जैसाकि मैने पहले भी कहा था, अकबर इलाहाबादी ने वर्णित किया—

तिफ़्ल में बू आय क्या माँ-बाप के अतवार की।
दूध तो डिब्बों का है, तालीम है सरकार की॥

बस, हो गया बेड़ा गर्क! माता-पिता भले ही अच्छे हो, पुत्र को यदि उनके संस्कार न मिले, बुरी संगत में पड़कर बुरे सस्कार मिल गए तो वह सुधरेगा कैसे? बम्बई में एक परिवार ने मुझे बताया कि हमारा पुत्र जब तक कॉलेज नही गया, बहुत अच्छा था। अब कॉलेज जाने लगा है तो बिगड गया है। बिगड़ेगा नही तो और क्या होगा?

उसे बुरी संगत मिल गई है। यह संगत तारती भी है और डुबाती भी है। बहुत बुरी वस्तु भी है यह। अच्छी संगत से मनुष्य ऊपर उठता है, बुरी संगत से नीचे गिरता है। कई लोग कहते हैं—यह संगत का बखेड़ा किसलिए? चलो सिनेमा चलें, क्लब चले, वहीं रमी-दुमी की दो-तीन बाजियाँ ही खेल लेंगे, सत्संग में क्या करेंगे? और आजकल तो दीपावली के दिन है, घर-घर में जुआ चलता है। जुआ खेलनेवालों ने प्रचार कर रक्खा है कि जो जुआ नही खेले वह अगले जन्म में गधा बनता है। परन्तु यह पुरानी बात है। नई बात सुनो! जो जुआ खेलता है वह इसी जन्म में गधा बनता है। जुए से सहस्रों कीटाणु उत्पन्न होते है। मानव की मानवता समाप्त हो जाती है, फिर वह गधा बने या घोडा, मानव तो रहा नहीं। नहीं बाबा! अपनी सन्तान को प्रेरणा करो कि सत्संग में चलो। उनके बहाने न सुनो। प्रायः वे कहते है—सत्संग में जाने का समय कहाँ है? आप लोग जायें, हमें परीक्षा की तैयारी करनी है। अरे बाबा! मैं हूँ सन्यासी, प्रत्येक घर में जाता हूँ, प्रत्येक घर को देखता हूँ, ये बच्चे परीक्षा की तैयारी नहीं करते। आप कथा में चले आते है, वे पीछे से नॉविल पढ़ते हैं, कॉमिक पढ़ते है, मनोरंजक कहानियाँ, मनोहर कहानियाँ पढ़ते हैं, और फिर जैसी सगत वैसा फल। पानी है न, अमरूद के वृक्ष में जाए तो अमरूद बन जाता है, लाल मिर्च के पौदे में जाए तो लाल मिर्च बन जाता है, आम के वृक्ष में जाये तो मीठा-रसीला आम बन जाता है, गन्ने में मिठास बन जाता है, नीम में कड़वाहट बन जाता है। पानी तो वही है, संगत से उसका गुण बदल जाता है। आपका बच्चा पानी की भाँति है, जैसी संगत उसे मिलेगी वैसा वह हो जाएगा। कई लोए तो इसलिए भी सत्संग में नहीं आते कि अब उसकी आवश्यकता क्या है? निर्धन थे, पास पैसा नहीं था, तब जाते थे। अब कोठी हो गई, धन हो गया, नौकर-चाकर भी हो गए। अब सत्सग से क्या मिलेगा? यहाँ तो नहीं, मुरादाबाद में एक सज्जन मुझे मिले। मैने पूछा—"भाई! कथा में क्यों नही आते?" वे बोले—"जान-बूझकर नहीं आता।" मैने आश्चर्य से पूछा—"जान-बूझकर नहीं आता? यह क्या बात हुई?" वह बोला—"हम लोग पाकिस्तान से उजडकर आये थे। यहाँ

आकर अब कारोबार चला है। अब धन थोड़ा-बहुत आने लगा है। आपकी कथा में आयें तो आप कहोगे ब्लैक मार्केट न करो, झूठ न बोलो। और हम इन्हीं उपायों से धन कमाते हैं। तब आपकी कथा में आकर क्या करें?" कमाओ इस धन को भाई! परन्तु यह भी तो सोचो कि झूठ की रेत से बना यह महल खड़ा कब तक रहेगा? एक दिन यह गिरेगा अवश्य। तुम भी दबोगे, तुम्हारा परिवार भी दब जाएगा। कुछ लोग इसलिए सत्संग में नही आते कि उन्हें कुछ मिलता नही। एक शिष्य रहता था गुरुजी के पास। गुरुजी उसे प्रतिदिन अच्छी-अच्छी बातें सुनाते, उपदेश देते, परन्तु उसके पल्ले कुछ पड़ा नही। एक दिन बोला—"गुरुजी! इतने दिन हो गये आपका सत्संग करते परन्तु मिला तो कुछ है नहीं।" गुरु ने शिष्य की ओर ध्यान से देखा और बोले—"अच्छा! कल इसका उत्तर दूंगा।" दूसरे दिन शिष्य गया। गुरु ने कहा—"अन्दरवाले कमरे में जा, वहाँ बाँस की टोकरी पड़ी है, उसे उठाकर ले आ।" शिष्य चला गया, टोकरी उठा लाया। गुरु ने कहा—"अब नदी पर जा, इसमें पानी भरकर ले आ।" शिष्य चला गया नदी पर। बाँस की टोकरी में पानी भरा परन्तु वह रुका तो नही, सारा बह गया। उसने आकर गुरुजी को कहा—"इसमें तो पानी रुकता नहीं।" गुरुजी बोले—"अच्छा कल फिर जाना।" वह फिर गया। फिर प्रयत्न किया। पानी नही भरा। इस प्रकार सात-आठ दिन होता रहा। अन्ततः उसने तंग आकर कहा—"गुरुजी! कोई दूसरा काम बताइये जिससे आपको भी लाभ हो और मुझे भी, यह तो व्यर्थ का काम है। बाँस की टोकरी में पानी भरा कैसे जा सकता है?" गुरुजी हँसते हुए बोले—"टोकरी कुछ साफ तो हुई?" शिष्य ने कहा—"हाँ जी, साफ तो हुई है। पहले मैली थी, अब चमकने लगी है।" गुरुजी ने पूछा—"कुछ नर्म भी हुई है?" शिष्य ने कहा—"जी! नर्म भी हुई है, प्रतिदिन पानी जो पड़ता है! धोता हूँ इसे, नर्म तो होगी ही।" गुरुजी ने पूछा—"इसके छिद्र कुछ कम हुए हैं?" शिष्य ने कहा—"हाँ, कुछ-कुछ कम तो हुए हैं।" गुरुजी बोले—"यही सत्सग का लाभ है। मन की मैल धुल जाती है, आत्मा में शुद्धता आ जाती है। बुरे विचारों और संकल्पों के सुराख कम होने लगते हैं।

तब एक समय ऐसा भी आता है जब ये छिद्र पूर्णरूपेण बन्द हो जाते हैं।"

एक वकील महोदय ने मुझे अपने जीवन की घटना सुनाई। कई बार उसे सुना चुका हूँ। आज भी सुनाता हूँ। अपने बच्चे को लेकर वे सत्संग में जाते थे। एक दिन कोई सज्जन भजन गा रहे थे—

मुख से कड़वे बोल न बोल !

बच्चे के हृदय में यह बात बैठ गई। वह स्थान-स्थान पर गाता फिरता—'मुख से कड़वे बोल न बोल !' एक दिन किसी कारणवश वकील महोदय का अपनी पत्नी से झगड़ा हो गया। वे भी कड़वा बोले, पत्नी भी बोली, दोनों ने एक-दूसरे से बोलना बन्द कर दिया। वह अपने कमरे में, यह अपने कमरे में। वकील महोदय ने बताया—'यह मेरा सौभाग्य था कि भोजन मेरे कमरे में आ जाता था, मैं खाता और कचहरी चला जाता। वापस आकर फिर अपने कमरे में, और घर में सन्नाटा।' कई दिन व्यतीत हो गये तो वकील महोदय के मन में आया कि यह अवस्था कबतक चलेगी ? इसका अन्त होना चाहिए। पत्नी के हृदय में भी यही विचार आया। परन्तु पहल कौन करे ? अभिमान के कारण दोनों अपने-अपने कमरों में बैठे थे। तभी बच्चा आया स्कूल से। आया यह गाता हुआ—'मुख से कड़वे बोल न बोल !' और पहुँच गया पिता के कमरे में। वकील महोदय ने कहा—"पुत्र ! यह गाना अपनी माताजी के कमरे में जाकर गा।" वह माताजी के कमरे में पहुँचा और गाने लगा—'मुख से कड़वे बोल न बोल !' माँ बोली—"बेटा ! यह बात अपने पिताजी के कमरे में जाकर कह।" वह पिता के कमरे में गया, वहाँ गाने लगा तो पिता ने कहा—"नहीं पुत्र ! अपनी माँ को जाकर सुना।" माँ के पास गया तो उसने फिर पिताजी के कमरे में भेज दिया। पिता ने कहा—"माताजी के पास जाकर गाओ।" बच्चे ने तंग आकर कहा—"अब मैं क्या करूँ ? माताजी के पास जाता हूँ तो वे आपके पास भेज देती है, आपके पास आता हूँ तो आप माँ के पास जाने को कहते है। अब मै कहीं नही जाऊँगा, दोनों कमरों के बीच यहाँ बैठकर गाऊँगा—मुख से कड़वे बोल

न बोल !" पिता ने उसको देखा, माता ने भी देखा, दोनों मुस्करा पड़े, दोनों का क्रोध दूर हो गया, झगड़ा समाप्त हो गया।

यह है सत्संग का जादू ! बच्चे के हृदय में एक बात बैठ गई। उसने घर का वातावरण ही बदल दिया। अतः सत्संग में अवश्य आओ मेरे भाई ! घर के सभी लोगों को लेकर आओ। जो बीमार हैं उन्हें चार-पाई पर डालकर ले आओ। सत्संग से दूर रहने के बहाने न बनाओ। अतिथि आये हैं तो उन्हें भी साथ लेकर आओ। कौन जाने सत्संग में किस समय कही गई कौन-सी बात किसके मन में बैठ जाय और उसके जीवन को कल्याण के मार्ग पर ले जाय ! यह शॉपिंग, नाचिंग के लिए दूसरे समय भी हो सकते है। सत्संग के समय इन कामों को न करो। सत्संग के सम्बन्ध में इससे अधिक नहीं कहता।

बुद्धि को ठीक रखने का अगला उपाय है स्वाध्याय, उत्तम पुस्तकों को पढना। वेद या उपनिषद्, गीता, सत्यार्थप्रकाश, रामायण, महा-भारत के उत्तम-उत्तम स्थल—ऐसी धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने से प्रकाश मिलता है, मार्ग मिलता है। गीता पढ़ो तो आपका सम्बन्ध श्री कृष्ण के साथ हो जाता है। आप उस महान् योगिराज के पास पहुँच जाते हैं। उपनिषदें पढो तो महर्षि याज्ञवल्क्य आपके समक्ष आ जाते हैं, वसिष्ठ आ जाते है, विश्वामित्र आ जाते है, उद्दालक आ जाता है, यम आ जाता है, नचिकेता आ जाता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है कि स्वाध्याय करनेवाले को कभी रास्ता नहीं भूलता। मार्ग मिलता न हो तो स्वाध्याय से स्वयमेव दृष्टिगोचर हो जाता है। प्रत्येक समस्या का समाधान मिलता है, मानसिक और शारीरिक रोग दूर हो जाते है।

इसके पश्चात् बुद्धि को ठीक रखने का उपाय है—मन को प्रसन्न रखना, प्रत्येक अवस्था में प्रसन्न रखना। परन्तु कुछ लोगों को तो यह बात समझ में नही आती। उनका सिद्धान्त यह है—

यहाँ के सफ़ेदो-सियाह में हमको दख्ल जो है सो इतना है।
रात को रो-रो सुबह किया और सुबह को रो-रो शाम किया।।

ये लोग रात को रोते है, दिन को रोते हैं, प्रात: रोते हैं, सायं

रोते हैं। अच्छी बात है भाई ! रोओ, परन्तु स्मरण रक्खो, बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी और बुद्धि भ्रष्ट होने से विनाश आता है-

विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।

विनाश आनेवाला हो तो पहले बुद्धि खराब हो जाती है।

कई लोग तो व्यर्थ बहाना बनाकर रोते हैं। एक सज्जन मुझे मिले, बहुत दुःखी। मैंने पूछा—"क्या हुआ ?" बोले—"क्या करें ? मकान बहुत छोटा है और परिवार बड़ा हो गया है।" अरे भाई ! मकान छोटा था तो तूने परिवार बढ़ाया क्यों ? उस समय सोचना था, अब रोता क्यों है ? पहले मकान बड़ा बनवा लेता, बाद मे परिवार बढ़ाना था। पहले सोचा नही, अब रोने से क्या होगा ?

स्मरण रक्खो ! प्रसन्न रहना बहुत बड़ा गुण है। प्रसन्न रहने-वाले की बुद्धि की पंखुड़ियाँ इस प्रकार खिली रहती है जैसे फूल खिल जाता है; और जो दुःखी रहता है उसकी ये पंखुड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं, जल जाती हैं। दुःख से, ईर्ष्या से, घृणा और क्रोध से बुद्धि के रेशे इस प्रकार जल जाते हैं कि सारा शरीर जलने लगता है, रोगी होने लगता है। हमारे बख्शी टेकचन्द जी छः वर्ष तक बेहोश पड़े रहे, मस्तिष्क ने काम ही नहीं किया। यह दुःख और अप्रसन्नता के कारण होता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा तो है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ गीता २। ६५

चित्त प्रसन्न हो, उसकी प्रसन्नता से सब दुःख समाप्त हो गये हों तो ऐसे व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही भगवान् के चरणों में टिक जाती है। सब-कुछ ठीक हो जाता है। भगवान् के चरणों में पहुँच गये तो आनन्द-ही-आनन्द है, फिर प्रसन्न क्यों न रहें भाई !

कुछ लोग कहते हैं—"स्वामी जी ! आप तो साधु हैं, आपको कोई चिन्ता है नहीं। हम गृहस्थी लोग है, हमें सौ चिन्ताएँ है। हम इन चिन्ताओं को कैसे छोड़ दे ?" मैं कहता हूँ कि बाबा ! जैसे मैने यह सब-कुछ छोड़ दिया, वैसे ही तुम भी छोड दो। यदि यह घर-बार तुम्हारे लिए संकट बन गया है तो छोड़ो इसे। परन्तु छोड़ते भी नही, रोते भी है।

परन्तु गृहस्थ में रहकर भी मनुष्य प्रसन्न रह सकता है। इसका उपाय यह है कि दुःख को दुःख न समझो। यह संसार विश्राम का स्थान नहीं है। यहाँ दुःख, कष्ट, क्लेश आयेंगे अवश्य। इसीलिए वेद भगवान् ने कहा—

श्रमेण तपसा सृष्टा।

ईश्वर कहता है कि मैंने यह संसार क्यों बनाया है? इसलिए कि तुम लोग श्रम से, तप से पसीना बहाकर, संघर्ष करके आगे बढ़ सको, ऊपर उठ सको। है इसमें कहीं विश्राम का नाम? सुख और भोग-विलास की चर्चा?

ग़ालिब ने भी तो कहा था—

क़ैदे-हयातो-बन्दे-ग़म असल में दोनों एक हैं।
मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाये क्यों?

यह संसार तो कर्मभूमि है। इसमें ऊँच और नीच है, संघर्ष है, विश्राम नहीं है।

(तभी कुछ सज्जन, जो खड़े थे, बैठने को आगे बढ़े, जूते उतारने के लिए स्थान देखने लगे। हलचल हुई तो स्वामी जी ने कहा—'अरे भाई! वही उतार लो न जूता, परन्तु तनिक सँभालकर रखना, कल एक व्यक्ति की नई चप्पल खो गई थीं। सब लोग यहाँ कथा सुनने के लिए नहीं आते। कुछ जूते लेने भी आते हैं।' सब लोग हँस पड़े। स्वामी जी बोले—'हाँ जी! कई लोग तो इसी काम के लिए आते है। इतने जूतों की रक्षा हो नहीं सकती। अच्छा यही है कि अपने साथ प्लास्टिक का थैला लाया करो। उसमे जूते डालकर अपने पास रख लिया करो। शेख़ सादी थे ईरान के प्रसिद्ध कवि। उन्होंने एक कहानी लिखी है—एक मस्जिद मे नमाज़ होनेवाली थी। एक सज्जन वहाँ आए। मस्जिद के मौलवी ने उन्हें देखा तो कहा—अरे तुम यहाँ! मस्जिद मे? वे सज्जन बोले—मौलाना साहब, मै प्रतिदिन तो आता नहीं। कभी-कभी आता हूँ। एक वर्ष हुआ तब आया था। एक जूता ले गया। अब वह फट गया है, नये जूते की आवश्यकता है। तो यह काम मस्जिदों में भी होता है, मन्दिरों और आर्यसमाजों मे भी। अपने जूते सँभालकर रक्खो!'—)

परन्तु मैं प्रसन्न रहने की बात कह रहा था। योग-दर्शन में इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर बात कही गई है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ योग० १ । ३३ ॥

इस संसार में दुःख अवश्य हैं फिर भी प्रसन्न रहने का उपाय है। क्या है वह रास्ता ? जो धनवाले है, बड़े हैं, उनके साथ मित्रता की भावना रक्खो। जो निर्धन है, रोगी हैं, संकट में है, उनके लिए अपने हृदय में दया की भावना रक्खो। उनकी सहायता करो, उनके लिए प्रार्थना करो, उनपर दया करो, और पूछो अपने-आपसे—

शरीके-दर्दो ग़म होकर किसी का दुःख हटाया है ?
मुसीबत में किसी आफ़तज़दा के काम आया है ?
पराई आग में पड़कर कभी दिल भी जलाया है ?
किसी बेकस की ख़ातिर जान पर सदमा उठाया है ?

इसे कहते है दीन पर दया !

तब मुदित—दूसरों को बढता हुआ देखकर प्रसन्न होना। किसी ने यज्ञ किया, किसी ने सुन्दर मकान बनाया, कोई धनवान् बना, कोई पदाधिकारी बना, किसी को सम्मान मिला तो उसे देखकर जलना नहीं अपितु प्रसन्न होना कि बहुत सुन्दर मकान बनवाया है इसने, कभी हम भी जायेंगे तो हमें एक चाय का प्याला तो मिल ही जायेगा। संगमरमर के फर्श पर बैठकर कभी संध्या करने, ध्यान करने का अवसर मिल जाएगा। दूसरो की उन्नति देखकर प्रसन्न होना, जलना नहीं।

परन्तु कई लोग जलने को अपना स्वभाव बना लेते है। किसी ने बना लिया चार-मजिला मकान और यह सज्जन अपने घर में बैठे-बैठे जले जा रहे हैं, विना अग्नि के जले जा रहे है। ऐसा नही करना। प्रसन्न होना दूसरों को प्रसन्न देखकर।

और जो बहुत विगड गये है, आपने यत्न किया उन्हे सुधारने का, ऊपर उठाने का। वे सुधरे नही, ऊपर उठे नहीं, उनकी ओर उदासीन हो जाना। कबीर ने भी तो कहा है—

कबीरा तेरी झोंपड़ी गलकट्टन के पास।
जो करनगे सो भरनगे तू क्यों भया उदास ?

नही सुधरते तो मौज मनाएँ। अपने कर्मों का फल वे भोगेंगे, तुम अपने-आपको दुःखी क्यों करते हो ?

और फिर—

गुणवृत्ति-अविरोधानाम्

गुणों का परस्पर विरोध न हो, वे एक होकर चले।

गुण तीन हैं—तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण। अन्तिम गुण प्रधान हो तो जी चाहता है कि प्रभु की भक्ति करो। उस परम पिता में जो शान्ति है, जो आनन्द है, उसका आनन्द लो। रजोगुण प्रधान हो तो व्यक्ति कहता है चलो, लोगों की, देश की, समाज की, धर्म की भलाई का काम करो। आर्यसमाज हनुमान रोड का उत्सव हो रहा है। इसके लिए दान इकट्ठा करो, स्वयं भी दान दो। और तमोगुण प्रधान हो तो ऐसी बातें सूझती नहीं। ईश्वर विस्मृत हो जाता है; देश, धर्म और समाज को भूल जाता है मनुष्य, केवल अपने लिए सोचता है, चोरी करता है, डाका डालता है, पाखण्ड रचता है। ये सब गुण अपनी-अपनी ओर खींचने लगें, इनमें विरोध उत्पन्न हो जाय तो मनुष्य की शान्ति समाप्त हो जाती है।

और अन्त में—

सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

सुख-दुःख को, भलाई-बुराई को, सबको एक-सा समझो, तो ऐसे मनुष्य का चित्त सदा प्रसन्न रहता है। इस प्रकार चलो तो बुद्धि ठीक रहेगी, चित्त ठीक रहेगा, शरीर भी ठीक रहेगा—यह अनुभव की बात है जिसे 'योगदर्शन' के ऋषि ने बताया।

यह है चित्त को प्रसन्न रखने और बुद्धि को ठीक रखने की विधि !

परन्तु कुछ लोग कहते हैं—"क्यों जी ! यह बुद्धि को ठीक रखने का इतना यत्न जो किया जाय तो भाग्य को ही क्यों न ठीक किया जाय ? इसे ठीक करने के लिए भगवान् से प्रार्थना क्यो न की जाय ?" अवश्य करो। परन्तु भाग्य है क्या ? भगवान् राम एक दिन गुरु वसिष्ट के पास बैठे थे। श्री राम ने पूछा—"गुरुजी ! यह भाग्य क्या है ?" गुरुजी ने कहा—"पिछले जन्मो मे किये हुए कर्मों का फल ही

भाग्य है।" तो इसका तात्पर्य क्या हुआ ? यह कि आज जो कर्म करोगे, ये अगले जन्म का भाग्य बन जायेंगे; और कर्म करने के लिए तो बुद्धि चाहिए, इसके बिना कर्म करोगे तो भाग्य नहीं दुर्भाग्य बन जायेगा। अतः बुद्धि भाग्य से अधिक आवश्यक है।

भाग्य और बुद्धि दोनों एक बार इकट्ठे हो गए। भाग्य ने कहा—मैं ही मनुष्य के लिए सुख, शान्ति, धन-धान्य देता हूँ। निर्धन को धनिक बना देता हूँ, रंक को राजा कर देता हूँ, तू क्या करती है ?

बुद्धि ने कहा—भाई ! तू अच्छा है परन्तु मैं साथ न रहूँ तो केवल तेरे किये से कुछ होगा नहीं।

भाग्य ने कहा—कैसे नहीं होगा ? सब-कुछ तो मैं करता हूँ, तू केवल दलीलें लड़ाती रहती है। मैं अकेला ही सब-कुछ कर सकता हूँ।

बुद्धि ने कहा—अच्छी बात है, करके दिखा। वह सामने एक गडरिया बैठा है, भेड़े चराता थक गया है, धूप से घबराकर छाया में बैठ गया है, उसे राजा बना दे।

भाग्य ने कहा—अच्छी बात है, देखती रह तू मेरा कार्य।

और उसने सोने की खड़ाऊँ गडरिए के पास रख दीं जिनपर कई-कई सहस्र के हीरे, लाल और मोती जड़े थे। गडरिये की दृष्टि उधर गई तो उनकी चमक को देखकर बोला—"यह तो अच्छी वस्तु है, मैं अपने पाँव में पहनता हूँ।" पहन लीं पाँव में। इधर-उधर घूमा। खड़ाऊँ भारी थीं, पाँवों को हुआ कष्ट, तो उतार दीं, बोला—"देखने में अच्छी वस्तु है, पहनने में रद्दी।" एक ओर रख दीं उसने खड़ाऊँ। इतने में भाग्य ने एक व्यापारी वहाँ भेज दिया। उसने उन खड़ाऊँ को देखा तो पूछा—"क्यों भाई गडरिये, इन्हें बेचता है ?" गडरिया बोला—"हाँ, बेचता हूँ !" व्यापारी ने पूछा—"क्या लेगा ?" गडरिया सोचते हुए बोला—"दोपहर के समय मुझे खाना खाने के लिए गाँव जाना पड़ता है। धूप होती है, इसमें कष्ट बहुत होता है। दो मन भुने हुए चने दे दो मुझे तो मैं उन्हें यहीं किसी वृक्ष पर रख दूँगा, प्रतिदिन खाया करूँगा।" व्यापारी उसी समय पास के गाँव में गया। दो मन नहीं, दो बोरियाँ चने भुनवाकर ले आया। बोरियाँ गडरिये को दी, खड़ाऊँ लेकर एक राजा के पास पहुँचा, उसे वे

खड़ाऊँ दे दीं। राजा ने उस सोने को, उन हीरों को और मोतियों को देखा तो चकित रह गया; बोला—"कहाँ से लाये हो ये ?" व्यापारी ने कहा—"एक राजा मेरा मित्र है, उन्होंने मुझे दीं, मैं आपको भेंट करने ले आया हूँ।" राजा ने पूछा—"तुम्हारे राजा के पास ऐसी और भी खड़ाऊँ है ?" व्यापारी ने झूठ बोलते हुए कहा—"बहुत है श्रीमन् ! उनके यहाँ खड़ाऊँ की कोई कमी नहीं।" राजा बोला—"तब तो ऐसी कुछ और खड़ाऊँ भी हमें ला दो।" व्यापारी घबराया। परन्तु अब झूठ बोल चुका था, करता क्या ? बोला—"ले आऊँगा श्रीमन् !" राजा के मन में एक दूसरा विचार आया; बोला—"एक बात सुनो ! तुम्हारे राजा के यहाँ क्या कोई नौजवान लडका भी है ?" व्यापारी ने फिर झूठ बोलते हुए कहा—"जी, है।" राजा बोला—"मेरी कन्या विवाह के योग्य हो गई है, उस राजकुमार के साथ इसका विवाह करा दो। तुम्हारे राजा साहब मान जायें तो मुझे बताना।" व्यापारी ने कहा—"अवश्य बताऊँगा श्रीमन् ! मुझे विश्वास है कि वे मान जायेंगे।"

राजा ने उसे जो धन दिया था उससे बहुत-सा सामान—बर्तन, तांबे की चादरें, लोहे का सामान—खरीदकर वह चल पडा दूसरे नगर की ओर। मार्ग जाता था उसी जंगल से जहाँ उसे गडरिया मिला था। दोपहर के समय एक बहुत बडे वृक्ष के नीचे उसने अपना सामान रखवाया और विश्राम करने के लिए बैठ गया, सो गया। इतने में वह गडरिया भी धूप का सताया हुआ उसी वृक्ष के नीचे आ पहुँचा। थका हुआ था। व्यापारी के सामान पर सिर रखकर सो गया। व्यापारी उठा तो उसने देखा कि जिस सामान पर गडरिया सिर रख के सोया है वह सब सोने का हो गया है। उसने मन-ही-मन कहा—'यह तो कोई बहुत बड़ा सिद्ध पुरुष प्रतीत होता है। जो वस्तु इसे छू जाती है वही सोना बन जाती है।' उसने तांबे की चादरों को सरकाकर उसके निकट कर दिया। गडरिये ने सोते-सोते करवट ली। उसका पाँव उन चादरों पर पड़ा तो सब-की-सब सोने की हो गई। व्यापारी की आँखे चमक उठी। मन-ही-मन उसने कहा—'राजा से तो मैं झूठ बोलकर आया हूँ परन्तु इस गडरिये की सहायता से वह

झूठ भी सत्य हो सकता है।' गडरिये को जगाया, उससे बोला—"चल मेरे साथ, तुझे बहुत-कुछ दूँगा।" गडरिये को लेकर वह उसी राजा के नगर की ओर चल पडा। नगर से दूर ही—क्योंकि उसके पास सोना बहुत था और निरन्तर बढता जाता था, उसने कारीगर लगाकर एक दुर्ग (किला) बनवाया। नौकर-चाकर रख लिये। पुलिस रख ली, फौज बना ली और उन राजा साहब को सन्देश भेज दिया कि "मैं अपने राजकुमार को साथ ले आया हूँ, आप विवाह की तैयारी कीजिए, हम अमुक दिन आपके पास पहुँच जायेंगे।" राजा बहुत प्रसन्न हुआ। निश्चित दिन राजमहल की ओर बरात चल पड़ी घोड़े, हाथी, ऊँट, बाजे-गाजे लेकर। गडरिये को रेशमी वस्त्र पहनाकर व्यापारी ने घोड़ी पर बैठा दिया। उसे बहुत-सी थैलियाँ दे दी। प्रत्येक थैली मे पता नहीं कितने-कितने रुपये थे। बोला—"अभी लोग तेरा स्वागत करने आयेंगे, प्रत्येक को एक-एक थैली देते जाना।" गडरिये ने यह सब-कुछ देखा, सेना और पुलिस देखी तो घबराया। उसने समझा—मेरी भेड़े इन लोगों के खेतो मे घुस आई है, ये मुझे पकडने आये है तो चिल्लाकर बोला—"अरे मुझे छोड़ दो, मै अपनी भेड़ों को दूर ले जाऊँगा।" व्यापारी ने उसके पास जाकर डाँटकर कहा—"चुप बैठा रह और अब कुछ भी कहना हो तो मुझे बुलाकर कान में कहना, नहीं तो तेरी कुशल नही।" गडरिया भय से चुप हो गया। स्वागत करने-वाले प्रत्येक व्यक्ति को उसने रुपयों से भरी हुई एक-एक थैली दी। राजा को जब इस बात का पता लगा तो उसने कहा—"हे भगवन्! कितने धनिक से सम्बन्ध जोड दिया है? अब तू ही मेरी लाज रखना, मेरे पास तो इतनी सम्पत्ति है नही।" बरात राजमहल मे पहुँची। व्यापारी साथ था। विवाह हो गया।

रात्रि मे गडरिये को ठहराया गया एक भव्य सजे हुए प्रासाद में। झाड़ और फ़ानूस जगमगा रहे थे, झालरें लटक रही थीं, मोतियों से जड़े पर्दे लटक रहे थे, हर ओर फूलो की सुगन्ध थी, हर ओर इत्र की महक। गडरिया चकित था कि मै कहाँ आ गया हूँ! मन-ही-मन उसने सोचा—'बचपन में मेरा पिता कहता था कि डायन और चुड़ैलो के मकान ऐसे ही होते हे। प्रतीत होता है कि मै भी चुड़ैलो के जाल मे

फँस गया हूँ । पता नही अब जान बचेगी या नही ?' तभी छम-छम करती हुई सुन्दर आभूषण पहने वह राजकुमारी आ गई। गडरिये ने उसके पाँवों की आहट सुनी तो समझा—लो भाई ! आ गई वह डायन, अब कुशल नही । और जल्दी से पलॅग के नीचे घुसकर छुप गया। राजकुमारी कमरे में प्रविष्ट हुई। इधर-उधर देखा, कमरे में कोई दिखाई नही दिया तो बाहर निकली, दूसरे कमरे मे चली गई। गडरिये ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—"जान बची ! परन्तु अभी कोई और डायन आ गई तो मैं बचूँगा नही, यहाँ से भागना ही अच्छा है।" शीघ्रता से वह पलॅग के नीचे से निकला, सामने सीढ़ियाँ दिखाई दीं, उनपर चढ़ गया, सबसे ऊपर की मंजिल पर जा पहुँचा। वहाँ से नीचे छलाँग लगाने लगा तो बुद्धि आ गई। धीमे से उसने कहा—"रुक जा, यह क्या करता है ? मर जायेगा।" वह रुका। बुद्धि ने अपने पास खड़े भाग्य से कहा—"अब बता, तेरे इतने परिश्रम का क्या परिणाम हुआ ? तू उसे राजा बनाने चला था, मैं न रोकती तो यह लाश बन गई होती।"

और सच ही मेरे भाई ! बुद्धि के विना भाग्य व्यर्थ है। बुद्धि से भाग्य बनता है। बुद्धि न हो तो सौभाग्य भी दुर्भाग्य बन जाता है। अरे ! देखते नहीं, सबसे अधिक अमीरो के बच्चे बिगड़ते हैं। भाग्य उनके पास होता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, इसलिए अपने हाथ से अपने लिए वे विनाश जगा लेते है।

कई लोगों को उत्तम बुद्धि मिलती है परन्तु वे इसका प्रयोग गलत करते है। ये आजकल के वैज्ञानिक है न, इनके पास साधारण बुद्धि तो है नहीं, बहुत तीव्र, बहुत सूक्ष्म बुद्धि है। परन्तु उसे उन्होंने प्रयोग किस काम के लिए किया ? मनुष्य को सुखी बनाने, मनुष्य का कल्याण करने के लिए, आत्मा और परमात्मा की खोज के लिए ? नही, अणु और परमाणु की खोज करने के लिए। जिस बुद्धि से मनुष्य को कल्याण का मार्ग मिल सकता था, उसी को उन्होने सर्वनाश का साधन बना दिया है। अपने बनाये हुए ऐटम बमों और हाइड्रोजन बमों से अब वह स्वय भी भयभीत है। परन्तु श्रेष्ठ बुद्धि कुमार्ग पर चलती क्यो है ? गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण ने इसका उत्तर दिया। उन्होंने

कहा—संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक दैवी सम्पदावाले जो आत्मा की खोज करते है, परमात्मा का दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं। संसार के लोभ-लालच मे, प्रकृति के जाल में वे फँसते नही। दूसरे आसुरी सम्पत्तिवाले जो प्रकृति के जाल में फँसकर केवल प्रकृति की पूजा करते हैं; न केवल आत्मा और परमात्मा को भूल जाते हैं, अपितु यह भी कहते है कि आत्मा और परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं; संसार का निर्माण करनेवाला कोई नहीं; संसार में पाप और पुण्य कोई नहीं; जैसे तुम्हारे जी में आये वैसे रहो; इस संसार के पश्चात् कोई जन्म नही। ऐसे राक्षसी बुद्धिवाले लोग, आसुरी सम्पदावाले लोग बुद्धि होने पर भी कुमार्ग पर चलते हैं; जिस बुद्धि से अपना और दूसरों का कल्याण हो सकता था, उसी से संसार के लिए विनाश के साधन उत्पन्न कर देते है। और आज तो सभी लोग आसुरी सम्पदावाले बने जाते हैं, दैवी सम्पदावालों का मज़ाक उड़ाया जाता है कि ये लोग मूर्ख है, कुछ समझते नहीं।

एक था राजा। एक व्यक्ति उसके पास एक हीरा लाया; बोला—"श्रीमन्! यह बेचने के लिए लाया हूँ। राजा ने पूछा—"मूल्य क्या है?" वह बोला—"श्रीमन् जो दे देंगे वही ले लूँगा, परन्तु मेरे साथ अन्याय नहीं होना चाहिए। हीरे का जितना मूल्य होना चाहिए, उतना ही दीजिए।" राजा ने मन्त्रियों से परामर्श किया। कई योग्य जौहरियों से परामर्श किया परन्तु मूल्य का निर्णय न हो सका। किसी ने कहा पाँच सहस्र तो किसी ने कहा पचास सहस्र, किसी दूसरे ने एक लाख कहा तो तीसरे ने पाँच लाख। राजा ने घोषणा कराई कि हमारे पास एक हीरा आया है, जो उसका ठीक मूल्य बतायेगा उसे हम पारितोषिक देंगे। एक कुशल जौहरी ने यह बात सुनी तो राजा के पास पहुँचा। हीरे को एक दिन देखा, दो दिन देखा, तीन दिन देखा। अन्ततः राजा के पास जाकर बोला—"श्रीमन्! इसका ठीक मूल्य एक करोड़ रुपये है, इस-जैसा हीरा संसार में और है नहीं। इसमे अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त दो बड़ी विशेषताएँ ये है कि रात्रि में जिस कमरे में इसे रक्खोगे, वहाँ सूर्य-जैसा प्रकाश रहेगा और दूसरी यह कि जिस किसी के पास यह हीरा होगा उसकी प्रत्येक शुभकामना पूरी होगी।" राजा

ने कहा तब तो इसका मूल्य एक करोड़ ही होना चाहिए। दे दिया गया मूल्य, ले लिया गया हीरा। परन्तु अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि जिसने इसका उचित मूल्य लगाया, उसे क्या दिया जाय? किसी ने कहा—एक-दो सहस्र रुपये दे दीजिए, किसी ने कहा, सहस्र-दो-सहस्र तो कम है, कम-से-कम पाँच सहस्र रुपये देने चाहिएँ। तीसरे ने कहा, पाँच सहस्र क्या हुआ! इतना कुशल व्यक्ति है, दस-बीस सहस्र देना चाहिए। निर्णय नहीं हुआ तो राजा ने फिर घोषणा कराई कि कोई ऐसा व्यक्ति आये जो बताये कि जौहरी को क्या पुरस्कार दिया जाय। इस ढिंडोरे को सुनकर एक साधु आया; बोला—"मैं बताता हूँ कि इसको क्या पुरस्कार दिया जाय।" राजा ने कहा—"आप ही बताओ महात्माजी!" साधु बोला—"इसे कड़कती धूप में खड़ा कर दो! पसीना-पसीना हो जाय तो दस जूते लगाओ, यही इसका पुरस्कार है।" राजा ने आश्चर्य से कहा—"यह कैसा पुरस्कार है?"

साधु बोला—"यही ठीक पारितोषिक है। भगवान् ने इसको इतनी अच्छी बुद्धि दी है, उसे इसने आत्मा को पहचानने में नहीं लगाया, पत्थरों को पहचानने में लगा दिया। ऐसे मनुष्य को यही फल मिलना चाहिए।"

अरे भाई! भगवान् तो बुद्धि देता है, हम ही उसका दुरुपयोग शुरू कर देते हैं। जिस बुद्धि से स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं उसी से हम घोर नरक के द्वार खोल देते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

गीता १६। २०॥

हे अर्जुन! इस आसुरी सम्पदावाले लोग राक्षस की योनि में पहुँच जाते हैं, जन्म-जन्म तक वहीं रहते हैं, मुझे वे कभी पा नहीं सकते, अधम-से-अधम गति को प्राप्त होते हैं।

और यह बात कि बुद्धि ठीक मार्ग पर चली जा रही है या नहीं—इसका पता स्वाध्याय से लगता है। तब बुद्धि को श्रेष्ठ बनाने, सुमार्ग पर ले-जानेवाली अगली वस्तु है नम्रता। अभिमान न कर, नम्र बन, क्योंकि अभिमान का सिर सदा नीचा होता है। गीता के जिस सोलहवें

अध्याय की बात मै कह रहा था उसी मे भगवान् कृष्ण ने कहा—

दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥

गीता १६ । ४ ॥

हे अर्जुन ! जिन लोगों मे पाखण्ड है, घमण्ड है, अभिमान है, जो क्रोधी हैं, जिनकी वाणी कठोर है और जो अज्ञानी हैं, ऐसे लोग आसुरी सम्पदावाले है, मनुष्य नहीं है राक्षस है वे।

ऐसे लोग समझते हैं कि हम ही सब-कुछ है और लोग कुछ नही। 'हमचूं मा डगरे नेस्त।' यह फ़ारसी की कहावत है। मैंने गलत पढ दी। असल कहावत है—'हमचूं मा दीगरे नेस्त।' डंगरे नेस्त मैंने ग़लती से कह दिया। पंजाबी में डंगर कहते हैं पशु को। यह क्रोध मनुष्य को पशु बना देता है। क्रोधाग्नि जलती है तो बुद्धि के रेशे जल जाते है। अभिमान से अधिक गिरानेवाली कोई वस्तु है नही। 'शतपथ ब्राह्मण' के ऋषि ने इसे नरक का द्वार कहा है। जिसके पास नम्रता है, जिसके चारों ओर मधुरता गाती रहती है, उसकी बुद्धि उसे ठीक मार्ग पर ले जाती है। नम्रता से बहुत बडी विशेषता आती है मनुष्य मे—

लेने को हरिनाम है, देने को कुछ दान।
तारन को है नम्रता, डूबन को अभिमान ॥

जितना ऊँचा उठे मनुष्य, जितना धनी हो, जितना शक्तिशाली हो, उतनी ही उसमें नम्रता आनी चाहिए, तब वह व्यक्ति वास्तव में बडा होता है।

हमारे पंजाब में महाराज रणजीतसिंह हुए थे न ? बहुत ऊपर उठे वे। बहुत शक्ति प्राप्त की उन्होने। बड़ा राज्य उन्होंने बनाया। आज भी लोग उन्हे स्मरण करते है तो क्यों करते हैं ? उनकी नम्रता के कारण। एक दिन वे जा रहे थे एक सड़क पर, साथ सैनिक थे, पार्षद थे, मन्त्री थे, पुलिसवाले थे, कितने ही लोग थे। सड़क के किनारे था बेरी का एक वृक्ष। कुछ छोटे-छोटे बच्चे उसे पत्थर मारकर बेर गिरा रहे थे। एक बच्चे ने पत्थर जो मारा तो बेरी को वह लगा नही, महाराज रणजीतसिंह के माथे पर आ लगा। रक्त बहने लगा। सब

ओर से शोर मच गया, 'पकड़ो ! पकड़ो ! कौन है यह शैतान जिसने महाराज को घायल कर दिया ?' सिपाही आगे बढे, बच्चा पकड़ा गया। महाराज ने उसको देखा; बोले—"छोड दो इसे, कल दरबार में पेश करो।" बच्चे के माता-पिता को पता लगा तो उन्होंने सिर पीट लिया। मुहल्लेवालो को पता लगा तो हाहाकार मच गया कि इस मूर्ख बच्चे ने महाराज को घायल कर दिया, अब इसे बचा कौन सकता है ? कल इसे दरबार में बुलाया जायेगा, शायद सूली पर चढा दिया जायेगा, शायद संगसार कर दिया जायेगा, शायद फाँसी पर लटका दिया जायेगा। रात-भर सारे मुहल्ले के लोग इस प्रकार मातम मनाते रहे जैसे बच्चा वास्तव में ही मर गया हो। दूसरे दिन दरबार लगा। महाराज ने कहा—"बुलाओ उस बच्चे को !" सिपाही गये उसे लेने।

सिपाहियों को देखते ही माता-पिता के, परिवारवालों के, मुहल्ले-वालों के होश उड़ गये। रोते-पीटते वे बच्चे के पीछे हो लिये। दरबार में पहुँचे। महाराज रणजीतसिंह ने बच्चे को देखकर पूछा—"क्यों बच्चे ! कल तूने मुझे पत्थर मारा था ?" बच्चे ने कहा—"जी सरकार ! मैंने पत्थर मारा था वही आपको लगा। मैंने आपको नही बेरी को पत्थर मारा था, सहसा वह आपको जा लगा।" महाराज ने पूछा—"तूने बेरी को पत्थर क्यो मारा था ?" बच्चे ने कहा—"इसलिए श्रीमन् ! कि पत्थर लगने से चार-पाँच बेर नीचे आ गिरेंगे, मैं उन्हें खाऊँगा।" महाराज सोचकर बोले—"तो इसलिए मारा तूने पत्थर। अच्छा बुलाओ तहसीलदार को, पटवारी को, कानूनगो को भी बुलाओ।" बुलाया गया उन्हे। अब सब लोग भयभीत कि पता नही महाराज क्या आज्ञा देंगे ? शायद इस बच्चे का सिर काट दिया जायेगा—अभी, इसी समय, सबके सामने। परन्तु तहसीलदार, पटवारी और कानूनगो आ गये तो महाराज ने कहा—"तहसीलदार साहब ! लाहौर के पूर्व में हमारे जो गाँव है उनमे से पाँच गाँव इस बच्चे के नाम लिख दो। आज से उनका स्वामी यह होगा। उनकी आय इसे मिलेगी।" लोगों ने यह आज्ञा सुनी तो चकित रह गये। कितने ही मन्त्रियो और अधिकारियो ने कहा—"यह क्या आदेश हुआ ? इस लड़के ने महाराज को पत्थर मारा और इसे पाँच गाँव की जागीर !"

महाराज रणजीतसिंह ने कहा—"सुनो ! यही निर्णय ठीक है। इस बच्चे ने पत्थर मुझे नहीं, बेरी को मारा था और इसलिए मारा कि चार-पाँच बेर मिल जायँ। बेरी का वृक्ष पत्थर खाता है और बेर देता है। इसका पत्थर बेरी को लगा नही, मुझे आ लगा। मेरे साथ बेर लगे हुए है नहीं, गाँव लगे हुए है। इसलिए इसको पाँच गाँव मिल गए। मैं अपनी शक्ति के अभिमान में इसे दण्ड दूँ तो मैं बेरी के वृक्ष से भी छोटा बन जाऊँगा।"

यह थी महाराज रणजीतसिंह की नम्रता ! इस नम्रता के कारण आज भी लोग उन्हें स्मरण करते है, उनका आदर करते हैं। और जिन लोगों ने अभिमान किया, उनकी जो अवस्था हुई वह इतिहास के पन्नों में विद्यमान है। मुगलों को देखो, दूसरों को देखो, उनकी क्या दशा हुई ?

अभिमान बुद्धि को बिगाड़नेवाला है। नम्रता उसे सुमार्ग पर ले जाती है। और फिर नम्रता से एक लाभ भी है। जो ज्ञानी लोग है वे नम्र मनुष्य को ही अपना ज्ञान देते हैं। जो अभिमान से अकड़ा बैठा है उसे कोई कुछ नही देता। अफ्रीका में जेराफ़ नाम का एक पशु होता है, कद घोड़े जैसा, ग्रीवा ऊँट से भी लम्बी। उस गरीब की गर्दन कभी नीचे होती नही। वृक्षों के ऊपर की पत्तियाँ वह खाता है। नीचे जो फल हैं वे उसे दिखाई ही नही देते। अब जो व्यक्ति हर समय अभिमान से गर्दन अकड़ाये रक्खे, उसे ज्ञान कहाँ से मिलेगा ?

परन्तु यह सब-कुछ कहने के पश्चात् भी बुद्धि की कथा तो समाप्त नहीं होती; अभी तो बहुत-कुछ कहने को शेष है। परन्तु दिन रह गये हैं केवल चार। मैं मानव को मानव बनाने की योजना का वर्णन कर रहा हूँ। अभी तो इस योजना का केवल चौथाई भाग आपके सामने रक्खा, तीन-चौथाई भाग तो अभी शेष है। इसलिए अब बुद्धि की बात अधिक नही कहता, आगे चलो।

बुद्धि के पश्चात् एक और वस्तु है हृदय, जिसे प्राय: लोग दिल कहते हैं। परन्तु संस्कृत के इस हृदय शब्द में जो सौंदर्य है वह उर्दू के दिल शब्द में नही। हृदय शब्द तीन अक्षरों से मिलकर बना है। **'हृ'—लेता है, 'द'—देता है और 'य'—चलता है। वस्तु एक है,**

काम तीन हैं—

ख़ानये-कुदरत ने दिल का नाम यह कह के लिखा,
हर जगह इस लफ़्ज़ में माऽने बदलते जायेंगे ।।

बृहदारण्यक उपनिषद् का ऋषि कहता है कि हृदय में प्रजापति रहता है, वही इसको असुर=राक्षस बना देता है, वही इसको आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर ले-जाकर देवता बना देता है, वही इसे मनुष्य बनाता है—

दिल ही की बदौलत रंज भी है, दिल ही की बदौलत राहत भी ।
ये दुनिया जिसको कहते है, दोज़ख़ भी है और जन्नत भी ।।

सब-कुछ यहीं है और यह दिल नरक और स्वर्ग दोनों बनाता है। उर्दू के एक कवि ने बहुत सुन्दर कहा—

खीरः है, क़हर है, क़यामत है ।
दिल जो बे-इख़्त्यार होता है ।।

यदि यह आपके वश मे न रहे, कुमार्ग पर चल पड़े, बुरे विचार इसमें आने लगें और बैठ जायें तब विनाश होता है । और यह वश में कब नहीं रहता ? जब इसमें वासना जाग उठे, इच्छाएँ जाग उठें, इस शरीर को, इन्द्रियो को प्रसन्न करने की भावनाएँ जाग उठें—

सरापा आरज़ू होने ने बन्दा कर दिया हमको ।
वगरना हम खुदा थे गर ये दिल बेमुद्दआ होता ।।

इच्छाएँ न रहे, प्रकृति के प्रलोभन न रहें और केवल उस प्रभु प्रीतम प्यारे का प्यार जाग उठे तो यही हृदय आत्मा की आँखे खोल देता है । वह अपने प्रीतम के साथ मिल जाता है । प्रभु की कृपा उसे मिल जाती है । और जिसे यह कृपा मिलती है—

लाखों में इन्तिख़ाब के क़ाबिल बना दिया ।
जिस दिल को तुमने देख लिया दिल बना दिया ।।

लाखों में नही, करोडों में वरण के योग्य हो जाता है वह, जिसपर प्रभु की कृपा हो जाती है, जिसमें प्रभु का प्यार जाग उठता है । उर्दू के एक और कवि ने कहा—

सकूने-दिल जहाने-बेशो-कम में ढूंढने वाले !
यहाँ हर चीज मिलती है सकूने-दिल नहीं मिलता ।।

हाय-हाय ! भटकता है वह, टक्करें मारता है। कभी धन की ओर भागता है, कभी सन्तान की ओर, कभी शक्ति की ओर भागता है, कभी शासन की ओर, कभी मकानों और सम्पत्ति में। परन्तु, उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्रों मे, संगमरमर से बने भवनों मे—कही भी तो यह हृदय की शान्ति नहीं मिलती। अरे मिले कैसे ? ये सब प्रकृति के रूप हैं। प्रकृति में सुख, चैन, शान्ति, आनन्द है नही। यह शान्ति और आनन्द मिलते है भगवान् की गोद में जाने से, उसके चरणों में दिल को टिका देने से और तब—

अब मुझको है क़रार तो सबको क़रार है।
दिल क्या ठहर गया कि ज़माना ठहर गया॥

इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने कहा कि इस हृदय में प्रजापति रहता है। केवल अच्छे विचार उत्पन्न हों, केवल भगवान् की भक्ति के लिए भावना उत्पन्न हो और उसपर आचरण हो तो मनुष्य देवता बन जाता है। केवल बुरे विचार उत्पन्न हों, केवल प्रकृति के बन्धनों में और अधिक जकड़े जाने की इच्छा उत्पन्न हो और उसके अनुसार आचरण हो तो मनुष्य राक्षस बन जाता है, और दोनों प्रकार के मिले-जुले विचार हों तो मनुष्य बन जाता है।

परन्तु लो जी ! साढे नौ तो बज गए। शेष बात कल।

पाँचवाँ दिन

(आज कथा के पाँचवे दिन पहले सभी दिनों से सुननेवालों की भीड बहुत अधिक थी। पूज्य स्वामी जी मंच पर बैठे। ऊँची गाती हुई आवाज़ में देर तक एक ही साँस मे ओ३म् का उच्चारण करते रहे, तब बोले —)

मेरी प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

बुद्धि और हृदय की बातें कह रहा था मैं। बता रहा था कि मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए बुद्धि को, मन को ठीक रखने की आवश्यकता है। यह भी बता रहा था कि बुद्धि को ठीक रखने के लिए सत्संग और स्वाध्याय की आवश्यकता है। जो लोग सत्संग में आते

है, वे कुछ-न-कुछ लेकर ही जाते है। कुछ भी न ले-जा सकें तो २४ घण्टों में उनका कुछ समय तो सुख और शान्ति से व्यतीत हो ही जाता है। बुरे विचार नहीं आते। जिह्वा को बुरी बातों के प्रयोग के लिए समय नहीं मिलता। कुछ-न-कुछ लाभ तो उनको भी होता है जिनके पल्ले कुछ न पड़े। परन्तु सत्संग में, कथा मे आने का पूर्ण लाभ उनको होता है जो सुनते है, घर में जाकर सुने हुए को विचारते है, विचारने के पश्चात् अपने जीवन को उसके अनुसार ढालते है। कुछ लोग वर्षों तक सत्सग में आते हैं, कथाएँ सुनते है परन्तु उनके मन कोरे-के-कोरे रहते हैं; ये लोग एक कान से सुनते है, दूसरे से निकाल देते है। सत्संग में आने की वे केवल एक रस्म पूरी करते हैं, वास्तव में आते नहीं।

एक सज्जन थे; प्रतिदिन सत्संग में जाते थे जहाँ एक पण्डित जी कथा करते थे। एक दिन अपने नौजवान लड़के से बोले—"तुम भी कथा सुनने जाया करो।" लडका गया। उस दिन पण्डित जी ने कहा—गाय कोई वस्तु खा रही हो तो उसे रोकना नही चाहिए। इस बात को पल्ले बाँधकर वह घर आ गया। दूसरे दिन दुकान खोली। दुकान थी राशन की—चावल, दाल, आटे आदि की। पिता जी बाज़ार में परली ओर एक और दुकान पर बैठ उस दुकानदार से बातें कर रहे थे। इतने में एक गाय आई। उसने चावलों के ढेर पर मुँह मारा। चावल खाने शुरू कर दिए। लडके ने उसे देखा, दुकान से लाठी उठाई, तभी उसे पण्डित जी की बात स्मरण आई कि गाय कुछ खाती हो तो उसे रोकना नही चाहिए। लाठी को उसने वापस रख दिया। गाय को देखता रहा कि चावल खा रही है। बाजार के परली ओर से पिता ने यह अवस्था देखी तो दौडता हुआ दुकान पर आया; बोला—"अबे! देखता नहीं है? तेरी आँखे खुली हैं या बन्द?" पुत्र ने कहा—"देखता हूँ पिता जी! गाय चावल खा रही है।" पिता ने डाँटकर पूछा—"तो फिर इसे रोकता क्यों नही? उठा लाठी, मार इसे!" पुत्र ने कहा—"पिता जी! आपने कहा था न कि पण्डित जी की कथा सुनने जाया करो।" पिता गर्जा—"तब क्या हुआ?" बेटे ने कहा—"पण्डित जी ने कहा था—गाय कुछ खाती हो तो उसे रोकना नहीं चाहिए, खाने देना चाहिए।" पिता चिल्लाकर बोला—

"अरे मूर्ख ! कथा की बात केवल सुनने के लिए होती है, आचरण करने के लिए नही। उसे सुनकर वही छोड आया कर।"

अब ऐसे व्यक्ति को सत्सग से क्या मिलेगा? सत्सग का लाभ तो तब है जब सुनी हुई बात को जीवन मे ढालो। और फिर कई लोग वे होते है जो जान-बूझकर सत्सग मे नही आते। एक प्रकार के लोगों का वर्णन मैने कल किया था। उन्हें डर लगता है कि सत्संग मे या कथा में कोई अच्छी बात सुन ली तो उसपर आचरण करना पडेगा, ऐसा करने से उनका व्यापार खराब हो जायेगा। दूसरी प्रकार के लोग वे होते है जो समझते है कि उन्होंने सब कुछ समझ लिया है, सब-कुछ जान लिया है, अब कुछ भी समझना और जानना शेष नहीं। तब सत्संग में जाने का लाभ क्या? ऐसे लोग भूल जाते हैं कि सब-कुछ जानने और समझने के पश्चात् भी सब-कुछ समझना और जानना शेष रहता है। और फिर मन का यह शीशा है न, इसे प्रतिदिन साफ करने की आवश्यकता है। पड़ा रहे, धूल पडती रहे तो अच्छा-भला शीशा भी खराब हो जाता है, उसमें कुछ दिखाई नही देता।

अंगीठी जल रही थी एक। कोयले धधक रहे थे। प्रत्येक कोयला लाल सुर्ख था। एक कोयले ने सोचा, अगीठी से जो कुछ मिल सकता था वह मैने पा लिया, अब इसकी कैद में रहने का लाभ क्या? मन मे यह बात आई तो उछला। धधकता हुआ सुर्ख कोयला अगीठी से बाहर जा गिरा। थोड़ी देर वह धधकता रहा, तब उसकी चमक कम हुई। धीरे-धीरे वह काला पड़ा और बुझ गया।

अरे भाई! सत्सग की अंगीठी मे आये हो तो सत्सग को छोड़ो नहीं। नही तो उस कोयले-जैसी अवस्था होगी। बुद्धि को जग लग जायेगा। यह बुद्धि है न, यह मन, यह हृदय --इसको प्रतिदिन माँजने की आवश्यकता है।

यह हृदय, मन, बुद्धि, दिल-- सब एक वस्तु है। उपनिषद् में कहा है—

यदिदं हृदयं मनञ्चैतत् ॥

यह जो हृदय है, यही मन है। यह मन, बुद्धि, हृदय, अलग-अलग वस्तुएँ नही है; और इस मन की शक्ति महान् है। यजुर्वेद के ३४वें

अध्याय में वे छह मन्त्र आते है न, जिन्हे हम कई बार पढते हैं, उनमें मन की शक्ति का वर्णन है।

जो जागता हुआ दूर चला जाता है—सूर्य, चन्द्रमा, सितारो तक, उन ब्रह्माण्डों तक जिनका प्रकाश हमारे पास लाखों वर्षो मे पहुँचता है, उनके पास भी जो पल-भर मे पहुँच जाता है और सोया हुआ भी पहुँच जाता है; जो बहुत दूर-दूर तक जाता है; जो चमकनेवालों में सबसे अधिक चमकनेवाला है, उन्हें चमकाने और दिखानेवाला है।

जिससे कर्म करनेवाले धीर लोग निश्चय करके कर्म करते है, यज्ञ करते है, बड़े-बड़े कार्य पूर्ण करते है, जो सबको पहले भी चलाता है, भविष्यत् मे भी चलायेगा जैसे राजा प्रजा को चलाता है।

जो मन सबसे ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का साधन है, जो जागता है, जो स्मरण रखता है, जो इन प्रजाओ, इन्द्रियों मे बैठी हुई ज्योति है, जिसके बिना कोई भी अच्छा कर्म नहीं हो सकता।

जिसने बीते हुए को, आज होनेवाली बातो को और भविष्यत् में होनेवाली बातों को अपने अन्दर ग्रहण कर रक्खा है, जो सप्तहोता की भाँति यज्ञ करता है।

जिस प्रकार रथ के पहिये में अरे लगे रहते है उसी प्रकार जिसके साथ वेदों के मन्त्र रहते है, जिसको पढ़े हुए मन्त्र स्मरण रहते है, जाना हुआ ज्ञान स्मरण रहता है, जिसमें ये सब प्रजाये, ये सब इन्द्रियाँ और यह चित्त माला के मनकों की भाँति पिरोये हुए है।

और जो एक उत्तम सारथी की भाँति मनुष्य को इस प्रकार ले जाता है जैसे सारथी घोड़ों को चलाता हो; तीव्र बुद्धि से और चमकते हुए ज्ञान से जो हृदय में बैठा है, जो कभी बूढा नही होता, जिससे अधिक शक्तिशाली कुछ भी नहीं है।

हे भगवन्! मेरे उस मन को शिव सकल्प, उत्तम विचार दो!

यह है मन की शक्ति! इन छह मन्त्रो का भाव मैने आपको बताया। इन्ही मे मन्त्र आता है—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

भगवान् दयानन्द यजुर्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए

लिखते है कि जिस व्यक्ति का मन योगसाधन से शुद्ध हो गया है वह आज से करोडों और अरबों वर्ष पहले हो चुकी बातो को, आज होनेवाली बातों को और आज से करोडों-अरबों वर्ष पश्चात् होनेवाली बातो को इस प्रकार जान लेता है जैसे सब-कुछ उसके समक्ष खडा है—तीन काल का ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है। इतनी बडी शक्ति है इस मन मे। जो इसको जीत लेता है वह सबको जीत लेता है।

जितं जगत् केन ?

इस ससार को कौन जीत लेता है?

श्री शंकराचार्य जी ने उत्तर दिया—

मनो हि येन ॥

जिसने मन को जीत लिया, वह सारे संसार को जीत लेता है।

और इस मन को शुद्ध बनाने, जीतने का उपाय क्या है? सत्संग, स्वाध्याय और सुप्रसन्नता।

जो लोग नीरस प्रकृतिवाले है, हर समय सडियल-सा मुँह बनाये रखते हैं उनका मन कभी वश में नही रहता; और जिसका मन वश में है उसके मुख-मंडल पर एक प्रकाश दिखाई देता है, एक प्रसन्नता खेलती है, एक अद्भुत नशा उसे चढा रहता है—प्रभु के प्यार का नशा। यह नशा पियो मेरे भाई! दूसरे सब नशे व्यर्थ है।

देखो! वेद में नशा पीने की बात लिखी है। आप कहेंगे, आर्यसमाज की वेदी से तू यह कैसी बात कहता है आनन्द स्वामी! परन्तु सत्य कहता हूँ, वेद मे सचमुच नशा पीने की बात लिखी है परन्तु उस नशे की नही जो प्रातः पिया तो शाम को उतर गया और शाम को पिया तो प्रातः उतर गया।

महाराज रणजीतसिंह जा रहे थे सायकाल बाजार से। हाथी पर सवार थे। सामने उनका धोबी खड़ा था जिसने शराब पी रक्खी थी। महाराज की एक ही आँख थी, दूसरी नही। शराब के नशे मे मख़मूर धोबी उनके पास आया और बोला—"अरे ओ काणे! यह कट्टा बेचेगा?" हाथी को वह कट्टा कह रहा था। महाराज ने कहा—"इसे पकड़ लो, कल हमारे सामने उपस्थित करो।" दूसरे दिन दरबार लगा, बुलाया गया धोबी। उसका नशा अब उतर चुका था,

वह होश में था। महाराज ने पूछा—"क्यों भाई! वह कट्टा खरीदेगा?" धोबी ने हाथ जोड़कर कहा—"वह खरीदार तो प्रातः चला गया महाराज! अब तो आपका सेवक यह धोबी शेष है।"

ऐसा नशा क्या हुआ जो शाम को आये और प्रात होते ही चला जाय?

शराब चढ़ के उतरने वाली पिलाई तो क्या पिलाई साक़ी!
जो चढ़ के इक बार फिर न उतरे वो मय पिलाये तो हम भी जानें॥

उस 'मय' को, उस शराब को मैं पिलाता हूँ। मैं उसी कम्पनी का एजेण्ट हूँ जिसके सम्बन्ध में वेद ने कहा है—

सुरा त्वमसि शुष्मिणी। यजु० १९।७॥

तू शराब है प्रभो! अत्यन्त मदकारक शराब! ऐसा नशा जो कभी उतरता नहीं। और गुरुजी ने भी तो कहा है—

भंग भसूड़ी सुरापान उतर जाय प्रभात।
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात॥

यह पियो मेरे भाई! यह पियो!

पीना हराम है न पिलाना हराम है।
पीने के बाद होश में आना हराम है॥

यह पियो, फिर देखो, कैसा आनन्द आता है। अन्य कोई वस्तु अच्छी लगेगी ही नहीं। मन, बुद्धि, हृदय, सब स्वच्छ एवं पवित्र हो जायेंगे, ठीक मार्ग पर चलना आरम्भ कर देंगे। और यह मन कितनी अमूल्य वस्तु है, कितनी शक्तिशाली, इसका कोई ठिकाना नहीं है।

मेरे अपने जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता। मैं गया चित्रकूट। वही चित्रकूट जिसके सम्बन्ध में तुलसीदास जी ने कहा—

चित्रकूट के घाट पै भई सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसें तिलक लेत रघुवीर॥

वहीं एक महात्माजी रहते थे एक कुटिया में। उसी कुटिया में उनका सत्संग लगता था। लोग उनका उपदेश सुनते, उनसे प्रश्न पूछते, वे उत्तर देते। मैं भी उस सत्संग में जाता। कभी-कभी उनसे प्रश्न भी पूछता। एक दिन मैंने कहा—"महात्माजी! आप तो प्रभु

के भक्त है, प्रभु का दर्शन आप करते हैं, उनसे आपका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अब कभी उन्हे मिलें तो मेरा एक संदेश उन्हे दीजिए।"

वे बोले—"क्या कहूँ?" मैंने कहा—"उन्हें मेरा सदेश दीजिए कि महाराज! यह ससार तो आपने बना दिया, इसे बनाना आपका स्वभाव है। बार-बार आप इसे बनाते है परन्तु यह संसार अच्छा तो है नहीं। इसमें कष्ट-क्लेश बहुत है, रोना बहुत है, आँसू बहुत है, इस बार इसे बनाएँ तो दो वस्तुएँ न बनायें।"

वे बोले—"कौन-सी दो वस्तुएँ?" मैने कहा—"एक तो पेट, दूसरे मोह-ममता। ये दो न रहे तो ससार के ६० प्रतिशत कष्ट-क्लेश समाप्त हो जायेंगे।"

वे हँसते हुए बोले—"अच्छी बात है, तुम्हारा सन्देश दे दूँगा।"

परन्तु यह तो हँसी की बात थी। पेट और मोह-ममता के बिना संसार बनता नही। मै चित्रकूट से चलने लगा तो एक बार पुनः उन महात्मा के दर्शन के लिए गया। इतनी देर उनका सत्सग किया, इतना-कुछ उनसे सुना, उसका धन्यवाद करने गया। धन्यवाद कर चुका तो बोला—"महाराज! अब कोई ऐसा उपदेश दीजिए जिसे मैं सदा स्मरण रख सकूँ और जिसपर आचरण कर सकूँ।" उन दिनों मेरा नाम खुशहालचन्द था।

वे बोले—"देखो खुशहालचन्द! तुम हो यात्री, अपने पास लोटा रक्खा करो। तुम स्थान-स्थान पर जाते हो, लोटा बहुत काम आयेगा।"

मैंने कहा—"यह तो ठीक बात है महाराज! मै पहले भी अपनी बगल में लोटा रखता हूँ, अब अधिक सँभालकर रक्खा करूँगा।"

मैंने अपना कम्बल उठाया। उन्हे प्रणाम किया और चलने लगा तो वे बोले—"तू समझा भी मैंने क्या कहा? लोटे का तात्पर्य समझा तूने?"

मैंने कहा—"मै तो लोटे का अर्थ लोटा ही समझा महात्माजी!"

वे बोले—"देखो! तुम हो अनन्त के यात्री। अनन्त काल से यात्रा कर रहे हो। कभी एक रूप में, कभी दूसरे रूप मे। न जाने कब से तुम यात्रा कर रहे हो, न जाने कहाँ-कहाँ पहुँचे हो, न जाने कब तक

यात्रा करनी है, कहाँ-कहाँ पहुँचना है। मन के इस लोटे को अपने पास रक्खो, सँभालकर रक्खो, साफ रक्खो। कौन जाने किस यात्रा में, किस पहाड की कठिन चढ़ाई को चढते समय कोई तुझे सन्त-महात्मा मिल जाय, तेरे इस लोटे में ज्ञान का अमृत डाल दे, जो तेरे जीवन को परिवर्तित कर दे, तेरे लिए सुख-शान्ति और आनन्द का मार्ग खोल दे।"

मैंने सोचते हुए कहा—"आप ठीक कहते हैं महात्माजी! इस अनन्त यात्रा में यह मन-रूपी लोटा पास रहना चाहिये।"

वे बोले—"ठीक तो कहता हूँ, परन्तु क्या तेरे पास यह लोटा है?"

मैंने आश्चर्य से कहा—"मेरे पास? मन तो है मेरे पास!"

वे बोले—"आँखे बन्द करके देख तू।"

मैंने आँखे बन्द कीं, मन को ढूंढा परन्तु वह तो वहाँ था ही नहीं। उस कुटिया मे नही था; चित्रकूट में भी नहीं था। यू० पी० के किसी दूसरे नगर में भी नहीं था। चित्रकूट से दूर पंजाब प्रान्त मे लाहौर नगर के भीतर अनारकली बाजार के पास, गणपत रोड पर, मिलाप के कार्यालय में घूम रहा था। कार्यालय के कमरे मे जाकर देख रहा था वहाँ क्या हो रहा है? मैने शीघ्रता से आँखे खोलकर कहा—"मेरा लोटा मेरे पास नही है महाराज!"

वे बोले—"इसे पास रक्खो! स्वच्छ रक्खो, यही बात मैं कहना चाहता था।"

मैने आँखे झुका ली। समझा शायद वे कुछ कहेगे। परन्तु पहले मै कुटिया से जाने को बेचैन था, अब वे अपना कम्बल उठाकर बाहर निकले तो मैंने कहा, "महात्माजी! यह जो आग लगाई है उसे बुझा तो जाओ!"

वे दूर जाते हुए बोले—"मैने आग लगा दी, बुझानेवाला कोई और मिलेगा।" और ऊँची आवाज में गाते हुए चले गये—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन के मते न लागिये, पलक-पलक मन और॥

तब की लगी है यह आग। इसने मेरा जीवन परिवर्तित कर दिया, मेरे जीवन की धारा बदल दी।

यह है मन की शक्ति ! जिसने साधना से इस मन को शुद्ध कर लिया, इसको वश मे कर लिया उसका जीवन सफल हो गया । यह मन ही हृदय है । यह हृदय ही प्रजापति है । इसी के विचारों और संकल्पो से मनुष्य बनता है, देवता भी बनता है और राक्षस भी बनता है । उपनिषद् में भी तो कहा है—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति ।

जैसा यह सोचता है, जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है । और फिर आगे चलकर यहाँ तक कहा—

कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते ।

मनुष्य अपने द्वारा निर्मित संसार मे उत्पन्न होता है ।

आप कहेंगे यह तो असत्य है । संसार तो भगवान् ने बनाया है । आप ठीक कहते है संसार को बनानेवाला परमात्मा है परन्तु किसके लिए ? किसकी इच्छा से वह इस संसार को बनाता है ? इस मनुष्य की इच्छा से, इसके लिए बनाता है । आपके माता-पिता कैसे हों, पति कैसा हो, पत्नी कैसी हो, सन्तान कैसी हो, आपकी आर्थिक स्थिति, आपका देश, आपकी जाति का राज्य कैसा हो, इसका निर्णय आप करते हैं अपने विचारों से, पिछले जन्म में और इस जन्म में किये हुए अपने कर्मों से । आपके कर्मों का फल यह जीवन है, इसका वातावरण है, आप इसका निर्माण करते है ।

हम मे से प्रत्येक व्यक्ति में एक ब्रॉडकास्टिग स्टेशन लगा हुआ है । विचारों की लहरें उससे उठती हैं और हर ओर फैल जाती है । विचार जड नहीं है, अनावश्यक भी नहीं; विचारों की प्रतिकृति (तस्वीरे) भी होती है, रंग भी होते हैं । दस प्रकार के रग हैं इन विचारों के । ये आगे बढ़ते है, अपना रंग फैलाते हुए चले जाते हैं । ऐटम बम मे इतनी शक्ति नहीं जितनी कि विचार मे है ।

अपने इस देश को देखो ! एक देश था, कैसे दो भागों में बँट गया ?

एक गलत विचार से अंग्रेज़ ने इस देश के लोगो को विचार दिया कि तुम्हारी जाति एक नहीं, तुम भारतीय अथवा हिन्दुस्तानी भी नही, हिन्दू और मुसलमान हो । परिणामस्वरूप दोनो परस्पर लडे,

दोनो का देश टुकड़े-टुकडे हो गया । अग्रेज इस देश में आया । इसे देखने के पश्चात् उसने निर्णय किया कि यदि देश पर शासन करना है तो इसके विचारों को बदलना होगा । सबसे पहले उसने विचार दिया —"हम आ गये है । हम तुम्हारी रक्षा करेगे, हम न्याय करेंगे । तुम्हे कुछ करना नही है, तुम आराम से सो जाओ ।" और हमने कहा— "सत् वचन महाराज !" फिर उसने विचार दिया—"तुम मूर्ख हो । अपने देश का प्रबन्ध तुम स्वय नही कर सकते, हम यह प्रबन्ध करेंगे।" हमने कहा—"सत् वचन महाराज !" उसने कहा—"तुम्हारे पूर्वज मूर्ख थे, वे कुछ नही जानते थे, हम तुम्हारे लिए प्रकाश लेकर आये है ।" हमने कहा—"सत वचन महाराज !"

वाल्टेयर नाम का एक यूरोपियन विद्वान् आया था यहाँ । उसने भारत की यात्रा की । यात्रा के पश्चात् उसने भारतीयों के सम्बन्ध में लिखा—"ये बहुत भोले, बहुत सीधे लोग है । ये दौड़ना-भागना पसन्द नही करते, खड़े होने की अपेक्षा बैठ जाना पसन्द करते हैं, बैठने के स्थान पर लेटना अच्छा समझते हैं, लेटने की अपेक्षा सो जाने को उत्तम समझते है और सो जाने की अपेक्षा मर जाने को श्रेष्ठ मानते हैं ।"

हमने उसकी बात सुनी और कहा—"सत् वचन महाराज !"

ये भ्रामक विचार थे जिन्हे अंग्रेज ने हमें दिया और जिनकी शक्ति से वह दो सौ वर्ष तक इस देश पर राज्य करता रहा । भगवान दयानन्द ने इस देश पर कृपा की और इसकी विचारधारा को बदल दिया। गर्जती हुई आवाज मे उन्होंने कहा—"तुम दुर्बल नहीं, शक्तिशाली हो ! तुम्हारे पूर्वज मूर्ख नही थे, अपितु बहुत विद्वान् और शक्तिशाली थे ! उनका सिक्का सारे ससार में चलता था । किसी वस्तु की कमी नही तुम्हारे पास—भुजबल, धन-सम्पत्ति, बुद्धि—सब-कुछ तुम्हारे पास है । तुममें न्यूनता आई है केवल इसलिये कि तुम्हारी विचार-शक्ति बिगड़ गई है । तुम अपने को दीन-हीन, निर्बल और दुर्बल समझने लगे हो ।"

पूना में भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"वेद के आधार पर मै वायु-यान बना सकता हूँ । परन्तु मैं वायुयान बनाना नही चाहता । मै इस

देश की उस विचारधारा को बदलना चाहता हूँ जिसने उसे दास बना दिया है।" यह उस समय की बात है जब यूरोप में भी अभी वायुयान नही बने थे; केवल बेलून उड़ाये जाते थे। और वस्तुत महर्षि ने इस देश की विचारधारा बदल दी। एक सोये हुए, दबे हुए देश को जगा दिया। यदि दयानन्द न आते तो शायद यह देश अब भी स्वतन्त्र न होता।

विचार की शक्ति बहुत महान् है।

सम्राट् औरंगजेब था न, उसके मन्त्री थे दीवान वलीराम। उनकी बात पहले भी कई स्थानो पर सुनाई, आज भी सुनाता हूँ। औरगजेब के पास जो वाद (मुक़द्दमे) आते, वलीराम प्रतिदिन उनकी मिस्ले तैयार करके औरंगज़ेब के सामने प्रस्तुत कर देते। एक दिन वे घर से आये। मिस्लों का बस्ता उनके पास था। दरबार लगा था। दरबार का नियम यह था कि जब तक सम्राट् किसी की ओर देखकर उसे बैठने के लिए न कहे तब तक वह बैठता नही था। वलीराम आये तो सम्राट् किसी कार्य में व्यस्त थे। वलीराम खड़े रहे पाँच मिनट, दस मिनट, पन्द्रह मिनट, तब बस्ता नीचे रक्खा और दरबार से बाहर चले गये। घर पहुँचकर उन्होने लोगों को बुलाया, बोले—"नगर में घोषणा करा दो कि वलीराम अपना सब-कुछ देता है, घर-बार, धन-सम्पत्ति, जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो आकर ले जाये।" स्वयं यमुना के किनारे जाकर रेत में लेट गये। इधर दरबार मे औरंगजेब को वलीराम की याद आई तो उसने पूछा—"अरे भाई! वलीराम नही आये?" सभासदों ने कहा—"श्रीमन्! आये तो थे। यहाँ खड़े रहे। आपने उनकी ओर देखा नही, वे चले गये।" सम्राट् ने कहा—"यह क्या हुआ? जाओ उन्हें जल्दी बुलाकर लाओ!" सिपाही वलीराम के घर पहुँचा तो देखा लूट मची हुई है, सैकड़ों व्यक्ति मकान खाली कर रहे है। कोई ग़ालीचा लिये जाता है, कोई बर्तन लिये जाता है, कोई झाड और फ़ानूस इकट्ठे कर रहा है, कोई आभूषण और कपड़े लिये जाता है। सिपाही ने पूछा—"यह लूट क्यों मचा दी है तुमने?" लोगों ने बताया—"लूट नहीं है, वलीराम ने अपना सब-कुछ दान कर दिया है, सबको कह दिया है जिसे जो वस्तु चाहिये ले जाये।" सिपाही

ने पूछा—"और वलीराम कहाँ है ?" लोगों ने बताया—"यमुना के किनारे चले गये है और वही लेटे है।" सिपाही ने जाकर महाराज को सूचना दी। महाराज बोले—"जाओ यमुना के किनारे, वलीराम को कहो कि मैं स्मरण करता हूँ, इसी समय यहाँ आये।" सिपाही वलीराम के पास पहुँचा। महाराज का सन्देश दिया। वलीराम ने कहा—"अपने सम्राट् को बोलो—अब पुराना वलीराम है नहीं, नये वलीराम को तुम्हारे पास आने की आवश्यकता नही, अवकाश नहीं।"

सिपाही ने कहा—"वलीराम ! तुम्हारा मस्तिष्क विकृत हो गया है जो महाराज को ऐसा उत्तर देते हो।"

वलीराम बोले—"यही मेरा उत्तर है। तुम्हारी इच्छा हो तो सम्राट् को यह उत्तर सुना दो, न हो तो तुम भी बैठ जाओ।"

सिपाही ने सम्राट् के पास जाकर यह उत्तर सुना दिया। सुननेवाले चकित हुए। सम्राट् ने सोचते हुए कहा—"अच्छी बात है। अब मत जाओ उसके पास, हम स्वयं चलेंगे।"

राजसभा समाप्त हुई। सम्राट् अपने मन्त्रियों के साथ यमुना के किनारे पहुँचा। दूर से देखा वलीराम पाँव पसारे लेटा हुआ है। वलीराम ने भी देखा कि सम्राट् आ रहा है। वह भी उठा नही; वैसे ही लेटा रहा। सम्राट् ने निकट आकर कहा—"वलीराम ! ये पाँव कब से पसारे है ?" वलीराम ने उत्तर दिया—"जब से हाथ समेट लिये हैं।" सम्राट् ने चकित होकर कहा—"इसका तात्पर्य क्या है ?"

वलीराम ने फारसी मे उत्तर दिया—

चूँ बन्दाये बन्दा बूदम बदीदारम न ताख्ती।
अकनू कि क़दम दरराह आँ बन्दापरवर निहादम बदीदारम ताख्ती॥

'जब तक मै तेरा बन्दा था, तेरा दास था तो तूने मुझे देखना भी उचित न समझा। और जबकि मैंने उस परमपिता परमेश्वर के द्वार पर पग रक्खा है, उसकी ओर जाना शुरू किया है तो तू स्वयं मेरा दर्शन करने आया है परन्तु अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं।'

यह है विचार की शक्ति ! प्रात: वलीराम सम्राट् की राजसभा में खड़ा था और सम्राट् उसकी ओर देखता नहीं था। अब सम्राट् वलीराम के दरबार में खड़ा है और वलीराम उसकी तरफ देखने को

तैयार नहीं। एक ही विचार ने उसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया !

विचार की शक्ति कितनी महान् है, इसका एक सुन्दर उदाहरण हमारे इतिहास में मिलता है। हमारा देश विदेशी आक्रमणकारियों और विदेशी पदाधिकारियों के पैरों तले रौंदा जा रहा था। हर ओर अत्याचार हो रहे थे। लोग अपनी शक्ति को भूल गये थे, देश को भूल गये थे, सिर झुकाकर अत्याचार सहते जाते थे। श्री गुरु तेगबहादुर औरंगज़ेब की कैद मे थे। उन्हें शहीद करने का आदेश दे दिया गया। उस समय उन्होंने बालक गोविन्दराय को लिखा—

बल छुटक्यो, बन्धन परे, कछू न होत उपाय।
कह नानक अब ओट हरि, गज ज्यूं होत सहाय॥

बल समाप्त हो गया, बन्धन दृढ है, अब कोई मार्ग नही सूझता, भगवान् ही बचायें तो बचायें। परन्तु बालक गोविन्दराय ने, जो बाद में गुरु गोविन्दसिंह बने, उत्तर दिया—

बल होवा, बन्धन छुटे, सब कछु होत सहाय।
नानक सब कछु तुम्हरे हाथ है तुम ही होत सहाय॥

शक्ति विद्यमान है। बन्धन टूटेंगे अवश्य। सब-कुछ हो सकता है। प्रभु चाहें तो फिर असम्भव क्या है ! और सचमुच ही उन्होंने असम्भव को सम्भव करके दिखा दिया। दबे हुए, सोये हुए लोगों को इस प्रकार जगाया कि जो लोग कल तक अपने को निर्बल समझे बैठे थे, अत्याचार-पर-अत्याचार सहन किये जाते थे, वे ही 'सिंह' बनकर शेरों की भाँति गर्ज उठे। देखते-ही-देखते एक नया प्रकाश जाग उठा, नया उत्साह जाग उठा। औरंगजेब के साम्राज्य की जड़े हिल गई और एक नया दिन आया कि जिस उत्तर-पश्चिमी सीमा से, जिन पहाड़ों से भारत पर बार-बार आक्रमण हो रहे थे, वहीं वीर भारतीयों की सेनाएँ पहुँच गईं। हरिसिंह नलवा की तलवार चमक उठी। महाराज रणजीतसिंह का झण्डा लहराने लगा। यह है विचार की शक्ति !

सरगोधा में एक सज्जन रहते थे। उनकी पुत्री युवती थी। अच्छा घर-वर देखकर उन्होंने बेटी की सगाई कर दी। विवाह में अभी तीन मास शेष थे। सगाई के पश्चात् विवाह से पूर्व लड़कियों की सहेलियाँ प्रायः उनसे विनोद किया करती है। इस लड़की की सहेलियाँ भी करती

थी। एक दिन अपनी सहेलियों के साथ यह लड़की अपने मकान की छत पर खड़ी थी। सामने सड़क से लड़की की ससुरालवालों के ऊँट जा रहे थे जिनपर रूई लदी थी। कितने ही ऊँट थे। एक सहेली ने विनोद में कहा—"अरी रमा! देख, यह रूई तेरे ससुर ने मँगाई है; यह सब तुझे कातनी पड़ेगी।" लड़की ने ऊँट देखे, उनपर लदी रूई देखी और घबराई आवाज में कहा—"इतनी रूई! मुझे कातनी पड़ेगी? कैसे कातूँगी मैं? यह तो कई जन्म में भी समाप्त न होगी। क्या करूँगी मैं?" और उस दिन से उसका हाल बेहाल होने लगा। खाना-पीना छूट गया। बुखार आने लगा। सूखकर वह काँटा हो गई। पिता ने कई डॉक्टर, वैद्य, हकीम बुलाये, कई चिकित्साएँ कराई, परन्तु वह अच्छी नहीं हुई। दो मास हो गये।

अन्ततः पिता को पता चला कि खुशाब के एक बहुत वृद्ध वैद्य हैं जो असाध्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। उन्होंने उस वैद्य को बुलाया। वैद्य ने लड़की को देखा; बोले, "इस प्रकार पता नहीं लगता। मुझे सारी कहानी सुनाओ, यह बीमार कब हुई? कैसे हुई?" तब उन्हें सारी घटना सुनाई गई। रूई से लदे ऊँटों की बात भी सुनाई गई। जिस सहेली ने विनोद किया था, उसने भी बताया कि उसने क्या कहा था। वैद्यजी ने सब-कुछ सुना तो बोले, "अब हो जायेगी चिकित्सा। बीमारी का कारण मुझे पता लग गया।" उस सहेली से बोले—"कल इस लड़की को लेकर ऊपर छत पर चले जाना साय छः बजे। उस समय सामने अग्नि दिखाई देगी। तब इस लड़की को वह बात कहना जो मैं बताता हूँ।" और उसे कुछ बात बताकर वे चले गये। दूसरे दिन वह सहेली उस लड़की को लेकर छत पर गई शाम के छः बजे तो दूर लड़की के ससुर की हवेली के निकट खुले मैदान में एकदम अग्नि जल उठी, बहुत तीव्र, बहुत भयानक अग्नि। वैद्य जी ने वहाँ कितने फटे-पुराने कपड़े, कूड़ा-कर्कट, पुरानी लकड़ियाँ एकत्र करके उन्हें आग लगाई। जब अग्नि की ज्वालाएँ उठी तो सहेली ने कहा—"अरी देख तो रमा! तेरे ससुर के ऊँटो पर जो रूई आई थी वह सब जल गई है, उसे आग लग गई है।" रमा ने अग्नि की उन ज्वालाओं को देखा तो बोली—"रूई जल गई? सारी जल गई?" सहेली ने कहा—"हाँ,

सारी जल गई।" रमा बोली, "तब वह कातनी नही पडेगी ?" सहेली ने कहा—"अब क्या कातेगी! रूई तो समाप्त हो गई।" और उसी दिन वह लड़की ठीक हो गई। उसका रंग बदल गया। शरीर में फिर से शक्ति आ गई।

यह है विचार की शक्ति! एक विचार ने उसे रोगी बना दिया, दूसरे ने ठीक कर दिया।

और अमेरिका के वह विद्वान् हुए हैं न मिस्टर मार्डन, जिन्होंने Peace, Power and Plenty नामक पुस्तक लिखी है, उन्होने भारत में रहनेवाले एक यूरोपियन फ़ौजी कर्नल की घटना लिखी है। यूरोप में भारत की भाँति गर्मी होती नही। ये महोदय सेना में भर्ती होकर यहाँ आये। गर्मियाँ आरम्भ हुई तो कुछ कष्ट होने लगा। डॉक्टर के पास गये। डॉक्टर ने इन्हे देखा। देखने के बाद बोला—"आपको क्या बीमारी है, क्या चिकित्सा करनी है, और क्या सावधानी बर्तनी है, यह मैं लिखकर भेज दूंगा।" कर्नल महोदय अपने बँगले पर वापस आ गये। शाम को बैरे ने एक पत्र लाकर दिया; बोला—"इसे डॉक्टर महोदय का आदमी दे गया है।" कर्नल ने चिट्ठी पढी, उसमें लिखा था—'तुम्हारे शरीर की अवस्था बहुत बिगड़ चुकी है। इसके ठीक होने की मुझे आशा नही है। एक फेफडा समाप्त हो चुका है, दूसरा समाप्त होने-वाला है। हृदय की अवस्था यह है कि किसी भी समय इसकी गति बन्द हो सकती है। इसलिए मेरा परामर्श यह है कि हिलो-डुलो नही, बिस्तर पर लेटे रहो। किसी को कोई पत्र आदि लिखना हो तो लिख दो।" कर्नल ने पत्र पढ़ा तो उसके हाथ-पाँव काँपने लगे, चेहरा पीला पड गया, हवाइयाँ उड़ने लगीं। बड़ी कठिनता से पलँग के पास पहुँचे। बिस्तर पर लेट गये। यह भी साहस नही कि पत्नी को तार दे दे। मन-ही-मन उन्होने सोचा—'उसे तार देने का लाभ क्या है? शायद कल तक मै मर जाऊँगा, उसे स्वय ही पता लग जाएगा।' बैरा खाना लाया तो एक ग्रास भी उनसे खाया नही गया। दूसरे दिन तक उनकी दशा इतनी बिगड़ गई कि बैरा भी घबरा गया। दौड़ा-दौडा वह डॉक्टर महोदय के पास पहुँचा; बोला, "डॉक्टर! हमारे घर पर आइये, कर्नल महोदय तो जा रहे हैं।" डॉक्टर ने पूछा—"कहाँ जा रहे है ?

लन्दन ?" बैरा बोला, "नहीं श्रीमन् ! वे इस संसार से जा रहे हैं, बहुत ही बुरी अवस्था है, आकृति पहचानी नहीं जाती।"

डॉक्टर महोदय शीघ्रता से बँगले में पहुँचे तो कर्नल की अवस्था देखकर चकित रह गये; दुःखी होकर बोले—"आपको हुआ क्या है ? कल तो आप अच्छे-भले थे ?" कर्नल ने बहुत धीमी आवाज़ में कहा—"आपको तो सब पता है डॉक्टर महोदय ! आपने ही तो मुझे पत्र भेजा था।" डॉक्टर महोदय चकित होकर बोले—"पत्र ! आपको ? मैंने तो कोई पत्र नहीं भेजा।" कर्नल ने कहा, "आपका आदमी ही तो देकर गया था।" डॉक्टर बोले—"अरे भाई ! मेरा आदमी कैसे आ गया ? आपके लिए कोई पत्र न तो मैंने लिखा और न भेजा।" कर्नल ने बहुत कठिनता से उस पत्र को बाहर निकाला जो तकिये के नीचे रक्खा था। काँपते हाथ से डॉक्टर को पत्र देते हुए कहा—"यह पत्र।" डॉक्टर ने उस पत्र को देखा और चिल्ला उठा, "अरे ! यह पत्र वह आपको दे गया ? यह तो दूसरे व्यक्ति के लिए है, उसके पास जाना चाहिए था।" कर्नल ने आश्चर्य से कहा—"यह मेरे लिए नहीं ?" डॉक्टर महोदय बोले—"बिल्कुल नहीं, इसका तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं। यह यक्ष्मा (तपेदिक) के रोगी के लिए है जो कई वर्षों से रुग्ण है।" कर्नल उठकर बैठ गया; बोला—"तो मेरी बीमारी ?" डॉक्टर ने कहा—"तुम्हें कोई रोग नहीं है। यही मैं आज लिखकर भेजनेवाला था।" और जो कर्नल महोदय मरने की तैयारी कर रहे थे, पलँग से उतरकर खड़े हो गये। एकदम उनकी आकृति बदल गई, आँखों में चमक आ गई। दूसरे दिन कर्नल साहब अच्छे-भले हो गये।

विचार की शक्ति महान् है ! और फिर यह विचार केवल उस व्यक्ति पर ही प्रभाव नहीं डालता जिसके हृदय में उत्पन्न होता है, दूसरों पर भी प्रभाव डालता है। जिस प्रकार ब्रॉडकास्टिंग से उठनेवाली ध्वनि को दूसरे लोग भी सुनते है उसी प्रकार विचार का प्रभाव दूसरो पर भी होता है।

एक वृद्धा माता थी। जा रही थी एक गाँव से दूसरे गाँव की ओर। साथ में उसकी नवयुवती पोती या नवासी थी। गर्मियों के

दिन थे, धूप बहुत तेज थी। तभी एक ऊँटवाला उधर से निकला। उसी ओर वह जा रहा था जिधर यह वृद्धा उस नवयुवती के साथ जा रही थी। वृद्धा ने ऊँटवाले को कहा—"भाई! तुम जा तो रहे हो, इस बच्ची को भी ऊँट पर बैठा लो। आगे जो अमुक गाँव आयेगा वहाँ उतार देना।" "वाह! मै यह कष्ट क्यों उठाऊँ? चला नही जाता तो घर से सवारी ले आती।" और आगे बढ गया। तीस-चालीस कदम ही आगे गया था तो उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि 'मैं भी क्या मूर्ख हूँ! नौजवान लडकी है, वृद्धा को मेरा अता-पता ज्ञात नहीं। लड़की को बैठा लेता तो कही ले जाता, किसी के पास उसे बेच देता। अब भी ऐसा हो सकता है। उसे बैठाकर मैं चला जाऊँगा, वृद्धा को जीवनभर उसका पता नहीं चलेगा।' उसके मन में यह विचार आया तो इसकी लहरें उस वृद्धा के मन में भी पहुँचीं। उसने सोचा—'मैं भी कैसी मूर्खा हूँ! इतनी वृद्धा हो गई, बाल श्वेत हो गये, यह भी नही सोचा कि ऊँटवाला इस नौजवान लडकी को लेकर कही चला जाये तो मै क्या करूँगी? प्रतीत होता है कि ये बाल धूप में ही सफेद हो गये; बुद्धि तो आई नही।' ऊँटवाला धीमा हुआ। वृद्धा उसके पास पहुँची तो वह बोला—"अच्छा माई! ला बैठा दे इस लडकी को, मेरे हृदय में दया आ गई है। मै इसे अगले गॉव में उतार दूँगा।" वृद्धा ने कहा, "नही, अब नहीं बैठाती इसको। हम दोनों पैदल ही जायेंगे।" ऊँटवाले ने पूछा, "अब क्या हुआ? थोड़ी देर पहले तो तू कहती थी इसको बैठा ले, उस समय मैं माना नहीं, अब मेरे हृदय में दया आई तो तू बैठाने को तैयार नही?" वृद्धा देवी ने कहा—"जो तेरे मन मे बैठा है वही मेरे मन में भी है। उसने तुझे जो बात कही वही मुझे भी कही, अब जा अपने रास्ते पर। अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं।"

मन का मन से सम्बन्ध होता है। एक तालाब का अथवा झील का पानी ठहरा हो, उसमें एक पत्थर या एक छोटा-सा कंकर उठाकर फेंकिये तो लहरें उठती है, वहाँ तक चली जाती है जहाँ तक दूसरा किनारा है। वहाँ टकराने के पश्चात् वापस भी आती हैं, इस किनारे आ लगती हैं। इधर से फिर चलती हैं दूसरी ओर। कितनी ही देर

तक यही होता रहता है। इसी प्रकार जगत् में भी यही कुछ होता है। एक विचार उत्पन्न होता है, उसकी लहरें उठती हैं, दूर तक चली जाती हैं। जिसके मन का रेडियो सेट खुला है और उसका बटन ठीक स्थान पर लगा है, वहाँ यह विचार प्रभाव करता है। इसलिए हमारे शास्त्रों ने कहा—रात्रि के समय, अँधेरे कमरे में भी बुरे विचार मत आने दो, क्योंकि इनका प्रभाव दूर तक पहुँचता है। और किसी अन्य तक पहुँचे या न पहुँचे, आप पर तो इसका प्रभाव हुए बिना रहेगा नहीं। यह ईर्ष्या, द्वेष, डाह, दूसरे का बुरा चाहने की भावना—ये दूसरों को भले ही न जलायें, आपको जलाये बिना छोड़ेंगी नहीं। मैंने हाथ में उठाया कीचड़ कि सामने एक सज्जन जा रहे है सफेद वस्त्र पहने, उनपर फेंकूँगा, उनके वस्त्र मैले करूँगा। मैंने फेंका कीचड़, वे सज्जन आगे बढ़ गये, उनपर गिरा नहीं, उनके वस्त्र मैले नहीं हुए, परन्तु मेरा हाथ मैला हो गया।

छः प्रकार का मैल मन, बुद्धि, चित्त और हृदय का होता है—राग, द्वेष, ईर्ष्या, परापकार=चिकीर्षा, असूया और आमर्ष।[1]

राग का अर्थ है मोह-ममता में फँस जाना—यह मेरा है, यह मेरा नही, इस भावना को लेकर बैठ जाना। द्वेष का अर्थ है शत्रुता। व्यर्थ ही यह समझ लेना कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, उसको नष्ट किये बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। ईर्ष्या का अर्थ है डाह—किसी दूसरे की उन्नति देखकर जलना। उसका कुछ बिगड़ता नहीं, अपने मन में ज्वालामुखी जलाये रखना। परापकार=चिकीर्षा का अर्थ है दूसरे का बुरा सोचना कि कैसे इसको गिरायें, कैसे इसे कलंकित करें—इसकी योजना बनाते रहना। आजकल प्रत्येक कार्य योजना (Planning) से होता है; इसके लिए भी प्लान बनाते रहना। असूया का तात्पर्य है कि श्रेष्ठ व्यक्ति में भी बुराई ढूंढने का प्रयत्न करना, उसके गुणों को नहीं देखना, उससे लाभ उठाने का प्रयत्न न करना, उसकी त्रुटियों को खोजते रहना। अमर्ष का अर्थ है क्रोध।

यह छ: प्रकार का मैल जो मन को चिमट जाता है, इसे दूर करने का उपाय मैंने कल बताया था—

१. अमर्ष और आमर्ष दोनों ही शुद्ध है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां-
भावनात्तश्चित्तप्रसादनम् ।।

इसका अर्थ कल बता दिया था, आज नहीं दोहराता। ये चार साधन है जिनसे ये छः मैल दूर होते हैं। और यदि इसके पश्चात् भी कोई बुरा विचार मन में आये तो अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है, अपने-आपको समझाने के लिए। उस विचार को कहो—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मन ।।

अथर्व० ६। ४५। १ ।।

दूर हट जा ऐ मन के पाप! क्यों तू मुझे बुरी बात सिखाने आया है? परे चला जा, मै तुझे चाहता नहीं। मुझे मत चिमट! चिमटना ही चाहता है तो तू वन के वृक्षों से जाकर चिपट, मै तो अपने मन के घर को स्वच्छ करने, सजाने में लगा हूँ।

कुछ लोग कहते हैं कि यह तो शास्त्रों की बातें हुई आनन्द स्वामी! कोई क्रियात्मक उपाय बताओ कि मन को किस प्रकार ठीक मार्ग पर ले जायें। तो सुनिये, आपको सरल और क्रियात्मक उपाय बताता हूँ। पहले शरीर को स्वस्थ रखने के लिए कुछ साधन बतलाये थे, आज मन को ठीक रखने के साधन बताऊँगा।

मन को ठीक रखने के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि इसे किसी केन्द्र पर टिका दीजिये। सूर्य की किरणें है न, इनमें कितने ही रंग हैं। इनमें प्रकाश है परन्तु ये आग नही लगाती। परन्तु इन्हें (आतशी) शीशे के द्वारा एक केन्द्र पर एकत्र कर दीजिये तो यही किरणे आग भी लगाती हैं। मन भी सूर्य की भाँति है। इसमें अनन्त रंग हैं, अनन्त किरणें हैं; हर ओर यह दौड़ता फिरता है परन्तु ध्यान के आतशी शीशे द्वारा इसे केन्द्रित कर दीजिये तो एक महान् प्रकाश जाग उठता है—एक ज्योति, जिसके समक्ष प्रत्येक ज्योति तुच्छ है। किसी शान्त-एकान्त स्थान में हाथ-मुँह धोकर बैठ जाइये। बाहर की आँखे बन्द कर लीजिये। मन की आँख से नाक की नोक पर ध्यान जमाइये। हृदय में ओम् का जाप करते रहिये। मन इधर-उधर होने लगे तो फिर नाक की नोक पर ले आइये। तुरन्त नही, दो-तीन सप्ताह पश्चात् अथवा कुछ और समय

बाद आपको एक भीनी-भीनी सुगन्ध आने लगेगी जैसे कोई अत्यन्त सुगन्धवाला इत्र आपकी नाक मे लगा हो। इसे दिव्य गन्ध कहते है। ऐसे ही कान में ध्यान जमाइये। पहले घूँ-घूँ की आवाज सुनाई देगी, फिर ऐसा प्रतीत होगा कि गड-गड़ करती हुई पहाड़ी नदी भागी जाती है, फिर भाँति-भाँति के वाद्यों की आवाजें आयेंगी। वंशी की आवाजे भी सुनाई देंगी। इस ध्वनि को अनहद नाद कहते है। ऐसे जिह्वा की नोक पर ध्यान स्थिर कीजिये तो अत्यधिक आनन्ददायक रस आने लगेगा।

परन्तु ये आरम्भ की बातें हैं। इस सुगन्धि से, इन वाद्यों (बाजो) से आगे बढो। यह सब प्रकृति है, माया है। कई पन्थों और मतोंवाले यहीं तक पहुँचकर रह गये है। परन्तु यह वास्तविक वस्तु तो नहीं। वास्तविक वस्तु अभी दूर है। वास्तविक वस्तु तक पहुँचने के लिए योग की आठ मंजिलों को पूर्ण करना पडता है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ मंजिलों से गुज़रकर वास्तविक मजिल आती है। परन्तु आजकल जल्दी का, सहल बातों का युग है। कई लोग कहते है कि इन आठ मजिलों को पूर्ण करने में तो बहुत समय लगता है। भला इतना समय है कहाँ? ऐसे ही एक सज्जन मेरे पास आये; बोले—"मन को वश में करने का कोई ऐसा साधन बताइये कि अभी वश में हो जाये।" मैंने कहा—"मेरे पास तो कोई ऐसा साधन है नही। मैं तो सस्ता सौदा बेचता नही, महँगा सौदा बेचता हूँ। परन्तु स्मरण रक्खो! सस्ता रोये बार-बार, महँगा रोये एक बार।" फिर भी एक रास्ता आपको बताता हूँ जो योग की आठ मंजिलों से सरल है। तीन बाते उसके लिए आवश्यक है। इन तीन साधनों को अपनाइये तो मन टिक जाता है। ये तीन साधन हैं—ज्ञान, प्राण और ध्यान।

ज्ञान के द्वारा भागते हुए मन को समझाइये। यह मन है न, भागता बहुत है। आप यहाँ बैठे है, यह कनॉट प्लेस की दुकानों में घूम रहा है, किसी पर्वत के दृश्य देख रहा है, किसी दुकान पर फल खरीद रहा है। इसे ज्ञान के द्वारा समझाइये कि ये सब प्रकृति के रूप हैं, इनकी ओर से हट! उस आनन्द की ओर चल जिससे महान् अन्य कोई आनन्द नहीं।

हुस्न पर मग़रूर होना···

हुस्न का तात्पर्य केवल शरीर की सुन्दरता नही, धन की, सम्पत्ति की, बुद्धि की, शक्ति की, सत्ता की सुन्दरता—ये सब हुस्न है ।

हुस्न पर मग़रूर होना बेहिसाबी बात है ।
चार दिन की चाँदनी है फिर अँधेरी रात है ।।

यह सब समाप्त होनेवाला है; आज है, कल रहेगा नही—इस प्रकार मन को समझाना—इसे ज्ञान कहते है । गीता की भाषा में इसी को वैराग्य कहते है । जिस धन-सम्पत्ति को कमाने के लिए तुम पागल हुए फिरते हो, जिसके लिए अपने स्वास्थ्य को विगाड़ते हो, मन-बुद्धि और चित्त को बिगाड़ते हो, यह साथ जानेवाला है नहीं । आज तक कोई इसे साथ लेकर नही गया—

आई अजल तो आप अकेले चले गये ।
सब-कुछ था जमा घर में मगर कुछ न ले गये ।।

है कोई जो जाते समय अपने सोफे, अपने कोच, अपनी कुर्सियाँ साथ ले गया हो ? शायद दिल्ली में कोई ले गया हो । वैसे जब से ससार बना, कही भी किसी समय भी कोई कुछ नहीं ले गया । सिकन्दर भी खाली हाथ चला गया । मरते समय उसने कहा—"मेरे दोनों हाथ मृत-चैल (कफ़न) से बाहर रखना, ताकि लोग देखें कि इतने युद्धों के बाद, इतने रक्त-पात के पश्चात् जो कुछ मैने प्राप्त किया वह सब यही रह गया है । मै रिक्त-हस्त जाता हूँ ।"

श्री गुरु नानकदेव जी के जीवन में एक ऐसी घटना आती है । प्रभु के गीत गाते, स्थान-स्थान पर घूमते वे लाहौर पहुँचे । वहाँ एक सेठ रहता था दुनीचन्द । जब भी उसके पास एक लाख रुपया एकत्र हो जाता, वह अपने घर पर एक नया झण्डा लगा देता था । ऐसे कितने ही झण्डे उसके घर पर लगे हुए थे । वह गुरु महाराज को अपने घर पर ले गया । उनका स्वागत किया । गुरुजी ने झण्डों के सम्बन्ध में पूछा तो उसने बताया कि उनका तात्पर्य क्या है । गुरुजी मुस्कराये, परन्तु बोले नहीं । खाना खाकर चलने लगे तो दुनीचन्द उन्हें बाहर तक छोड़ने आया । उन्हें प्रणाम करके वह वापस जाने लगा तो गुरुजी ने उसे सुई देकर कहा—"दुनीचन्द ! यह सुई सँभालकर रखना । अगले जन्म में

मैं तुम्हें फिर मिलूँगा, तब मेरी सुई मुझे वापस दे देना।" दुनीचन्द सुई लेकर घर में आया तो पत्नी से बोला—"इसे सँभालकर रख दे। यह गुरुजी की है, अगले जन्म मे वापस देनी है।"

पत्नी ने आश्चर्य से कहा—"तुम्हारी बुद्धि को क्या हुआ ? अगले जन्म में तो कोई भी अपने साथ कुछ भी नहीं ले-जा सकता।"

दुनीचन्द ने सुई वापस ले ली। गुरुजी के पीछे भागा। दौड़ता-हाँपता उनके पास जाकर बोला—"गुरुजी, यह सुई तो अगले जन्म में मैं अपने साथ नही ले-जा सकता।" गुरुजी बोले—"अरे भाई! जैसे अपने लाखों रुपये ले जायेगा वैसे ही मेरी सुई भी ले जाना।" दुनीचन्द ने कहा—"महाराज! अगले जन्म में तो यह सब-कुछ साथ जाता नही।" गुरुजी बोले—"भोले आदमी! यह सब-कुछ यदि साथ जाने-वाला नही तो इसके लिए इतनी दौड़धूप क्यों करता है ? यदि एक सुई भी साथ नही जा सकती तो फिर यह लाखों रुपया किसलिए एकत्र कर रहा है ?" तब उसकी आँखें खुलीं।

वेद ने धन कमाने के लिए मना नहीं किया। कमाओ, खूब कमाओ परन्तु इसमें लिप्त मत हो जाओ। धन की नदी में तैरो, इसमें डूब मत जाओ। उपनिषदों ने मन की उपमा विद्युत् से दी है परन्तु इसके साथ ही यह भी कहा है—'विद्युत् को बाँधना जितना सरल है, मन को बाँधना उतना सरल नहीं।' अब देखिए, बिजली को बाँधकर आप तारों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते है। इससे अग्नि प्रदीप्त करते है, प्रकाश करते हैं, पंखे चलाते हैं, मोटरें चलाते है। परन्तु, मन को बाँधना तो इतना सरल नही।

रणवीर जब अमेरिका गया तो वापस आकर उसने मुझे बताया कि वहाँ एक दिन उसे भूख लगी, विलम्ब हो गया, भोजन मिला नही इसलिए एक भोजनालय (रेस्तराँ) मे चला गया। अन्दर गया, द्वार खुल गया। भोजनालय में जाकर देखा तो वहाँ पर मेजें लगी हैं, उन-पर प्लेटें रक्खी है परन्तु मनुष्य कोई नहीं है। इसने इधर-उधर देखा, मेज खटखटाया परन्तु कोई आया नही। तंग आकर वह बाहर आने लगा तो दीवार पर लिखा था—"मेज पर बटन लगे है, चाय के लिए अमुक संख्या के बटन को दबाओ, टोस्ट के लिए अमुक बटन को,

मक्खन के लिए अमुक बटन को।" इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के नाम और बटन भी लिखे थे। रणवीरसिंह फिर से मेज पर बैठ गया। चाय का बटन दबाया। घर्र की ध्वनि हुई और गर्म चाय का प्याला उसके समक्ष मेज़ पर आ गया। टोस्टवाला बटन दबाया तो टोस्ट आ गया, मक्खनवाला बटन दबाने से मक्खन आ गया। इस प्रकार कुछ मिठाइयाँ मँगाईं। खा-पीकर उठने लगा तो कुर्सी ने छोड़ा नहीं। तनिक जोर लगाया तो फिर घर्र की आवाज़ हुई। एक चिट सामने आ गई। चिट पर लिखा था, "आपका बिल तैयार हो रहा है, इसका भुगतान करके जाइये।" तभी बिल आ गया। रणवीर ने पैसे प्लेट पर रक्खे तो प्लेट आगे चली गई। थोड़ी देर के पश्चात् कुर्सी ने उसे छोड़ दिया और वह होटल से बाहर आ गया।

यह है बिजली को बाँधने की बात! इसे बाँधकर इसके द्वारा कितने ही कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। मन को बाँधना इतना सरल नहीं, क्योंकि मन विद्युत् की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली वस्तु है, विद्युत् से बहुत अधिक गतिशील है। विद्युत् एक सैकण्ड में एक लाख छियासी सहस्र मील चलती है। सूर्य के प्रकाश को हमारे पास पहुँचने में लगभग ९ मिनट लगते हैं परन्तु यह मन महाराज अभी यहाँ है, पलकभर में सूर्य तक जा पहुँचते हैं, पलकभर मे सूर्य से दूर उन नक्षत्रों मे पहुँच जाते है जो सूर्य से सहस्रों और लाखों गुणा बड़े हैं, पलकभर मे यह मन महाराज वापस भी आ जाते हैं। इस मन को कोई बाँध ले तो वस्तुतः जगत् को जीत लेता है। और यह मन बाँधा जाता है बुद्धि से, ज्ञान से—

मन पंछी तब लगे उड़े विषय-वासना मांहि।
ज्ञान-बाज़ की झपट में जब लग आया नांहि॥

ज्ञान की ज्योति जागृत हो जाय तो मन इसके समक्ष सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है। यह मन संस्कृत का शब्द है। संस्कृत में प्रत्येक शब्द का लिंग निश्चित है। दूसरे शब्दों मे, प्रत्येक शब्द के सम्बन्ध में यह निर्णय कर दिया है कि वह स्त्रीलिंग है या पुल्लिंग। संस्कृत-व्याकरण के आचार्यों ने मन को स्त्रीलिंग या पुंल्लिंग में नही, अपितु नपुंसकलिंग में रक्खा है। यह पुरुष नहीं, स्त्री नहीं, दोनों से भिन्न है। यह स्त्रियों में

जाने लगे तो इसे समझाओ—'अरे मूर्ख, क्यों अपनी हँसी उडवाता है ? तू स्त्री है नहीं, स्त्रियो में मत जा !' और यदि यह पुरुषों में जाने लगे तो इसे कहो, 'कैसा है तू ? क्या मर्दों में जाकर अपनी हँसी करायेगा ?' तब यह नपुंसक जाये कहाँ ? सस्कृत भाषा में जिस प्रकार मन नपुसकलिंग है उसी प्रकार 'ब्रह्म' भी नपुसकलिंग है। इसे कहो कि 'ब्रह्म' के पास जा। वह भी स्त्री-पुरुष कुछ नही, तू भी स्त्री-पुरुष कुछ नहीं, दोनों एक-जैसे हो, 'खूब गुज़रेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।' इस प्रकार अपने मन को ज्ञान के द्वारा समझाओ, वैराग्य के द्वारा समझाओ, यह एक साधन है।

दूसरा साधन है प्राणायाम। हम जो स्वास लेते है, जो हमारे शरीर से बाहर आता, फिर अन्दर जाता, फिर बाहर आता है, इसका मन के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। जहाँ प्राण है वहाँ मन पहुँच जाता है। दोनों के सम्बन्ध का कभी परीक्षण करना हो तो कोई वजनी वस्तु, कोई संदूक जिसमे पुस्तकें रक्खी हों, लोहे या पीतल के बहुत-से बर्तन रक्खे हों, उसे उठाने का प्रयत्न करो। जब आप इसे पूरी शक्ति से उठाने में संलग्न होंगे तब स्वास रुक जायेगा, क्योंकि आपका मन उस वस्तु को उठाने में लग गया है, उसकी सारी शक्ति उधर चली गई है। ऐसे ही कभी मन बहुत चचल हो, क्रोध मे हो, उसमे ईर्ष्या की अग्नि जल उठी हो, शत्रुता की भावना जागृत हो गई हो तो आप देखेंगे कि स्वास की गति भी तीव्र हो गई है। दोनो का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

हमारे पूर्वजो ने देखा कि मन चचल और अधिक सूक्ष्म है। इसकी अपेक्षा प्राण कुछ कम सूक्ष्म और चचल है। इसलिए उन्होंने प्राण के द्वारा मन को बाँधने की विधि निकाली जिसे प्राणायाम कहते है। यदि कोई मनुष्य साढे पाँच मिनट तक प्राण को अपने पेट मे भरकर वहीं रोक सके तो उसका मन मर जाता है, लय हो जाता है। इसे योग की भाषा में आन्तरिक कुम्भक कहते है।

कुछ लोगों ने यह भ्रामक विचार फैला दिया कि प्राणायाम तो केवल साधु-महात्माओं, वन में बैठे सन्यासियो और योगियों के लिए है। यह बात बिल्कुल गलत है। प्राणायाम से जिस प्रकार साधु और

सन्यासी लाभ उठा सकते है उसी प्रकार गृहस्थी भी उठा सकते है। यह सबके लिए है। योग के सबसे पहले आचार्य, यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के जन्मदाता योगिराज भगवान् शिव स्वयं गृहस्थ थे। कुछ वर्ष हुए मै उस कैलास पर्वत को देखने गया जहाँ भगवान् शिव और पार्वती कभी रहते थे। एक गृहस्थ ने तो योग का यह सारा विज्ञान आरम्भ किया, तब कौन कहता है कि योग या प्राणायाम गृहस्थ के लिए नही? भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, राजा जनक, महाराज अश्वपति, देवी मदालसा—ये सब महान् योगी थे और सब-के-सब गृहस्थ थे।

परन्तु गृहस्थाश्रम में यह बात चलती तब है, जब पति और पत्नी दोनों एक विचार के हों। पति अगर कहे कि मैं सत्संग में जाऊँगा और पत्नी कहे कि मैं सिनेमा जाऊँगी तो गड़बड़ हो जाती है, फिर यह एकता रहती नही। यह ठीक है कि सिनेमा और सत्सग की राशि एक है, दोनो 'स' से शुरू होते हैं, परन्तु दोनों मे अन्तर तो आकाश-पाताल का है। सिनेमा में विचार दूषित होते हैं, धन नष्ट होता है, आँखे खराब होती है, शरीर निकम्मा होता है। सत्सग में मन को प्रकाश मिलता है, आत्मा को शान्ति मिलती है, विचार बिगड़ते नही सुधरते है।

कुछ लोग कहते है कि पत्नी यदि हमारे विचार की न हो अथवा पति हमारे विचार का न हो तो फिर क्या करें? ऐसे व्यक्तियों पर मुझे तरस आता है। हँसकर मै कहता हूँ—"ऐसी अवस्था मे इसके अतिरिक्त क्या हो सकता है कि अगले जन्म की प्रतीक्षा करो! तब सोच-विचारकर विवाह करना, विना सोचे न करना।"

परन्तु ऐसे लोग तो बहुत कम होते है। प्रायः हमारे देश में विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् देवियो को ऐसे सस्कार दिये जाते है और पुरुषो को भी कि वे परस्पर मिलकर चलें और गृहस्थाश्रम के महत्त्व को समझें। विवाह के समय कन्या यज्ञ-मण्डप में बैठ सभी वृद्धों, भाइयो, बहनों और दूसरे सम्बन्धियों के समक्ष घोषणा करती है—

शिवारिष्टा पतिलोकं गमेयम्।

"ऐ वृद्धजनो ! मेरे भाइयो ! मेरी बहनो ! मेरे सम्बन्धियो ! आज मै अपने पति के लोक को जा रही हूँ।" परन्तु किसलिये ? उस शिव को पाने के लिए जो पतियों का पति और सबका स्वामी है।

यह है गृहस्थाश्रम का वास्तविक उद्देश्य ! यह आश्रम भोग-विलास के लिए नही, अपितु उस मार्ग पर चलने के लिए है, जिसका लक्ष्य भगवान् है। आप मुझे देखिये, मैंने हठयोग, प्राणायाम, आसन, नेती, धोती, न्योलीकर्म और योग के कितने ही दूसरे अंग उस समय सीखे जब मैं गृहस्थी था। सीखने के पश्चात् देखा कि ये सब शारीरिक बातें है। आत्मा के साथ इनका बहुत सम्बन्ध नहीं, परन्तु आत्मा तक जाने का मार्ग यही है। जिस लक्ष्य तक हमे पहुँचना है वहाँ पहुँचने के लिए आसन का दृढ होना आवश्यक है। भक्तियोग हो या ज्ञान-योग हो अथवा लययोग हो—प्रत्येक के लिए आसन आवश्यक है। यह आसन मैंने गृहस्थाश्रम में सीखा, इसका अभ्यास भी किया। गृहस्थाश्रम में ही जिह्वा को वश में करने के लिए नमक भी छोड दिया; कभी चीनी छोड दी, कभी अन्य वस्तुएँ छोड़ दी। अब ये सब बाते गृहस्थाश्रम में ही हो सकती हैं। बेचारे सन्यासी को तो जो मिल जाय वही खाना पड़ता है चाहे उसमें लाल मिर्चे ही क्यों न पडी हों !

गृहस्थाश्रम अत्यन्त महान् आश्रम है। केवल सांसारिक उन्नति के लिए नहीं, आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी महान् है। आवश्यकता यह है कि पति और पत्नी दोनो इस बात को समझे। दोनो में आत्मा की खोज और परमात्मा के दर्शन की तीव्र इच्छा हो। दृढ़-सकल्प के साथ पति-पत्नी दोनो प्राणायाम के लिए बैठ जायँ तो बहुत अच्छा है।

कुछ लोग कहेंगे—"यह क्या कहते हो आनन्द स्वामी ! हम प्राणायाम के लिए बैठे-सो-बैठे; यदि पत्नी भी बैठ गई तो भोजन कौन बनायेगा ? चाय कौन बनायेगा ?" चाय की यह बात मुझे तो समझ में आती नहीं। लोग इतनी चाय पीते और इतनी बार पीते हैं

कि आश्चर्य होता है। अच्छा भाई ! यदि चाय के बिना निर्वाह नहीं होता तो पहले तुम प्राणायाम कर लिया करो, उस समय पत्नी चाय बना ले। फिर पत्नी प्राणायाम कर लिया करे, तब तुम चाय बना लो। किसी भी समय करो, प्राणायाम करो अवश्य। यह मन को वश में करने का ऐसा साधन है जो कभी व्यर्थ नहीं जाता।

परन्तु प्राणायाम ऐसे ही मत शुरू कर दीजिये। यह विज्ञान है, इसे किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखिये। ऐसा न किया जाय तो प्राणायाम से हानि भी होती है। गलत विधि से प्राणायाम किया जाय तो कई लोगों की आँखें खराब हो जाती हैं, कान खराब हो जाते हैं। अमृतसर के एक सज्जन का तो मस्तिष्क बिगड़ गया। वे गंगा के किनारे पहुँचे, उसमें छलाँग लगा दी और डूब गये। अनुभवी व्यक्ति से सीखे बिना प्राणायाम नहीं करना चाहिये।

महर्षि दयानन्द ने प्राणायाम की बहुत सुन्दर और सरल विधि लिखी है--

रेचक—श्वास को बाहर निकालिये।

बाह्य कुम्भक—उसे शरीर के बाहर रोकिये।

पूरक—श्वास को अन्दर खींचिये।

आन्तरिक कुम्भक—उसे अन्दर रोके रखिये।

और स्तम्भवृत्ति—शान्त होकर बैठिये। श्वास जहाँ भी जितना भी है वहीं रोक दीजिये। परन्तु यह विधि भी किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखने के पश्चात् अपनाइये। प्रत्येक प्रकार का प्राणायाम प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं। एक प्राणायाम है 'भस्त्रा'। यदि आपके शरीर में गर्मी बहुत है तो भस्त्रा करने से आपकी नाक से खून बहने लगेगा। कौन-सा प्राणायाम आपके लिए उपयोगी है, यह किसी अच्छे ज्ञानी सज्जन से सीखिये और···परन्तु अब तो साढे नौ बज गये। अच्छा, शेष कल सही।

छठा दिन

ओम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

प्यारी माताओ और सज्जनो !

मन और बुद्धि को किस प्रकार साधा जाय, इस सम्बन्ध में बात हो रही है। मन को मनुष्य साध ले, इसको जीत ले, तो सब-कुछ जीत लेता है। कबीर जी ने कहा है—

तन धर कोई न सुखिया देखा, जो देखा सो दुखिया हो।
राजा प्रजा रंक धनी नर, उत्तम अधम सब दुखिया हो ॥
राजा दुखिया रंक भी दुखिया, अधम दुखी विपरीते हो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, मानुष सुखी मन जीते हो ॥

मन को जीत लेने में ही सुख है, नहीं तो इस संसार में सुख कहीं है नहीं। ज्ञान, प्राण और ध्यान से जो मन जीत लेता है उसे सुख मिलता है, शान्ति मिलती है। उसका जीवन सफल हो जाता है, नहीं तो यह संसार—

हस्ती अपनी हुबाब की-सी है।
यह नुमाइश सुराब की-सी है ॥

बुलबुले (हुबाब) की भाँति मनुष्य का जीवन है। यह सारा दिखावा केवल एक धोखा (सुराब) है। प्रत्येक वस्तु यहाँ नष्ट होने-वाली है—

शमा है, गुल भी है, बुलबुल भी है, परवाना भी।
रात की रात ये सब-कुछ है, सहर कुछ भी नहीं ॥

प्रत्येक वस्तु जो उत्पन्न होती है वह नष्ट अवश्य होती है—

अजल लगाये हुए घात हर किसी पर है।
बहोश-बाश कि आलम रवा-रवी पर है ॥

यह तो लगातार चला जाता है उस नदी की भाँति जिसकी गति कभी रुकती नही। इधर जीवन आँखें खोलता और मुस्कराता है, उधर मृत्यु उसका हाथ पकडकर उधर ले जाती है जिसका किसी को पता नहीं लगता—

कली कोई जहाँ पर खिल रही है।
वहीं इक फूल भी मुरझा रहा है॥

और केवल कलियाँ और फूल क्यों? बड़े-से-बड़े सम्राट्, बडे-से-बड़े योद्धा, बड़े-से-बड़े दार्शनिक, सबकी यही अवस्था है—

सिवाय ख़ाक के बाक़ी असर निशाँ-से न थे।
ज़मीं से दब गये दबते जो आसमाँ से न थे॥

कहाँ है सिकन्दर की वीरता? चंगेज़ का अभिमान? तैमूर का राज्य?

राम गयो रावण गयो जाको बहु परिवार।
कहु नानक थिर कुछ नहीं सपने ज्यूं संसार॥

आज जो दिखाई देता है वह कल रहेगा नहीं। यह धन-सम्पत्ति, पत्नी, बच्चे, परिवार, साथ, सम्बन्ध सब समाप्त होनेवाले है। फिर इनकी चिन्ता किसलिए? यह सब-कुछ प्रकृति है, जड़ और व्यर्थ। प्रकृति के पाँच तत्त्व हैं—अग्नि, जल, वायु, पृथिवी और आकाश। ये भी सदा रहते नहीं; एक दिन समाप्त हो जाते हैं। इसलिये इस ससार को जगत् कहा गया है। जो चलता है, निरन्तर बदलता है, वही जगत् है। एक क्षण के लिए भी यह निरन्तर परिवर्तित होता हुआ जगत् कहीं ठहरता कही, प्रतिक्षण बदलता है, इसलिए उधर चल जो सदा एकरस रहता है, वह परमपिता परमेश्वर, जो कभी परिवर्तित नही होता। कभी समाप्त नहीं होता।

यह है ज्ञान! और यह ज्ञान मिलता है सत्संग और स्वाध्याय से। हमारे पूर्वजों ने मनुष्य के लिए पञ्च-महायज्ञों को आवश्यक बताया है। इनमें पहला है ब्रह्मयज्ञ अर्थात् परमात्मा को स्मरण करना और वेद पढ़ना, पढकर इसका प्रचार करना। एक समय था जव हमारे पूर्वज वेद-पाठ किये बिना अथवा सुने बिना अपनी दैनिक-चर्या आरम्भ नही करते थे। श्रीमद्‌भागवत में श्री कृष्ण महाराज का जो

दैनिक कार्यक्रम लिखा है उससे ज्ञात होता है कि प्रातः प्रभु-स्तवन और प्रभु-ध्यान के पश्चात् वे ब्राह्मणों से वेदपाठ सुनते थे। जब तक वेदपाठ का क्रम चलता रहा, लोगों को ज्ञान मिलता रहा। जब से यह क्रम टूटा तब से अज्ञान बढ़ने लगा। इसीलिए वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द ने घोषणा की—"वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" आर्यों से तात्पर्य केवल आर्य-समाजी नहीं, प्रत्येक मानव, जो अच्छाई और कल्याण की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है, आर्य है। महर्षि का सन्देश किसी एक धर्म, जाति या देश के लिए नहीं था, प्रत्येक मनुष्य के लिए था। इसीलिए उन्होंने कहा—"संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" परन्तु मैं स्वाध्याय की बात कह रहा था। स्वाध्याय से यह ज्ञान मिलता है, सत्संग से यह ज्ञान प्राप्त होता है। उत्तम संग से बेड़ा पार हो जाता है, कुसंग से बेड़ा डूब जाता है। तुलसीदास जी की कहानी कदाचित् आपने सुनी हो।

वे नवयुवक थे। नई-नई शादी हुई। अपनी पत्नी रत्नावली से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। एक बार रत्नावली के पिता बीमार हुए। उसे मैके जाना पड़ा। परन्तु तुलसीदास जी बहुत देर उसका वियोग सहन न कर सके। एक रात प्रेम के जोश में घर से निकले। अमावस की घनी अँधेरी रात थी। आकाश मे काले बादल, धरती पर धुआँधार वृष्टि, फिर भी वे चले। मार्ग में नदी थी। नाव नही थी। इधर-उधर देखा, अँधेरे में एक लम्बी लकड़ी-सी दिखाई दी। उसी को लेकर नदी मे कूद पड़े, पार हुए। रत्नावली के गाँव मे पहुँचे तो गाँववाले सो गये थे। चहुँ ओर अँधेरा था। कही कोई प्रकाश नही। रत्नावली का मकान नदी के निकट था। उसके द्वार भी बन्द थे। पीछे की ओर से गये तो देखा कि ऊपर खिड़की से एक रस्सा लटक रहा है। उसको पकड़कर खिड़की मे पहुँचे। मकान के अन्दर गये। रत्नावली का द्वार खटखटाया। उसने नींद से जागकर पूछा, "कौन?" तुलसीदास बोले, "मैं तुलसीदास हूँ।" रत्नावली ने जल्दी से द्वार खोला, दीपक जलाया और आश्चर्य से पूछा—"आप इस समय?"

तुलसीदास बोले—"तुम्हारा वियोग मुझसे सहन न हुआ, मैं चला आया।" रत्नावली ने पूछा—"परन्तु आप मकान में कैसे आये ? द्वार किसने खोला ?" तुलसीदास बोले—"किसी ने नहीं। उस खिडकी से एक रस्सा लटक रहा था, उसी को पकड़कर मैं ऊपर चला आया।" रत्नावली ने आश्चर्य से कहा—"रस्सा ? रस्सा कहाँ से आ गया ?" और दीपक लेकर देखा तो वह रस्सा नहीं, एक सर्प था जिसे पकड़कर तुलसीदास ऊपर आये थे। रत्नावली ने आकाश की ओर देखते हुए कहा—"और इस अँधेरी रात में आपको नौका कैसे मिली ?" तुलसीदास बोले, "नाव नहीं थी, मैं एक लकडी को पकडकर इस पार आया। वह देखो ! अब भी नदी के किनारे वह लकडी पडी हुई है।" रत्नावली ने दीपक को उठाकर उस ओर ध्यान से देखा तो चीखकर बोली—"वह···वह लकड़ी तो नहीं है, वह तो लाश है !" तुलसीदास ने लापरवाही से कहा—"होगी, मै उसी को पकड़कर चला आया।" रत्नावली ने अपने पति की ओर देखा और सोचते हुए बोली—"प्राणनाथ ! जितना प्रेम आप मुझे करते है उतना भगवान् से करते तो बेडा पार हो जाता !" तुलसीदास ने यह बात सुनी तो चौक उठे, जैसे कोई सोया हुआ जाग उठे, बोले—"क्या कहा तुमने ?" रत्नावली ने अपनी बात फिर दोहरा दी और सत्य ही—

अगर भगवान् के चरणों में तेरा प्यार हो जाता।
तो भवसागर से तू पलभर में बन्दे ! पार हो जाता।।

तुलसीदास उल्टे पाँव लौट पड़े। रत्नावली ने पूछा—"कहाँ जाते हैं आप ?" तुलसीदास उसकी ओर देखे बिना ही बोले—"वहीं जहाँ का रास्ता तूने दिखा दिया।" और वह अमावस की उस घोर रात्रि में घर से बाहर निकल गये। उसके पश्चात् उन्होंने वह 'रामचरितमानस' लिखना शुरू किया जिसका पाठ आज घर-घर में होता है। ऐसी ही कथा सूरदास जी के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है। इनका पहला नाम बिल्वमंगल था। इनकी पत्नी चिन्तामणि थी। परन्तु तुलसीदास हो या सूरदास, रत्नावली हो या चिन्तामणि, क्षणभर के सत्संग ने इन महापुरुषों का जीवन बदल दिया। साधारण लोग थे वे, उन्हे महान् और पूजनीय बना दिया।

यह है सत्संग की शक्ति ! अरे भाई ! कैकेयी तो बुरी नहीं थी। मंथरा की संगत ने उसे पाप के मार्ग पर चला दिया। रावण के जीवन को पढ़ो ! अच्छा-भला वेदों का पण्डित, अपने कर्तव्य पर चलनेवाला विद्वान् था वह। शूर्पणखा नासिक के वनों से होती हुई लंका पहुँची तो उसने कहा—"भय्या ! एक अत्यन्त रूपवती रमणी को देखकर आई हूँ। वह बिल्कुल तेरे योग्य है। दो वनवासी उसके साथ हैं, तीसरा कोई नहीं है। यदि तू ला सके तो···" रावण बोला—"यह क्या कठिन है ? उस वन में खर और दूषण बैठे हैं। उनकी सेना विद्यमान है, अभी उन्हें आज्ञा भेजता हूँ।" शूर्पणखा ने कहा—"नहीं भय्या ! उन्हें आज्ञा भेजने से कुछ होगा नहीं। उन वनवासियों में एक हैं राम, उन्होंने खर और दूषण को समाप्त कर दिया है। उनकी सारी सेना भी नष्ट-भ्रष्ट कर दी है।"

रावण बोला—"ऐसी बात है तो मैं स्वयं जाता हूँ अपने हथियार लेकर।" शूर्पणखा ने कहा—"हथियार ले जाओगे तो कुछ बनेगा नहीं। राम और लक्ष्मण बहुत शक्तिशाली हैं। उस रूपवती सीता को लाना है तो इसके लिए छल करना होगा।" रावण बोला—"क्या करूँ ?" शूर्पणखा ने कहा—"यह मुकुट उतार दो, ये हीरे और जवाहरात परे कर दो, ये आभूषण दूर कर दो। यह चमकता हुआ सुनहरी वेश भी उतार दो। साधुओं-जैसा वेश पहनो, शरीर पर राख मल लो, हाथ में तूम्बी पकड़ लो, साधु बनकर वहाँ जाओ। जब सीता तुम्हें भिक्षा देने के लिए बाहर आये तो उसे पकड़ लाओ।" रावण बोला—"अच्छी बात है, ऐसा ही करता हूँ।" और उसने अपने सभी बहुमूल्य वस्त्र उतार दिये। हीरों से जड़े आभूषण भी उतार दिये, राजमुकुट भी उतार दिया। मैली-सी धोती पहनकर शरीर पर राख मल ली। एक तूम्बी ले ली। यह था शूर्पणखा की संगति का प्रभाव ! जो राजा था वह साधु बन गया। तभी मन्दोदरी को पता लगा। वह दौड़ती हुई दरबार में आई। अपने पति को इस दशा में देखकर बोली—"महाराज ! यह क्या हो गया आपको ?" रावण ने मुस्कराते हुए कहा—"हम राम की पत्नी सीता को लेने जा रहे हैं, वह हमारी पत्नी बनेगी।" मन्दोदरी बड़े दुःख के साथ बोली—

"महाराज ! पाप करने का आपने अभी केवल विचार किया है और अपनी सूरत देखिए, राजमुकुट नही रहा, चमचमाते वस्त्र नही रहे, शरीर की शोभा बढ़ानेवाले वस्त्र नही रहे, हाथ मे तलवार की बजाय तुम्बी है, सिर मे राख पड़ी है। यदि केवल विचार से आपकी यह अवस्था हुई है तो उस विचार को क्रियात्मक रूप देने से क्या होगा ? शायद आपका सारा कुल, लका का यह सारा राज्य समाप्त हो जायेगा।"

सगति की शक्ति महान् है। कुसग और सत्सग मनुष्य का जीवन बदल देता है। रावण ने मन्दोदरी की नही सुनी और उसका सब-कुछ नष्ट हो गया।

सत्संग बहुत आवश्यक है मेरे भाई ! परन्तु कुछ लोग सत्संग मे इसलिए नही आते कि अच्छी बात सुन ली तो उसपर आचरण करना पड़ेगा। कुछ माताएँ और बेटियाँ आती है और स्वेटर बुनती रहती है। वे भी अपने लिए बुनती हैं, यह नही कि मुझे दे दें। मै स्वेटर बुनने के विरुद्ध नही। परन्तु यह मन है न, यह एक समय में एक ही कार्य करता है। स्वेटर बुनो तो कथा कौन सुनेगा ? एक बेटी ने मुझे कहा—"स्वामी जी, स्वेटर तो हाथ बुनते है, कथा कानो से सुनी जाती है।" ठीक बात है, परन्तु सचाई तो यही है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन लगा हो वही काम करती है, दूसरी नही।

नेपोलियन युद्ध के मैदान से पीछे हटकर सोच मे डूबा बैठा था; सोच रहा था कि युद्ध का अगला नक्शा क्या होगा। उसके पास से एक पूरी सेना मार्च करती हुई चली गई, उसने देखा नहीं। एक व्यक्ति ने आकर पूछा—"इधर से अभी-अभी जो सेना गई है उसमें कितने सैनिक थे ?" नेपोलियन ने आश्चर्य से कहा—"सेना ! मैंने तो किसी को देखा नही।" पूछनेवाले ने कहा—"तुम्हारी आँखे तो खुली है, फिर देखा क्यों नही ?" नेपोलियन बोला—"मेरी आँखें अवश्य खुली थी परन्तु मेरा मन दूसरी ओर था।"

मन के बिना खुली आँखे भी काम नही करतीं। आपका हाथ स्वेटर पर इसलिए काम करता है कि आपका मन हाथ के साथ है। परन्तु यह मन चंचल बहुत है। रूस का स्पुतनिक ९६ मिनट में पृथिवी

का चक्कर लगाता था परन्तु यह मन एक ही सैकण्ड में सारी पृथिवी का चक्कर लगाकर यहाँ पहुँच जाता है। ऐसे ही यह स्वेटर भी बुनता है—कभी स्वेटर में, कभी कथा में। न स्वेटर ठीक प्रकार से बुना जाता है, न कथा सुनी जाती है; जो सुनी जाती है वह स्मरण नहीं रहती।

सान्ताक्रुज में मैं कथा कर रहा था। वहीं पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री आये। मैं उस समय वहाँ था नहीं। वापस आया तो एक सज्जन से पूछा—"पण्डित जी ने क्या कहा था ?" वे बोले—"बातें तो उन्होंने बहुत गजब की बताईं, कमाल कर दिया, परन्तु मुझे अब स्मरण नही।" अब बताओ, ऐसी बातें सुनने का क्या लाभ हुआ ?

जब किसी को स्वेटर ही बुनना है तो बुने, परन्तु सच्ची बात यही है कि सत्संग में आओ तो ज्ञान की बात ध्यान से सुनो।

कई लोग कहते है—स्वामी जी ! सत्संग और स्वाध्याय की बात तो ठीक है परन्तु हमने देखा है कि दुःख फिर भी आ जाता है।

सुख और दुःख की यह समस्या भी सुनो ! सुख और दुःख हैं क्या ? सुख कहते हैं अवस्था के अनुकूल होने को, दुःख कहते हैं उसके प्रतिकूल होने को। और यह ससार है न, सदा अनुकूल तो रहता नहीं; कई बार प्रतिकूल भी होता है, तब दुःख होता है। 'योगदर्शन' में लिखा है कि जो विवेक करनेवाले है उनके लिए इस संसार में दुःख के अतिरिक्त कुछ है नही। 'योगदर्शन' के शब्द हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

सबसे पहले परिणाम-दुःख। नया-नया विवाह हुआ। पत्नी बहुत सुन्दर है। परन्तु प्रतिक्षण उसका सौन्दर्य कम हो रहा है। आज जो उसका रूप है बीस वर्ष पश्चात् वह रहता नहीं। यह है परिणाम-दुःख। नये वस्त्र सिलवाये, पहने, अच्छे लगे परन्तु पहनने के साथ ही वे मैले होने लगते है, वर्ष-दो-वर्ष के पश्चात् उन्हे फेंक देना पड़ेगा। यह है परिणाम-दुःख। टॉर्च में बैटरी के नये सैल् डालिए, प्रकाश बहुत सुन्दर है। परन्तु ज्यों-ज्यों यह टॉर्च जलती है त्यों-त्यों सैल् निर्बल होते जाते है, प्रकाश कम होता जाता है। ऐसी बातों को परिणाम-दुःख

कहते है । मूर्ख नही जानता, ज्ञानी जानता है कि इस ससार की प्रत्येक वस्तु समाप्त होनेवाली है इसलिए वह दु:खी होता है ।

और सन्ताप-दु ख अर्थात् चिन्ता का दु:ख । आज जो अवस्था है वह तो बहुत उत्तम है, परन्तु कल जो कुछ हो सकता है उसका विचार करके दु:खी होते रहना, यही सोचते रहना कि आज तो ठीक है, पता नही कल क्या होगा, कब यह नक्शा बदल जायेगा । इसको ताप-दु.ख कहते है ।

एक थे सेठ जी । पर्याप्त धन उनके पास था, परन्तु हर समय चिन्ता के कारण दु:खी रहते थे । जब भी अपनी पत्नी के पास बैठते तभी कहते—"देखो न ! आज तो सब ठीक है परन्तु क्या जाने कल क्या हो जाय ! अब विवाह हुआ है तो पाँच-छ: बच्चे तो होंगे ही । एक विवाह पर दस-दस सहस्र खर्च करे तो साठ हजार रुपया तो यही चाहिए । और फिर इन्हें पढ़ाना भी तो होगा ! सौ-डेढ़-सौ रुपये मासिक से कम एक बच्चे का खर्च क्या होगा ? फिर इनके वस्त्र; इनके लिए रहने का स्थान । इनके लिए दूध, खाना, औषध, कितना खर्च हो जायेगा ? और फिर यही क्यों ? इनके विवाह होगे । समधन यदि बड़े मिज़ाज की मिल गई तो ? कोई बहू यदि ताड़का-जैसी आ गई तो ? और फिर माँ भी तो बीमार है ! यदि वह मर गई तो ? और हमारा वह पुराना मकान है न, वह भी तो गिरनेवाला है । अब बताओ, यदि मकान गिर गया तो उसकी मरम्मत पर कितना खर्चा आयेगा ? यदि माँ मर गई तो उसके लिए लोगों को खाना खिलाने पर कितना खर्चा आयेगा ? इतने खर्च सामने है, मै समझ नहीं पाता कि क्या करूँ ? और फिर तुझको पता ही है मेरा वह पुराना भागीदार है न, उसने मुझपर व्यर्थ मुकद्दमा कर रखा है । मैने उसका कुछ बिगाड़ा नही परन्तु मुकद्दमा तो मुकद्दमा है । पता नही उसमें क्या होगा ! फिर तेरे पर भगवान् की कृपा भी होनेवाली है, तेरा बच्चा होगा । भाभी हमसे रुष्ट है, तेरी ननद बहुत प्रसन्न नही, फिर कौन आयेगा तेरी सेवा करने ? यह सारा काम भी तो मुझको ही करना होगा ! और फिर पड़ोसी को देखो न, व्यर्थ ही हमें बदनाम करता फिरता है । इतनी चिन्ताएँ हैं, इतना दु.ख, मेरा तो मस्तिष्क खराब हुआ जाता है ।"

इस प्रकार की बातें वे पत्नी से करते थे। जब बैठें, तभी ये बातें। पत्नी थी बुद्धिमती। उसने एक योजना बनाई। सेठजी दुकान पर गए तो वह खाट पर लेट रही, घर का कोई भी कार्य नही किया। न बर्तन साफ़ किये, न झाड़ू दी। सारा घर कुरुक्षेत्र का मैदान बना रहा। शाम को सेठजी वापस आये। घर की अवस्था देखी तो गर्जकर बोले–"यह क्या हो गया है आज ?" पत्नी ने कहा—"पहले मेरे दु:ख की कहानी सुन लो ! मुझे तो इतने दु:ख है कि जीने को जी नही चाहता। मन में आता है कि मर जाऊँ।"

सेठजी बोले—"हुआ क्या है ?"

पत्नी ने कहा—"आज पुरोहित जी आये थे। मेरा हाथ देखकर बोले कि तेरी आयु साठ वर्ष है। अब देखिए, एक तो यही दु:ख है। मैं बीस वर्ष की हूँ, चालीस वर्ष के पश्चात् मर जाऊँगी। और फिर पुरोहित जी ने यह भी कहा कि तेरे आठ बच्चे होंगे। अब बताओ, मैं तो मरी ! अभी पहला बच्चा होनेवाला है और मुझे इतना कष्ट है, आठ बच्चे हुए तो मैं जीऊँगी कैसे ? परन्तु इतने पर ही तो बस नहीं; आजकल मैं एक धड़ी आटा रोज पीसती हूँ, मास में तीस धड़ियाँ, वर्ष में ३६०। चालीस वर्ष में कितना आटा पीसना पड़ेगा मुझे ? और फिर प्रतिदिन मैं पाँच बर्तन माँजती हूँ। महीने में १५०, वर्ष में १८००, चालीस वर्ष में ये कितने हो जाएँगे ? कौन माँजेगा इन्हें ? आजकल मैं दस रोटियाँ रोज बनाती हूँ, महीने में तीन सौ, वर्ष-भर में तीन हजार छ सौ, और चालीस वर्ष में—हे मेरे भगवान् ! क्या करूँगी मैं ? इतना काम होगा कैसे ? मैं तो इसी चिन्ता में मरी जाती हूँ।"

सेठजी ने सुना तो बोले—"बिल्कुल पागल है तू। अरी, ये सब काम चालीस वर्ष में होंगे, कोई एक या दो दिन मे नहीं। तू आठ बच्चे जनेगी तो शायद चौबीस वर्ष मे, कोई एक घण्टे में तो आठ बच्चे होंगे नहीं। यह आटा इसी प्रकार पीसा जायेगा, बर्तन माँजे जायेंगे। इस चिन्ता को छोड़, यह तो पागलपन है।"

पत्नी ने कहा—"आप ठीक कहते है। लीजिए मैने चिन्ता छोड़ दी, परन्तु अपनी बताइये कि आप ठीक ऐसी ही बातें करते है या नहीं ?

ऐसी बातें करके क्यों व्यर्थ अपने को दु:खी करते हैं ?"

पता नहीं सेठजी को अक्ल आई या नही परन्तु यह है ताप-दु:ख। और संस्कार-दु:ख क्या है ?

कोई भी अच्छी या बुरी बात हम करें, उसका संस्कार शेष रह जाता है। एक कर्म हमने किया, उसका फल मिला। फल की एक तस्वीर हमारे मन में रह गई। यह सस्कार है। जब-जब यह सस्कार उभरता है, तब-तब वासना जागती है। उससे दु:ख होता है। वासना क्या है ? आपने एक कपडे में चमेली के फूल रख दिये। दो-तीन-चार घण्टे के पश्चात् वे मुरझाये तो आपने उन्हें फेंक दिया, परन्तु कपड़े में 'बास' अब भी है। अब भी ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें चमेली के पुष्प रक्खे हैं। यह बास ही बासना या वासना है। अच्छा कर्म किया तो इसका सस्कार सुख उत्पन्न करता है, बुरा कर्म किया तो इसका सस्कार दु ख जगाता है।

और तब गुणवृत्ति और विरोध, गुणों का परस्पर-विरोध। गुण तीन हैं—सत्त्व, रज और तम। इन तीन गुणों से यह ससार बना है। इस प्रकृति में, मन में, बुद्धि में—तीनों गुण रहते हैं। कभी एक ऊपर हो जाता है, दूसरे नीचे हो जाते हैं, कभी दूसरा प्रधान हो जाता है, कभी तीसरा और शेष नीचे हो जाते है। प्रकृति सम-अवस्था में रहे तो प्रत्येक दशा मे शान्ति छाई रहती है; रूप, रग, शब्द सबका अन्त हो जाता है। जब ये सम-अवस्था में नहीं रहते तो विभिन्न अवस्थाएँ उत्पन्न होती है। दु:ख भी उत्पन्न होते है, सुख भी, ससार चलता है। एक सज्जन बैठे है अपने घर में। अभी-अभी भगवान् का नाम लेकर हटे है। मन की अवस्था सात्त्विक है। सोचते है कि इस बार दस सहस्र रुपया लाभ हुआ है, यह आर्यसमाज को दे देना चाहिए। अमुक पण्डितजी वेद-भाष्य कर रहे हैं, वे उस पुस्तक को छपवा लेंगे, लोगों को लाभ होगा—यह निश्चय करके वे उठे, तभी रजोगुण जाग उठा। मन में विचार आया, आर्यसमाज को रुपया तो देना चाहिए परन्तु बेटी हो गई है जवान। उसकी शादी भी तो करनी है ? पाँच सहस्र रुपया उसके लिए रहने दें, पाँच सहस्र आर्यसमाज को दे दें। यह विचार करते हुए घर से बाहर निकले तो

तमोगुण जाग उठा। विचार आया कि पुत्र की सगाई तो करोगे परन्तु अमुक व्यक्ति इस सगाई के मार्ग में जो रोड़े अटका रहा है उसे क्या करना है? आर्यसमाज को पाँच सहस्र रुपये देने का क्या लाभ है? ये पाँच सहस्र किसी गुण्डे को दे दो जो इस व्यक्ति को मौत के घाट उतार दे। यह है गुणों का परस्पर-विरोध! इस विरोध से दुःख उत्पन्न होता है।

एक भाई मेरे पास आये, बोले—"मै सच्चे दिल से ध्यान लगाने बैठता हूँ। जी चाहता है कि ध्यान लग जाय, परन्तु लगता नही।" मैंने पूछा—"क्यों नहीं लगता?" वे बोले—"घर का ध्यान आता है, समाज का विचार आता है।" मैंने कहा—"इसमें आपका दोष नहीं, आपके चारों ओर का वातावरण दूषित है। या तो इस वातावरण को बदलिये अथवा उसका चिन्तन मत कीजिये या इससे दूर चले जाइये।" आपके मन में सात्त्विक गुण है, परन्तु आपके चारों ओर उसके विरोधी गुण है तो सुख मिलेगा नही, दुःख अवश्य मिलेगा।

इसलिए 'योगदर्शन' मे कहा है कि जो व्यक्ति विवेकी है, परख करनेवाला है, सोचनेवाला है, उसके लिए यह सारा संसार दुःख-ही-दुःख है।

परन्तु ये सुख और दुःख है क्या?

सुख का अर्थ है परिस्थितियो का आपके अनुकूल होना।

दुःख का अर्थ है परिस्थितियो का आपके प्रतिकूल होना।

सुख दो शब्दों से बना है 'सु' और 'ख' अर्थात् उत्तम इन्द्रियाँ।

दुःख भी दो शब्दों से बना है 'दुः' और 'ख' अर्थात् बुरी इन्द्रियाँ।

परन्तु ये सुख और दुःख सापेक्ष वस्तुएँ है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि मै दुःखी हूँ। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि दूसरा व्यक्ति सुखी है। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था—

"नदी का यह किनारा दूसरे किनारे की ओर देखकर कहता है—मै तो दुःखी हूँ, वह सुखी है। और दूसरा किनारा लम्बा श्वास लेकर कहता है—जो कुछ सुख है वह उस पार है, मेरे पास क्या है?"

एक व्यक्ति जलती-कड़कती धूप में खड़ा है, झुलसा जाता है। एक और व्यक्ति उससे कुछ ही परे एक टीन के नीचे खड़ा है। टीन

तप गया है। वह व्यक्ति भी गर्मी से निढाल हुआ जाता है। आकाश के नीचे खड़ा व्यक्ति सोचता है—'वह टीन के नीचे खडा व्यक्ति कितना सुखी है!' टीन के नीचे पहुँचकर कहता है—'कितना सुख मिल गया है!' टीनवाला सोचता है—'मै तो जला जाता हूँ, सुखी वह है जो किसी पक्की छत के नीचे बैठता है।' और पक्की छत के नीचे बैठा व्यक्ति सोचता है—'मुझे सुख कहाँ ? सुखी तो वह है जिसके घर में एयरकण्डीशण्ड (Air-Conditioned) मशीन लगी हुई है।' यह सापेक्षता है, दु:खी सब हैं।

इसलिए 'दर्शनशास्त्र' ने कहा—दु:ख से बचने का केवल एक ही उपाय है कि दु:ख को दु:ख न समझो। इस संसार को एक परीक्षा समझो। वीरता से, उत्साह से, तप की भावना से दु:ख सहन करो। यह संसार विश्रामस्थल नही, यह तो प्रयोगशाला है। भगवान् ने इसे तप और परिश्रम के लिए बनाया है, ताकि मनुष्य इस मिट्टी से निकलकर कुन्दन बन सके, आध्यात्मिक उच्चता प्राप्त कर सके।

और फिर यह भी स्मरण रक्खो कि दु:ख सदा सुख के लिए आता है और सुख दु:ख के लिए। जैसे दिन के पश्चात् रात्रि आती है वैसे ही रात्रि के पश्चात् दिन भी आता है। दु:ख की रात्रि आ गई है तो घबराओ मत, दिन आएगा अवश्य। रात्रि सदा रहनी नहीं, दिन भी सदा रहता नहीं।

यह जीवन है न, बच्चा उत्पन्न होता है तो मृत्यु इसके साथ आ बैठती है। हम उसके जन्म-दिन मनाते रहते है और मृत्यु हँसती रहती है कि 'मेरा समय निकट आ रहा है।' और जब मृत्यु होती है तो जीवन उसके साथ चिमटकर बैठ जाता है, दावे के साथ कहता है, 'मैं इसे फिर वापस ले आऊँगा।' दु:ख के साथ सुख, सुख के साथ दु:ख—ऐसे ही यह चक्र चलता है। तब करना क्या चाहिए ? यह कि दु:ख को दु:ख न समझना। यह समझना कि यह हमारे कल्याण के लिए है। माँ जैसे मैले-कुचैले बच्चे को मल-मलकर स्नान कराती है, उसके रोने-चिल्लाने की वह परवाह नहीं करती, वैसे ही परमात्मा इस आत्मा के मैल को धोने के लिए दु:ख देता है। वह दु:ख हमारे लाभ के लिए है, हानि के लिए नहीं। दु:ख से घबराना नही। अरे भाई!

यदि यह दु ख न भोगना होता तो इस संसार में आते ही क्यों ? उस आनन्दस्वरूप की गोद में न पडे रहते जो हमारा वास्तविक घर है। और फिर इस संसार मे दुःख किसको नही मिलता ? भगवान् राम को हम इतना प्यार करते हैं, उनका इतना आदर करते है, उन्हे भी तो चौदह वर्ष तक जगलों में भटकना पडा था। सीता जी को हम सती, माता और देवी कहते है, उन्हे भी कैद होना पडा। श्री कृष्ण को मथुरा छोडनी पड़ी। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को चाण्डाल के पास बिकना पडा। गुरु नानकदेव जी महाराज जैसे महापुरुष को रोडी नाम के ग्राम में कैद होकर पत्थर कूटने पडे। श्री गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज पर कष्ट और क्लेश आए। महर्षि दयानन्द को दुःखों और सकटो ने घेरे रक्खा। फिर हम ही दु:ख से क्यो बच जायें ? दु ख को आना ही है, आने दो इसे। वीरतापूर्वक सहन करो इसे। इस विश्वास से सहन करो कि यह हमारे कर्म का फल है।

अब रोने-चिल्लाने से कुछ होता नही। क्या बुरा है, यह उस समय देखना चाहिए था जब कर्म कर रहे थे। कर्म हो चुका, उसका फल अवश्य मिलेगा। अब दो ही उपाय है कि इस फल को हँसकर सहन करो या रोकर, फल तो मिलेगा अवश्य। रोकर भोगोगे तो भी दु:ख तो दु ख है, कट जाएगा अन्ततः।

रणवीर का एक गीत है—

भरोसा कर तू ईश्वर पर तुझे धोखा नही देगा।
ये जीवन बीत जायेगा तुझे रोना नहीं होगा।।
कहीं सुख है कहीं दुख भी, ये जीवन धूप-छाया है।
हँसी में ही बिता डालो बितानी ये ही माया है।।
जो सुख आये तो हँस देना जो दुख आये तो सह लेना।
न कहना कुछ कभी जग में, प्रभु ही से तू कह लेना।।
ये कुछ भी तो नहीं जग में, तेरे बस कर्म की माया।
तू ख़ुद ही धूप में बैठा लखे निज रूप की छाया।।
कहाँ तू था कहाँ यह था कभी तू सोच ऐ बन्दे !
झुका कर शीश को कह दे प्रभो वन्दे ! प्रभो वन्दे !!

यह है विधि संसार में रहने की !

और दु:ख से बचता तो कोई है नहीं । गुरुजी ने तो कहा है—

नानक दुखिया सब संसार, सो सुखिया जिस नाम आधार ।

नाम के बिना सुख है नही । नाम के बिना प्रत्येक व्यक्ति दु:खी है चाहे वह धनी हो या निर्धन, स्वस्थ हो या रोगी, अधिक पढ़ा-लिखा हो अथवा कम पढ़ा-लिखा, राजा हो या प्रजा, मजदूर हो या मालिक। प्राय. हम समझते है कि जिसके पास धन-सम्पत्ति है वे सुखी है। परन्तु मैने धनवानो को भी दु:खी देखा है। पुरानी बात है, लाहौर मे डी० ए० वी० कॉलिज के साथ एक शिल्प महाविद्यालय खोलने का निश्चय हुआ। उसके लिए धन-सग्रह करने के लिए एक शिष्टमण्डल लाहौर से बम्बई जा रहा था। शिष्टमण्डल में लाला मेहरचन्द जी महाजन थे जो बाद में भारत की सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस बने। लाला साईदास जी एम० ए० थे, डी० ए० वी० कॉलिज के प्रिन्सिपल लाला मेहरचन्द जी थे। मैं भी था। गाड़ी मे हम बैठे थे। एक स्टेशन पर एक सज्जन डिब्बे मे आये। मेरे पास ही बैठ गए। मैने देखा वह कुछ उदास-से है, कुछ चिन्ता में है। मेरा स्वभाव है कि जिसे दु:खी देख लूँ उसे हँसाने का प्रयत्न करता हूँ। मेरा जन्म हुआ तो माता-पिता ने नाम दिया—खुशहालचन्द। स्कूल मे पहुँचा तो एक और नाम मिला 'खुर्सन्द'। संन्यासी बना तो नाम मिला 'आनन्द स्वामी'। इसलिए मुझे प्रत्येक अवस्था मे हँसना, प्रसन्न रहना अच्छा लगता है। इन महोदय को उदास देखा तो पूछा—"क्यों साहब ! क्या बात है ? आपका स्वास्थ्य तो ठीक है ?" वे धीमे-से बोले—"हाँ, ठीक है।" मैने एक पुस्तक उन्हे देते हुए कहा—"तो फिर इसे पढिये, चित्त लग जाएगा।" उन्होने पुस्तक ली, कुछ पृष्ठ उलटे, फिर पुस्तक को बन्द करके रख दिया। मैने देखा तो सोचा, 'दाल मे कुछ काला है।' इसलिए दो-तीन समाचारपत्र उनके आगे कर दिये, कहा—इनको पढिये। उन्होंने पत्र ले लिये, इधर-उधर देखा। पत्र भी तह करके रख दिये। मैने सोचा—'दाल में थोड़ा नही बहुत काला है।' इसलिए फिर पूछा—"आप दु:खी है, बताइये तो सही क्या बात है ? बताने से दु:ख हल्का हो जाता है।" वे बोले—"मै वस्तुत: बहुत दु:खी हूँ। एक पल भी मुझे चैन नहीं।" मैने विवरण पूछा तो

उन्होने बताया कि—"मैं बहुत सुखी था। अच्छा-भला कारोबार चलता था, उससे मेरे सारे परिवार का निर्वाह हो जाता था। तभी एक मित्र ने कहा—'आओ मिलकर एक नया व्यापार करे।' पिछले दिनों हिसाब हुआ तो पता लगा कि दो लाख रुपये लाभ हुआ है। एक लाख मेरे मित्र ने ले लिया, एक लाख मैने। यह लाख रुपया ही मेरे लिए संकट बन गया है। हर समय उसे कमर के साथ बाँधे रखता हूँ, हर समय डर रहता है कि कोई छीन न ले।"

मैंने कहा—"रुपया है तो बैंक मे जमा कर दो, इसमे चिन्ता की क्या बात है?" वे बोले—"मै गया था बैंक मे रुपया जमा करने परन्तु तभी सुना कि बैंक फेल भी हो जाते हैं। मै डरा कि जिस बैंक मे यह रुपया रक्खा वही फेल हो गया तो क्या होगा? रुपये को लेकर घर आ गया। कई दिन सोचने के पश्चात् निर्णय किया कि रुपए को डाकखाने में जमा करा दूं। बैंक फेल हो जाते है, डाकखाने तो फेल नही होते। डाकखाने मे पहुँचा तो देखा कि वहाँ एक व्यक्ति का पोस्टमास्टर से झगडा हो रहा था। वह व्यक्ति कहता था—'मैने रुपया जमा करा रक्खा है, अब मुझे आवश्यकता है, मुझे रुपया दो।' पोस्टमास्टर कह रहा था—'मै यहाँ नया-नया आया हूं, तुम्हे जानता नही। तुम किसी मजिस्ट्रेट को या किसी अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति को लाओ जो तुम्हे पहचानता हो। उसके पश्चात् मै रुपया दूंगा, उससे पूर्व मै दे नहीं सकता।' मैने झगडा देखा तो सोचा, यह तो बड़ी मुसीबत है। मैं आज एक लाख रुपया जमा करा दूँ और कल यह पोस्टमास्टर बदल जाय तो मै पहचान कराने के लिए मजिस्ट्रेट को कहाँ तलाश करता फिरूँगा? यह सोचकर वापस आ गया। अब हर समय इस रुपए को साथ बाँधे फिरता हूँ। रात को नींद नहीं आती कि कोई चोर न आ जाय। दिन को चैन नहीं मिलता कि कोई छीन न ले और मुझे मार न दे। मेरे लिए तो यह रुपया आफत बन गया है।"

मैंने हँसते हुए कहा—"इस संकट का इलाज हमारे पास है। हम शिल्पमहाविद्यालय के लिए दान माँगने जा रहे है। आप यह एक लाख रुपया हमें सौप दें। आपका नाम हो जाएगा, हमारा काम हो जाएगा।"

परन्तु कौन देता है ? वह साहब अपनी चिन्ता को कमर के साथ लपेटे फिरते थे। दु:खी थे, परन्तु दु:ख के कारण को दूर करने के लिए तैयार नही थे। सो यह रुपया भी दु:ख का कारण बन जाता है।

इस प्रकार मनुष्य कई प्रकार के दु:ख लगा लेते है, अपने लिए आप दु:ख पैदा कर लेते है।

तब क्या करे ?

एक ही उपाय है कि मन को जीतिए। मन को जीतने के तीन साधन मैने बताए—ज्ञान, प्राण और ध्यान। ज्ञान कहाँ से मिलता है—यह कल बताया। प्राण के सम्बन्ध में भी बताया कि मन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण स्थूल है, मन सूक्ष्म है। प्राण को वश में करना सरल है, उसका उपाय है प्राणायाम। कल यह भी बताया कि कई लोगो ने बहुत कठिन प्रकार के प्राणायाम बताकर लोगो को भयभीत कर दिया है। इससे सर्वसाधारण समझने लगे है कि प्राणायाम तो साधु और सन्यासियो के लिए है, गृहस्थियों के लिए नही। यह धारणा ठीक नही। प्राणायाम ऐसा कर्म है जिसे प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है—बच्चा, बूढ़ा, जवान, स्त्री-पुरुष, बच्चा-बच्ची। किसीके लिए इसकी मनाही नही। आवश्यकता इस बात की है कि किसी अनुभवी व्यक्ति से उस प्राणायाम को सीखिये जो आपके लिए लाभदायक है। पुस्तके पढकर प्राणायाम मत कीजिये। प्राणायाम से शरीर स्वस्थ रहता है, मन भी वश मे हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति साढ़े पॉच मिनट तक कुम्भक कर ले तो उसका मन उसके वश मे हो जाता है। कुम्भ कहते है घड़े को। पेट में हवा भरी जाय तो वह भी घडे की भॉति फूल जाता है, इसलिए इस प्राणायाम को आन्तरिक कुम्भक कहा जाता है।

इस कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्रो० राममूर्ति बड़े-बडे खेल करते थे, हाथी को अपने सीने पर से गुजार देते थे, पच्चीस-तीस आदमियो से भरी गाडी को अपने सीने पर से गुजार देते थे।

मैंने स्वय इस कुम्भक का लाभ देखा। प्रयाग मे कुम्भ का मेला हो रहा था जिसमे सैकड़ो मनुष्य कुचले गये और मर गए। मै भी तब प्रयाग में श्री जगनन्दन लाल जी के पास था। बहुत सज्जन व्यक्ति थे-वे। अब तो उनका देहान्त हो गया। बहुत मीठे स्वभाव के थे।

शरीर उनका काफी मोटा था। मेरे जैसे दो-तीन व्यक्ति उनमें से निकल सकते थे। घर से चले तो मोटर में, परन्तु एक स्थान पर पहुँचे तो पुलिसवालों ने मोटर रोक दी, बोले—"आगे मोटर नही जा सकती।" हम पैदल चले। भीड बहुत थी। मैंने जगनन्दन लाल जी से कहा, "वापस चले जाइये। मै तो किसी प्रकार चला जाऊँगा, आपकी यह तोद आपको किसी प्रकार चलने न देगी।" पहले वे माने नही, परन्तु कुछ ही आगे गए तो भीड अधिक होने लगी। उनका दम फूलने लगा। तब वे बोले, "यह तो मेरे वस की बात नही।" मैंने कहा—"बस की बात नही तो बाई ओर से निकलकर वापस चले जाओ।" वे बोले, "आगे जाकर पुल आयेगा। उससे बाईं ओर घूम जाइये। आगे लाल रग का एक निशान लगा है, वहाँ से निकट ही आर्यसमाज का कैम्प है, वहाँ पहुँच जाइये।" मै आगे बढा, पुल पार किया। तभी आगे से पीछे की ओर जो रेला आया तो मेरे पाँव उखड गये। पीछे से दबाव, आगे से दबाव, निकलने का कोई मार्ग नही। मैंने कुम्भक करके साँस को अन्दर रोक लिया और दस मिनट तक बिना पाँव के भूमि के ऊपर-ही-ऊपर भीड मे चलता रहा। तभी वह निशान दिखाई दिया। तब मैंने पजाबियो की भाँति कोहनी और कन्धा मारकर अपना रास्ता बनाया। बस, निशान की ओर चला गया। वहाँ से आर्यसमाज कैम्प मे पहुँच गया। उस समय यदि मै कुम्भक न करता तो आज आपके सामने कथा न करता, तब तो मै दूसरे लोक में होता। (इसे कुम्भ मे स्वामी जी के बाजू की हड्डी टूट गई जिसके कारण उन्हे कई सप्ताह कष्ट रहा।)

यह है कुम्भक प्राणायाम का सांसारिक लाभ। महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट कहा कि—पूरक, रेचक, कुम्भक और स्तम्भवृत्ति—ये चार प्राणायाम प्रत्येक व्यक्ति के लिए है, प्रत्येक वृद्ध, बच्चे, स्त्री और पुरुष के लिए। इनसे मन वश में आता है। जो लोग कहते है कि प्राणायाम गृहस्थियो के लिए नहीं, वे गलत कहते है। इस भ्रान्त विचार को दूर करके किसी अनुभवी व्यक्ति से प्राणायाम सीखो, उसके पश्चात् करो।

यह है प्राणायाम के द्वारा मन को वश में करने की विधि! इसके पश्चात् ध्यान की बाते सुनिये—

हमारे शरीर में ध्यान लगाने के तीन स्थान है—हृदय, आज्ञाचक्र

और ब्रह्मरन्ध्र । चित्त लगाकर प्रतिदिन ध्यान करो तो मन काबू में आ जायेगा ।

आप कहेंगे यह तो बहुत सरल है, ज्ञान और प्राण की विधि कठिन है, ध्यान लगाना सरल है। परन्तु ऐसी बात नही। ध्यान के सम्बन्ध में 'साख्यदर्शन' में कहा है—

ध्यानं निर्विषयं मनः ।

ध्यान उस समय होता है जब मन हर प्रकार की विषय-वासना, प्रत्येक प्रकार की इच्छा, प्रत्येक प्रकार के सकल्प-विकल्प से परे हट जाये। योग मे यह सातवी सीढी है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और तब ध्यान ।

कई भाई मेरे पास आते है तो कहते है कि—"हमे ध्यान मे बैठा दो।"

मै पूछता हूँ, "पहली छ मंजिले पार की है ?" वे कहते है, "नही की।" मै पूछता हूँ—"सातवी मंजिल पर कैसे पहुँचोगे ?" वे कहते हैं—"नही, किसी भी विधि से ध्यान लगवा दो।"

मैं कहता हूँ—"अच्छी बात है। बैठो, छलाँग लगाओ। टाँग टूट गई तो मुझे दोष न देना।"

इस प्रकार ध्यान लगता नही। ध्यान उस समय लगता है जब चित्त के विकार, उसके दोष, प्रत्येक प्रकार के वैर-विरोध और शत्रुता की भावनाएं समाप्त हो जायं।

एक गुरुजी थे। उन्होने अपने शिष्य को ध्यान लगाने के लिए कहा। शिष्य प्रयत्न करता रहा, परन्तु ध्यान लगा नही। तब गुरुजी के पास आकर बोला—"महाराज! ध्यान लगाने मे सफलता नही मिलती।"

गुरुजी ने कहा—"बेटा! तुम्हारे जूते मे यदि छोटा-सा कंकर भी आ घुसे तो क्या आराम से चला जायगा ? पहले मन से इच्छा के कंकर को हटा दो, फिर ध्यान लगाने मे सफलता मिलेगी।"

यह है रास्ता मेरे भाई! ध्यान लग सकता है परन्तु यदि मन मे दुःख, कष्ट, क्लेश और चिन्ता का कंकर है तो फिर ध्यान कैसे लगेगा ? ध्यान लगाना है तो इन सबको कम-से-कम उस समय के लिए तो छोड

दो, परे कर दो जिस समय ध्यान लगाने बैठो। सब ओर से हटकर, सब चिन्ताओं, सब विचारों को छोड़कर इस सच्ची माँ की शरण मे आओ, तब ध्यान लगेगा अवश्य। परन्तु अपने मन, बुद्धि और हृदय के इन कंकरो को साफ़ कर दो। योगी याज्ञवल्क्य से किसी ने पूछा, "योग का 'अ आ' क्या है?" उन्होने कहा—

सर्वचिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।

सब चिन्ताओ को छोड़कर पूर्णरूपेण निश्चिन्त होकर जो आगे बढता है वही योग के मार्ग पर चल सकता है। इन चिन्ताओं को छोड़े बिना ध्यान लगाना सम्भव नही।

एक बहुत अच्छे परोपकारी सज्जन हैं। एक बार वे मुझे मिले; बोले—"मुझे तो संसार की चिन्ता खाये जाती है।" मैंने पूछा—"आपको ससार की क्या चिन्ता है?" वे बोले, "देखिये न, कहीं तूफान आ रहे है, कहीं भूकम्प, कहीं आँधियाँ, कही वृष्टि, कही बाढ़, कही रेलो की टक्कर तो कही मोटरों की। एक मेरे मित्र हैं, उनकी छोटी अवस्था मे ही हृदयगति बन्द हो गई, अब मैं चिन्ता न करूँ तो क्या करूँ?"

मैंने हँसते हुए कहा—"देखिये महाराज! यह संसार तो ऐसे ही चलेगा, आपकी चिन्ता से कुछ होगा नही। आप जिनकी सहायता कर सकते है अवश्य कीजिए। जिनको मार्ग-भ्रष्ट होने से बचा सकते है उन्हें अवश्य बचाइये। उनके लिए पसीना बहाइये, परिश्रम और पुरुषार्थ कीजिये। परन्तु यदि वे सुधरते नहीं तो फिर उनकी चिन्ता मत कीजिये। उन्हे अपने कर्मों का फल भोगने दीजिये। इस ससार के दुःख, इस संसार की चिन्ताएँ कभी समाप्त नही होगी। आप उनमें खोकर अपने-आपको निढाल कब तक करते रहोगे?"

या खून पसीना करके बहा या तान के चादर सोता जा।
यह नाव तो चलती जायेगी तू हँसता रह या रोता जा॥

तो फिर हँसते क्यों नही भाई? रोते क्यो हो? फल की इच्छा को छोड़कर कर्म करो। परोपकार भी करना है तो चिन्ता छोड़कर करो।

एक बहुत अच्छे साधु मुझे मिले। बहुत दुर्बल थे वे। मैंने पूछा—"महाराज! आप इतने दुर्बल क्यों हैं?" वे बोले, "अरे भाई, संसार

में इतने झगड़े हैं, इन्हें देखकर मेरा तो खून सूखा जाता है।" मैंने हँसते हुए कहा—"झगड़ों को देखिये अवश्य, इन्हे दूर करने के लिए प्रार्थना भी कीजिए, परन्तु अपना खून क्यों सुखाते है ? यदि ऐसा ही करते रहे तो यह शरीर रोगी हो जायगा। तब आप ससार की चिन्ता नही करेंगे, संसार को आपकी चिन्ता करनी पडेगी। दो-तीन व्यक्तियों को आपकी सेवा करनी पड़ेगी।"

परन्तु मेरे कहने से क्या होता है ? लोग चिन्ता छोड़ते नहो। परन्तु यह चिन्ता होती क्यों है ? मोह के कारण। इस विचार से कि यह मेरा है। एक सज्जन ने लगभग ७५ सहस्र रुपया खर्च करके एक कोठी बनवाई। अब वह किसी भी समय कोठी को देखते तो उन्हे ७५ सहस्र रुपया याद आता। कोठी के बाहर कोई लकीर न डाल दे, इसकी सफेदी को कोई खराब न कर दे, इसके सोफ़े कोई गन्दे न कर दे, बस, इसी चिन्ता में रहते। एक दिन उनकी पुत्री के बच्चे वहाँ आये, सोफ़ों पर कूदने लगे। वे चिल्लाकर बोले—"सोफ़ो पर नाचो मत, स्प्रिंग ढीले हो जायेंगे।" मैने देखा कि बच्चे भयभीत होकर परे चले गए। परन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि उन साहब को अपने नवासों से नहीं, अपितु अपने सोफो से प्रेम है।

परन्तु इसका कारण क्या था ? यह कि उन्हे अपनी कोठी से मोह हो गया था। उसे वे अपना समझते थे।

कुछ ही दिनों पश्चात् उन्हें पता लगा कि यह मुहल्ला तो बिगडने वाला है। हो सकता है कि इस गडबड़ में कोई कोठी को आग लगा दे। इस भय से उन्होंने कोठी बेच दी। ७५ सहस्र मे बनवाई थी, ८० हजार रुपया मिल गया।

अब कोठी की उन्हें कोई चिन्ता नही थी। इससे उनका मोह समाप्त हो गया। परन्तु अब यह मोह उस रुपये में हो गया। उसे सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने एक बैंक में रख दिया। अब उनको इस बैंक से मोह हो गया। उस बैंक की हर समय उन्हे चिन्ता रहने लगी। तभी किसी ने गप्प उड़ा दी कि बैंक की दशा खराब है। उन्होने अपना रुपया बैंक से निकलवा लिया। इसके साथ ही बैंक के सम्बन्ध में इनकी चिन्ता समाप्त हो गई, क्योंकि इसके साथ उनका मोह समाप्त हो गया।

यह है दुःख और चिन्ता का कारण ! यह मोह न रहे तो दुःख भी नहीं रहता, चिन्ता भी नहीं रहती ।

अब देखिये, प्रतिदिन कितने व्यक्ति मरते है ! प्रत्येक व्यक्ति के लिए आप रोते नही, दुःखी भी नहीं होते । परन्तु अपना कोई निकट-सम्बन्धी मर जाय तो दुःख होता है । इसलिए होता है कि हम उसे अपना समझते है, उससे हमे मोह है । इस मोह को थोड़ी देर के लिए छोड़कर ध्यान लगाइये, तभी ध्यान लगेगा, नही तो लगेगा नहीं ।

दूसरी बात यह है कि श्रद्धा से काम लीजिये । दलीलों से, तर्क से नही, अपितु विश्वास से काम लीजिये । कई लोग कहते हैं, श्रद्धा की बात ठीक है परन्तु श्रद्धा तो मूर्खों में होती है । अन्धश्रद्धा बुद्धिमानों में कैसे हो सकती है ?

यह बात ग़लत है; मैं इसे नहीं मानता ।

श्रद्धा देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ॥

ऋ० १० । १५१ । १४ ॥

श्रद्धा से विद्वान्, यज्ञ करनेवाले और हवा में उडनेवाले योगी काम लेते हैं ।

हवा में उडनेवाले योगियों की बात आपको विचित्र-सी प्रतीत होगी परन्तु यह बात सत्य है । महर्षि दयानन्द के जीवन में ऐसी घटनाएँ आती हैं जब लोगों ने उन्हे भूमि से ऊपर—वायु में समाधि लगाकर बैठे देखा । मैने इन घटनाओं को पढा तो आश्चर्य के साथ सोचा कि यह बात कैसे हो सकती है ? पृथिवी के आकर्षण की जो शक्ति है, वह किसी के लिए समाप्त कैसे हो सकती है ? परन्तु मैं जब कैलास और मानसरोवर की यात्रा के लिए गया तो अपनी आँखों से इस बात को देखा । हम लोग दस व्यक्ति थे । मेरे नौ साथी बंगाली और मद्रासी थे । मै एक पृथक् छोटे-से तंबू में रहता था । चूँकि मेरे ये नौ साथी हर समय हवन करते रहते थे—सिगरेट पीते रहते थे, इसलिए मैं उनके साथ रहता नही था । शाम के समय हम तंबुओं से बाहर बैठे थे तो मैने कहा—"मैं इस यात्रा पर आया तो केवल कैलास और मानसरोवर देखने के लिए नहीं, अपितु उन सिद्ध योगियों को देखने के लिए जिनकी कितनी ही बातें सुनी है, परन्तु यहाँ तो कोई ऐसा सिद्ध

योगी कही दिखाई नही दिया।" मेरे साथियो ने भी कहा "ऐसे योगी केवल उपन्यासो ग्रौर कहानियों मे होते हैं, वस्तुत उनका कोई ग्रस्तित्व नही होता।"

तब रात हो गई। मै ग्रपने तबू मे ग्राकर सो गया। प्रात तीन बजे उठा तो पन्द्रह सहस्र फीट की ऊँचाई पर हर ग्रोर सन्नाटा था। ग्राकाश में चन्द्रदेव चमक रहे थे। मै तंबू से तनिक दूर बाहर गया तो देखा कि सामने एक नंग-धड़ंग वैरागी साधु खड़ा है, जटाग्रो मे भभूत रमाये, सारे शरीर पर भभूत मले हुए। मैंने उसे देखा तो ग्राश्चर्य से पूछा—"ग्राप कौन है ?" वह बोला—"ग्राज साय तुम सिद्ध योगियो को देखने की इच्छा कर रहे थे। मैं हूँ सिद्ध योगी, बताग्रो क्या चाहते हो ?" मैंने कहा--"मै वस्तुत. किसी सिद्ध योगी को मिलना चाहता था, दर्शन करना चाहता था।" वह बोला—"तो ग्राओ, बैठो।" एक चट्टान पर मैं उसके पास बैठ गया। वह बोला—"यहाँ जो लोग यात्रा करने ग्राते है वे केवल कैलास ग्रौर मानसरोवर को देखने की इच्छा रखते है। तुम पहले व्यक्ति हो जिसने कहा कि तुम्हे कैलास ग्रौर मानसरोवर से ग्रधिक किसी सिद्ध योगी को देखने की इच्छा है। इसीलिए मै तुम्हारे पास ग्रा गया। ग्रब बताग्रो, तुम्हारे लिए क्या करूँ ?" मैंने कहा—"महाराज! ग्रापका ग्राशीर्वाद चाहता हूँ।" ग्रौर उन महात्मा जी ने मुझे ग्रपने सीने के साथ लगाकर लिपटा लिया; मेरा माथा चूमा। ग्रौर तब मैंने देखा कि मैं उस चट्टान पर ग्रकेला ही बैठा हूँ। वे महात्मा वहाँ है नही। मैने समझा, यह सब स्वप्न था। ऐसा कैसे हो सकता है कि ग्रभी एक ग्रादमी मेरे पास हो, मुझसे बाते कर रहा हो ग्रौर फिर क्षण-भर मे इस प्रकार ग्रदृश्य हो जाय कि उसका चिह्न भी दिखाई न दे ? तम्बू मे जाकर मैने टार्च जलाई। देखा, मेरे कपड़ो पर भभूत लगी है, माथे पर भी लगी है। इससे मैंने समझा कि यह स्वप्न नही, वास्तविकता है।

दिन निकला तो मैंने ग्रपने पथ-प्रदर्शक कोचखम्बा से पूछा— "यहाँ कोई योगी भी रहते है ?" वह बोला, "रहते तो है। एक योगी की गुफा यहाँ से कोई एक मील के ग्रन्तर पर है। यह जो सामने पहाड़ है उसके दूसरी ग्रोर।"

मैंने कहा—"मुझे उसके पास ले चलो।" वह बोला—"नहीं स्वामी जी ! वह बहुत क्रोधी हैं। उनकी इच्छा के बिना कोई वहाँ जाये तो लोग कहते हैं कि वह मर जाता है।"

मैंने कहा—"घबराओ नहीं, मुझे वहाँ ले चलो।" वह बोला—"नहीं स्वामी जी ! मेरे बाल-बच्चे हैं, मैं मर गया तो वे क्या करेंगे ?" मैंने कहा—"मैं क्या लावारिस हूँ ?" तब उसे रात की बात सुनाई। उसे कुछ उत्साह हुआ। वह बोला—"आपको उस पहाड पर ले चलता हूँ। परन्तु गुफा तक नहीं जाऊँगा, मार्ग बता दूँगा।" मैंने कहा—"ऐसा ही कर, ले तो चल !"

पर्वत के उस ओर पहुँचकर वह बोला—"इस पगडण्डी पर चले जाइये। आगे जाकर एक ओर एक टीला-सा आयेगा, उसी के नीचे उस योगी की गुफा है। गुफा के मुँह पर एक पत्थर रक्खा है, उसे हटाकर अन्दर चले जाइये।"

पगडण्डी पर चलता हुआ मै वहाँ पहुँचा, पत्थर को हटाया और गुफा में प्रविष्ट हुआ। वह नीचे की ओर जा रही थी। मै भी नीचे उतरा। अभी थोड़ी दूर गया था तो देखा कि सामने वही रातवाले महात्मा बैठे हैं, दुबले-पतले शरीरवाले, दाढी और सिर के बाल कुछ काले, कुछ सफ़ेद, शरीर पर भभूत लगी हुई।

मुझे देखते हुए वे बोले—"आ गये आनन्द स्वामी !"

मैंने कहा, "जी ! दर्शन करने आया हूँ।"

वे बोले—"मैंने अपना आशीर्वाद तो दे दिया था, फिर और क्या चाहिए ?"

मैंने कहा—"मैंने सुना है कि तिब्बत के योगी आकाश-समाधि लगाते है। मै देखने आया हूँ, आप भी लगाते है या नही।"

वे बोले—"आकाश-समाधि देखना चाहते हो तो देखो !"

और वे जल्दी-जल्दी अपने मुँह से पेट में हवा भरने लगे। उनका पेट घडे की तरह फूल गया। परन्तु वे अब भी अपने अन्दर हवा भर रहे थे। देखते-ही-देखते उनका सारा शरीर फूल गया; चेहरा, बाहु, टाँगें—सब ऐसे प्रतीत हुए जैसे गुब्बारे में फूंक भरी गई हो। गोल गुब्बारा-सा हो गये वह, तभी ऊपर उठने लगे। कुछ ही क्षण में गुफा

की छत से जा लगे। कितनी देर तक छत से लगे रहे, मुझे नहीं पता। मैं आश्चर्य से उन्हें देख रहा था। घड़ी देखना भी भूल गया। अब वे मुँह से हवा छोडने लगे, नीचे से भी, और धीरे-धीरे नीचे आने लगे। कुछ ही देर पश्चात् वे भूमि पर बैठे थे।

मुझे चकित देखकर बोले—"यही आकाश-समाधि है। मेरे गुरु यहाँ से बहुत दूर रहते है। पैदल जाने का मार्ग बहुत लम्बा है। उनके पास जाना हो तो इसी प्रकार जाता हूँ।"

यह सब-कुछ मैने अपनी आँखों से देखा। तब समझा कि महर्षि दयानन्द के जीवन की जो घटनाएँ उनके जीवनचरित्र मे लिखी है वे गलत नहीं है। यह सब-कुछ मैंने आपको हवा में उड़नेवाले योगियों की बात सुनाने के लिए बताया।

और ये सब-के-सब योगी—इतने ऊँचे सिद्ध योगी, ये विद्वान् और यज्ञ करनेवाले—सब श्रद्धा से काम लेकर इस अवस्था को प्राप्त करते है। तब कौन कहता है कि श्रद्धा मूर्खों की वस्तु है? सचाई यह है कि श्रद्धा कि बिना कुछ होता नहीं। ध्यान लगाना हो तो श्रद्धा आवश्यक है।

और इन योगियों के सम्बन्ध मे महर्षि दयानन्द ने बिल्कुल ठीक कहा कि वे योग की शक्ति से न केवल इस ससार के प्रत्येक स्थान पर अपितु अन्य लोकों में भी पहुँचते हैं, लोगों के हृदयो के अन्दर भी पहुँचते हैं, परन्तु पहले श्रद्धा होनी चाहिए—

श्रद्धा हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

ऋ० १० । १५१ । ४ ॥

श्रद्धा के द्वारा ही उत्तम स्थान पर पहुँचो।

ध्यान लगाने के लिए तीसरी आवश्यक बात है—ईश्वर-विश्वास।

संसार में सुख-दुःख तो हैं ही, ऊँच-नीच भी है; गर्मी-सर्दी भी। परन्तु इस संसार को चलानेवाला परमात्मा है जो हमारे कल्याण के लिए ही सब-कुछ करता है। यह है ईश्वर-विश्वास! यह विश्वास जाग उठे तो फिर किसी भी चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं रहता। मनुष्य कहता है काम बिगड़ता है तो बिगड़ने दो, भगवान् कल्याण

करेंगे। वह निश्चिन्त होकर ध्यान में बैठ जाता है।

मैं अफ्रीका गया तो वायुयान द्वारा। वहाँ प्रातः, सायं, दोपहर, दिन में कई-कई बार व्याख्यान दिये तो थक गया। वापस चलने लगा तो अफ्रीकावाले मुझे वायुयान द्वारा ही भेजना चाहते थे। तीन-चार घण्टों में बम्बई पहुँच जाता। परन्तु मैने सोचा—बम्बई पहुँचकर फिर चक्की चलानी पड़ेगी। आर्यसमाजी भाई कहेंगे—'चलो स्वामी जी, कथा शुरू करो।' और मुझे चाहिए थोड़ा विश्राम। इसलिए अफ्रीकावालो से प्रार्थना की कि मुझे समुद्री यान द्वारा भेजिये। उन्होने प्रबन्ध कर दिया। मुम्बासा से मैं जलयान में बैठा। सामने दूर तक फैला समुद्र, छोटा-सा जलयान, उसका एक कप्तान, और मुझे रत्ती-भर भी चिन्ता नहीं हुई, इसलिए कि मुझे और दूसरे यात्रियों को यान के कप्तान पर विश्वास था। यह विश्वास था कि वह अपने काम को जानता है, कई वर्ष से यान चलाता है, मुम्बासा से बम्बई गया है, अब भी पहुँच जाएगा। इस विश्वास ने हमें निश्चिन्त कर दिया।

अरे भाई! यदि जहाज़ के कप्तान पर विश्वास करके हम निश्चिन्त हो सकते हैं तो उस परमात्मा पर विश्वास करके क्यों निश्चिन्त नही हो सकते जो इस ससार के जहाज को चलाता है, जो अरबों-खरबों वर्षों से यही काम करता है, जिसके अन्दर सबके लिए प्यार है, सबके लिए कल्याण की भावना है। संसार का अथाह समुद्र है तो घबराओ नही। लहरे उठती है, तूफ़ान उठते है तो चिन्ता मत करो! भक्तिरूपी जहाज में बैठो जिसका चालक वह शिव और शंकर है और विश्वास रक्खो कि यह कप्तान तुम्हे पार ले जाएगा। आज तक किसी को उसने धोखा नहीं दिया, तुम्हें भी धोखा नहीं देगा। उसका पल्लू पकड लो। अपने-आपको उसके अर्पण कर दो, फिर कोई चिन्ता रहेगी नही।

और तब ध्यान लगाने के लिए चौथी आवश्यक बात है यह कि अपने हृदय से घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता, सबको निकाल दो! इनको निकाल देने से मन शान्त हो जाएगा, स्वयमेव ध्यान में खो जाएगा।

परन्तु लो जी, साढ़े नौ बज गए। अच्छा, शेष कल सही।

सातवाँ दिन

ओम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।।

प्यारी माताओ और सज्जनो !

इसलिए कि मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बने, उसके मन का अपने वश में होना आवश्यक है। मन को वश में करने के तीन उपाय मैंने बताये—ज्ञान, प्राण और ध्यान। ज्ञान और प्राण की बात बता चुका। ध्यान की बात कल शुरू की हुई थी और मैंने कहा था कि ध्यान लगाने के लिए अपने मन से घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता के कंकरों को बाहर फेंक देना आवश्यक है। आपके जूते में कोई कंकर हो और आप उसे पहन लें तो जिस प्रकार आपके लिए चलना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार मन में ये कंकर हों तो ध्यान लगता नहीं।

ध्यान के लिए दूसरी आवश्यक बात है श्रद्धा की। श्रद्धा के बिना इस मार्ग पर चलना सम्भव नहीं। यह मार्ग तर्क और युक्ति का मार्ग है नहीं, विश्वास का, श्रद्धा का मार्ग है। दलील और तर्क से सत्य को खोजिये, आप छान-बीन कीजिये, खूब सोचिये, वास्तविकता का पता लगाइये। परन्तु एक बार वह ज्ञात हो जाये तो पूर्ण निश्चय के साथ उसे अपना लीजिये, डगमगाइये नहीं। अटल विश्वास के साथ आगे बढ़िये। यह है श्रद्धा !

मैं युक्ति और तर्क का विरोधी नहीं, उनसे काम अवश्य लीजिए। परन्तु एक बार आपने अपना रास्ता तय कर लिया तो श्रद्धा के साथ उसपर चलिये, फिर तर्क मत कीजिए, युक्तियाँ मत सोचिए ! क्योंकि जिस रास्ते की बात मैं कहता हूँ वह युक्ति, तर्क और बुद्धि से ऊपर है। जिस लक्ष्य पर आप जाना चाहते हैं वह उनकी पहुँच से परे है। हमारे माथे में आज्ञाचक्र है जो मानसिक और शारीरिक व्यवस्था को चलाता है। इससे ऊपर बुद्धि है जो आज्ञाचक्र को चलाती है। इससे भी ऊपर वह ब्रह्मरन्ध्र है जहाँ आत्मा परमात्मा के दर्शन करता है।

वह परमात्मा युक्ति, तर्क और बुद्धि सबसे ऊपर है। केवल श्रद्धा वहाँ पहुँचती है। कुछ लोग कहते हैं कि श्रद्धा केवल मूर्खों में होती है; उन लोगों में होती है जो युक्ति और तर्क से काम नहीं ले सकते। कल मैंने आपको वेद का उद्धरण देकर बताया था कि यह बात गलत है।

श्रद्धा का मार्ग मूर्खों और अज्ञानियों का नहीं, अपितु उन लोगों का मार्ग है जो विद्वान् और बुद्धिमान् हैं, जो यज्ञ करनेवाले हैं, जो हवा में उड़नेवाले सिद्ध योगी है। ये लोग अपने हृदय में श्रद्धा को जगाकर बड़ी-से-बड़ी वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं, अध्यात्म-मार्ग में ऊँची-से-ऊँची स्थिति पर पहुँच जाते हैं। इसीलिए 'महाभारत' मे कहा गया—

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी।

अश्रद्धा से बढ़कर कोई पाप नही। श्रद्धा पाप से छुटकारा दिलानेवाली है।

अब देखिये 'यजुर्वेद' के दूसरे अध्याय मे एक मन्त्र आता है—

कस्त्वा विमुञ्चति ? स त्वा विमुञ्चति।
कस्मै त्वा विमुञ्चति ? तस्मै त्वा विमुञ्चति।

कौन तुझे ससार के दुःखो से, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति दिलानेवाला है ? वह परमपिता परमात्मा ही तुझे मुक्ति दिलानेवाला है। उसकी कृपा के बिना मुक्ति कभी मिलती नही। और किसलिए वह तुझे मुक्ति देता है ? इसलिए कि तू उसके लिए यज्ञ मे आहुति छोडता है—यह हवन-यज्ञ का वर्णन है।

और महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा है—"जो व्यक्ति हवन-यज्ञ को छोड़ देता है, उसे ईश्वर भी छोड देता है।" इतने स्पष्ट वर्णन के पश्चात् भी यदि कोई व्यक्ति हवन-यज्ञ पर श्रद्धा न करे तो उसका बनेगा क्या ? वेद स्वय कहता है, महर्षि दयानन्द कहते हैं। इसके पश्चात् भी आप मानें नहीं, दलील और युक्तियाँ ही देते रहे तो कहीं पहुँचेंगे नहीं, क्योंकि जिस रास्ते पर आपको जाना है, वह युक्ति और तर्क से परे है।

परन्तु वेद ने कहा, महर्षि ने कहा, इसके पश्चात् भी अवस्था क्या

है ? इस समय मैं कथा करता हूँ। आप कितने ही सज्जन यहाँ विद्यमान हैं परन्तु प्रातःकाल जब इसी स्थान पर यज्ञ होता है उसमें तो इतने सज्जन नही आते, न होने के बराबर आते हैं। आर्यसमाज का साप्ताहिक सत्संग हो तो हम पूछते हैं, "क्यों जी, सत्संग की कार्रवाई कब आरम्भ होगी ?" यह कार्रवाई आरम्भ होती है हवन-यज्ञ से, उसे हम कार्रवाई ही नही समझते। यह तो श्रद्धा नही। प्रभु का मार्ग श्रद्धा का मार्ग है। ध्यान के लिए श्रद्धा आवश्यक है।

तीसरी आवश्यक बात है यह कि अपने मन को फ़ालतू विचारों से, संकल्प और विकल्प से साफ़ कर दीजिये। किसान खेती बोता है न, तो ऐसा करता है कि पहले भूमि को साफ़ करता है, ईंट-रोडा, कंकर-पत्थर, झाड़-झखाड, सबको निकालकर बाहर फेंक देता है। हल चलाता है, तब उसके ऊपर सुहागा चलाकर उसे समतल करता है। सब-कुछ हो जाने के बाद बीज बोता है। कुछ दिनों पश्चात् बीज उग आता है, पौदे ऊपर उठने लगते है। परन्तु इन पौदो के साथ-साथ कई जगह पर घास भी उग आती है जिसे किसान ने बोया नहीं। वे बूटियाँ और पौदे भी उग आते है जिनका उसने बीज नही डाला। ये सब वस्तुएँ कहाँ से आ गईं ? बेचारे किसान ने तो गेहूँ बोया था, फिर यह जगली घास, बूटियाँ और पौदे कहाँ से आ गए ? उन पहले बीजो के कारण जो भूमि में विद्यमान थे और जिन्हे किसान निकाल नही सका। तब किसान क्या करता है ? उसे पता है कि यदि यह घास, ये झाडियाँ, ये जंगली पौदे विद्यमान रहे तो फसल कमजोर होगी। इसलिए वह खेत की 'निराई' शुरू करता है। पंजाबी भाषा में इसे 'गोडी' कहते हैं। सब-की-सब फालतू घास को, जगली पौदों और झाड़ियों को उखाड़कर वह खेत के बाहर फेंक देता है। फसल खूब होती है। समय आने पर सोने की भाँति चमकती गेहूँ की बालियों से खेत भर जाता है।

ध्यान के लिए भी यह बात आवश्यक है। हम ध्यान के लिए बैठते है तो कई प्रकार के ऐसे विचार, संकल्प और विकल्प मन में जागने लगते है जिनके लिए हमने प्रयत्न नही किया। जैसे खेत में घास उग आती है, वैसे ही ध्यान करनेवाले के समक्ष विचित्र-विचित्र

विचार और सूरतें आने लगती हैं। तब क्या करना चाहिए ? जैसे किसान अपने खेत की निराई करता है, ऐसे ही इन विचारों, संकल्पों और विकल्पों को उखाड़कर बाहर फेंक दीजिये, तब ध्यान में चित्त लगेगा।

मन-रूपी खेत की इस निराई को संस्कृत में 'आत्म-निरीक्षण' (अपने-आपको देखना) कहते हैं। प्रतिदिन अपने-आपको देखिये, पता लगाइये कि कहीं कोई बुरा विचार, कोई ईर्ष्या-क्रोध तो इसमें नहीं आ घुसा है ? यदि आ घुसा है तो इसे निकालिये। ऐसा किये बिना ध्यान लगेगा नहीं।

मुझे अपने जीवन की एक घटना याद है। तब मैं गृहस्थाश्रम में था। प्रतिवर्ष एक-दो मास के लिए घर से दूर चला जाता था। मैंने इसका नाम रक्खा था—अज्ञातवास। थोड़े-से कपड़े, साधारण-सा बिस्तर लेकर, कुछ आटा, मूंग की दाल, घी, नमक और एक कुल्हाडी लेकर लाहौर से दूर किसी पहाड़ी जंगल में चला जाता था। वृक्षों की टहनियाँ और पत्ते काटकर अपने लिए छोटी-सी झोंपड़ी बनाता था, तब मौन धारण करके आत्म-चिन्तन करता था। एक बार मैं ऐसे ही अज्ञातवास के लिए गया। एक जगल में पहुँचा। झोंपड़ी बनाई। ध्यान में बैठा तो आँखें बन्द रहने पर भी ऐसा प्रतीत हुआ कि एक साहब मेरे सामने खड़े है। अज्ञातवास के लिए आने से कुछ ही देर पहले मै उनसे लड़कर आया था। 'मिलाप' का अपना प्रेस उन दिनों था नहीं। ये साहब प्रेम के मालिक थे। इनके प्रेस में 'मिलाप' छपता था। वे छपाई वहुत खराव कर रहे थे। मै उनसे कड़वा बोला। वह भी मुझसे कड़वा बोले। मैने उन्हें कहा—"आप बहुत खराब छपाई कर रहे है।" वे बोले—"मेरी मशीन खराब है, मैं ऐसी ही छपाई कर सकता हूँ। आप किसी दूसरे प्रेस में छपवा लीजिये।" मैंने कहा—"आपने जो पाँच हजार रुपया पेशगी ले रक्खा है उसे वापस कर दीजिये।" वे बोले—"मै रुपया वापस नही कर सकता। मेरे पास है नहीं।" इस प्रकार झगड़ा हो गया—शायद मेरे जीवन का एकमात्र झगड़ा। अब लाहौर से दूर जगल मे बैठा मै ध्यान लगाऊँ तो वह साहब मेरे सामने आकर खड़े हो जाएँ। बहुत बार प्रयत्न किया कि

उनका विचार मेरे मन से निकल जाये परन्तु वह निकला नहीं। तब मैंने अपना बिस्तर बाँधा। वापस लाहौर आया। घर में पहुँचा। बिस्तर वहाँ रक्खा। सीधा प्रेस में गया। उन साहब के सामने जाकर अपनी पगड़ी उतारी, उनके चरणों में रख दी। सिर झुकाकर कहा—"मुझे क्षमा कर दो, मैं व्यर्थ ही आपसे लड़ा। अपराध मेरा था, आपका नहीं। जबतक आप क्षमा नहीं करेंगे, तब तक मैं यहाँ से जाऊँगा नहीं।"

यह है मन के खेत में से जंगली घास व पौदों को निकालने का उपाय! इसके बिना ध्यान की फसल दृढ नहीं होती। यह बहुत आवश्यक है।

एक और बात सुनिये! यह भी सत्य है।

अहमदाबाद की घटना है। वहाँ साधुओं की एक मण्डली आई, उपदेश और कीर्तन करने लगी। एक मुनीम था। किसी सेठ के यहाँ काम करता था। उसने कीर्तन और उपदेश सुना तो वह भी साधुओं में सम्मिलित हो गया। जिस प्रकार इन साधुओं ने बताया, उसी प्रकार वह भजन करता रहा। कई मास व्यतीत हो गए तो साधुओं के गुरु—मण्डलेश्वर के पास गया, बोला—"महाराज! भजन तो मैं कई मास से कर रहा हूँ परन्तु आनन्द नहीं आता। बहुत टक्करें मारी है, यत्न किया है परन्तु चित्त नहीं लगता है।"

मण्डलेश्वर ने पूछा—"बात क्या है?"

वह बोला—"बात यह है कि जिस सेठ के पास मैं काम करता था, वह मुझपर बहुत विश्वास करते थे। उनका सब रुपया-पैसा मेरे पास रहता था। एक बार मैंने उनका दस सहस्र रुपया निकाल लिया। यह रुपया अब भी मेरे पास है, यही मेरे मन में शान्ति नहीं आने देता।"

मण्डलेश्वर ने कहा—"झोली में आग डाले बैठा है, तुझे ठण्डक कहाँ मिलेगी? यह रुपया उस सेठ को वापस दे दे।"

मुनीम साधु ने ऐसा ही किया। दस सहस्र का बीमा कराके सेठ को भेज दिया।

फिर कई मास व्यतीत हो गये। उसके मन को शान्ति नहीं मिली।

ध्यान में चित्त नही लगा। वह फिर मण्डलेश्वर के पास गया; बोला—"महाराज ! रुपया तो मैने भेज दिया परन्तु कुछ बना नही, मन तो अब भी अशान्त है।"

मण्डलेश्वर जी ने पूछा—"कैसे भेजा था वह रुपया ?"

वह बोला—"बीमा कराके।"

मण्डलेश्वर जी ने कहा—"अपना नाम-पता लिखा था कि नहीं उसपर ?"

वह बोला—"नही, महाराज ! नाम-वाम तो कुछ नही लिखा, केवल रुपया भेज दिया था।"

मण्डलेश्वर जी ने कहा—"इस प्रकार शान्ति मिलेगी नही। पाप तो अब भी तेरे मन में है। इसको स्वीकार कर। क्षमा माँग सेठ से जाकर। वह क्षमा कर दे तो तुझे शान्ति मिलेगी। चल तू मेरे साथ। मैं उस सेठ के पास स्वयं तुझे लेकर चलता हूँ।"

मुनीम साधु को लेकर मण्डलेश्वर जी सेठ के पास पहुँचे; बोले—"कुछ मास-पूर्व आपको दस सहस्र रुपये का बीमा मिला था ?"

सेठ ने कहा—"हाँ, मिला तो था परन्तु भेजनेवाले ने अपना नाम और पता नहीं लिखा था। मैने वह रुपया धरोहर के रूप में रख लिया है कि जब लेनेवाला आयेगा उसे वापस कर दूँगा।"

मण्डलेश्वर जी ने कहा—"उस रुपये को भेजनेवाला आपका यह पुराना मुनीम आपके सामने खड़ा है।"

सेठ ने आश्चर्य से कहा—"तुमने यह रुपया क्यों भेजा मुनीम जी ?"

मुनीम बोला—"जब मै आपके पास काम करता था, तब मैंने आपकी आय में से दस सहस्र रुपया निकाल लिया था। साधु बनने के बाद भी उसने मुझे चैन नहीं लेने दिया।"

सेठ ने कहा—"अरे ! मै तो तुम्हें बहुत भरोसे का आदमी समझता था, तुम इतने पापी निकले ?"

मण्डलेश्वर जी बोले—"पाप तो अब हो ही गया सेठजी ! अब इसने रुपया वापस कर दिया, अपने पाप के लिए क्षमा माँगने आया है, आप इसे क्षमा कर दीजिये, ताकि इसके मन को शान्ति मिले।"

सेठ ने कहा—"नही, अभी क्षमा नही करूँगा। छः मास के बाद आओ, तब देखूँगा कि क्षमा करना है या नहीं।"

मण्डलेश्वर जी मुनीम साधु को लेकर छ. मास के पश्चात् फिर सेठ के पास गये, बोले—"अब इसे लिख दीजिये कि आपने क्षमा कर दिया अथवा मौखिक ही कह दीजिये।"

सेठजी ने कहा—"अच्छी बात है। आप मेरे साथ आओ।"

और गद्दी से उठकर, उन्हे साथ लेकर वह थोडी ही दूर एक नवनिर्मित मकान मे गया। बहुत सुन्दर मकान था वह—छोटा-सा परन्तु पूर्णरूपेण सुसज्जित। सेठ जी बोले—"मुनीम जी! जो दस सहस्र रुपया तुमने भेजा था उसमे तीस सहस्र और मिलाकर मैंने यह मकान बनवा दिया है, अब तुम इसी मे रहो। यही तुम्हारी क्षमा है।"

इसको कहते हैं आत्म-चिन्तन, आत्मा को देखना। इसमें यदि कही कोई मैल है तो उसे दूर कर देना। ऐसा करने के पश्चात् ध्यान मे चित्त लगता है।

एक बार दो कीड़े आपस में मिले—बाते करने लगे।

यह कहानी काल्पनिक है परन्तु यह सत्य है कि कीड़े भी परस्पर वार्त्तालाप करते है। किसी स्थान पर थोडा-सा मीठा या खाने की कोई वस्तु रख दीजिये, एक भी चीटी वहाँ पहुँच जाये तो फिर कतारों की कतार वहाँ पहुँच जाती है। किस प्रकार इन्हे पता लगता है? एक चीटी दूसरी से कहती है, दूसरी तीसरी से, इस प्रकार चीटियों की सारी बस्ती मे यह समाचार फैल जाता है।

तो ये दोनो कीड़े भी आपस मे मिले। एक नमक के पहाड़ पर रहता था, दूसरा शक्कर के पहाड़ पर। नमक के पहाड पर रहनेवाला दुबला-पतला था, शक्कर के पहाड़ पर रहनेवाला मोटा-ताजा लाल-सुर्ख।

नमकवाले ने कहा—"भाई! कहाँ रहता है तू? वहाँ की जलवायु तो बहुत अच्छी प्रतीत होती है, इतना स्वस्थ और शक्तिशाली है तू। मै तो दुर्बलता से छुटकारा नही पा सकता।"

शक्करवाले ने कहा—"तू कहाँ रहता है?"

नमकवाला बोला—"नमक के पहाड़ पर। वहाँ नमक के अतिरिक्त कुछ है ही नही।"

शक्करवाले ने कहा—"मैं तो शक्कर के पहाड़ पर रहता हूँ, इसी से इतना मोटा और सुर्ख हूँ। हर समय शक्कर खाता हूँ, बहुत स्वाद होता है इसमें।"

नमकवाला बोला—"कभी मुझे भी तो ले चल अपने पहाड पर। मैं भी तो देखूँ कि शक्कर कैसी होती है।"

शक्करवाले ने कहा—"अभी चल, मैं वही तो जा रहा हूँ।"

दोनो शक्कर के पहाड़ पर पहुँचे। वहाँ रहनेवाले कीडे ने दूसरे से कहा—"यह देख कितनी शक्कर है। जी भरकर खा, कोई रोकनेवाला नहीं।"

नमक के पहाड़ पर रहनेवाला कीड़ा शक्कर के पहाड पर चढ़ गया। कितनी ही देर तक उसके ऊपर फिरता रहा। नीचे उतरा तो शक्करवाले कीड़े ने पूछा—"कहो, कैसी लगी यह शक्कर?"

नमकवाला बोला—"मुझे तो इस जगह मे और नमक के पहाड़ में कोई अन्तर दिखाई नही दिया। प्रत्येक स्थान में मैने देखा परन्तु प्रत्येक स्थान पर जो खाया वह वैसा ही खारा था जैसा नमक के पहाड़ पर।"

शक्करवाले ने आश्चर्य से कहा—"यह कैसे हो सकता है? यह तो शक्कर का पहाड़ है; प्रत्येक स्थान पर मीठा है।"

नमकवाला बोला—"मेरे मुँह मे तो मीठे का स्वाद कहीं आया नहीं। प्रत्येक स्थान पर स्वाद नमकीन था।"

शक्करवाले ने कहा—"अपना मुँह तो दिखा!"

और उसने देखा कि नमक के पहाड पर रहनेवाले कीड़े के मुँह में नमक की एक डली पड़ी है जिसे वह अपने पहाड़ से साथ लाया था। जब वास्तविकता को उसने समझा तो बोला—"अरे भाई! मुँह में नमक रखकर तू शक्कर खायेगा तो वह मीठी कैसे लगेगी? तुझे तो अपने नमक का स्वाद आता रहा है। पहले नमक की इस डली को निकालकर बाहर फेक, तब तुझे शक्कर का वास्तविक स्वाद पता लगेगा।"

आप कहेंगे—यह नमकवाला कीडा तो मूर्ख था। मुँह में नमक की डली रखकर शक्कर का स्वाद कैसे मिल सकता है? नहीं मिल सकता मेरे भाई! ठीक इसी प्रकार मन में दूसरे विचार हों, संकल्प और विकल्प हों तो ध्यान का आनन्द भी नही मिल सकता। ध्यान लगाना है तो बाहर की बातो को भुलाओ। इन्हे छोडकर प्रभु के चरणों मे पहुँचो तो ध्यान लगेगा अवश्य।

यह तीसरी बात है। चौथी यह कि सबसे प्रेम करो। मन मे किसी के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, घृणा न रक्खो, तब ध्यान लगेगा अवश्य। 'यजुर्वेद' के चालीसवें अध्याय में स्पष्ट कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मनेन्वानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥

जो अपने अन्दर सब भूतो, सब प्राणियों को देखता है और सब प्राणियो में अपने-आप को देखता है, उसके लिए कोई सन्देह, कोई रुकावट शेप नही रहती।

और यह सबको अपने अन्दर और सबके अन्दर अपने-आपको देखने का अर्थ क्या है? यह कि सबसे प्रेम करो। जो अच्छे है, सुमार्ग पर चलते है वे तो चलते ही है, उनके सम्बन्ध मे तुम्हे चिन्ता करने की आवश्यकता नही। तुम उनके कल्याण की कामना करो जो पाप के मार्ग पर चल पडे है। उनको प्यार करो जो बीमार है और तुम्हारी कृपा के अधिकारी है।

एक माँ के पाँच-छः बच्चे है। कोई पढ रहा है, कोई क्रिकेट खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है। सब अपने-अपने स्थान पर प्रसन्न है। परन्तु माँ को सबसे अधिक ध्यान उस बच्चे का है जो बीमार पडा है। उसके पास वह बैठती है, उसका सिर दबाती है, उसे अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खाने को देती है, उसके आराम का ध्यान रखती है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि पापी से भी प्यार करो। परन्तु कैसा प्यार? मानवता का, स्वार्थ का नही। दूसरों को लाभ पहुँचानेवाला प्यार; उनको हानि पहुँचानेवाला नही। यदि तू अपने मन में अपने प्रभु को बुलाना चाहता है भाई! तो इस मन को मानवता से भर ले! भगवान् वैसे तो प्रत्येक स्थान पर रहते है परन्तु विशेष रूप से

वहाँ रहते हैं जहाँ मानवता रहती है, विश्वप्रेम रहता है, सबके लिए अपनेपन की भावना रहती है।

मैंने इस कथा के आरम्भ में कहा था कि मानव को मानव बनाने की योजना विज्ञान के पास, राजनीति के पास, किसी मत या सम्प्रदाय के पास नहीं, केवल वेद और उपनिषद् के पास है। वेद ही यह सिखाता है कि तुम्हारा देश यह सारा संसार है, तुम्हारी जाति मानव है। यह विश्वप्रेम ही मानवता का आधार है।

इस प्रेम को हृदय में बसाओ। घृणा को निकाल दो। सबको अपना समझो। फिर देखो ध्यान लगता है कि नहीं।

तब पाँचवीं बात यह कि जिसका ध्यान करता है उसे केवल ध्यान के दो-तीन घण्टों में नहीं, दिन-रात के चौबीस घण्टों में, हर समय स्मरण रक्खो। अनुभव करो कि वह तुम्हारे साथ है, हर समय तुम्हारे निकट है। प्रेरणा लेनी है तो उससे लो, कष्ट हो तो उससे कहो, माँगना हो तो उससे माँगो। वह सब-कुछ देता है, उसके भंडार में सब-कुछ है। महर्षि दयानन्द ने बिल्कुल ठीक कहा कि—"पानी से लेकर मुक्ति तक प्रत्येक वस्तु भगवान् देता है। उससे माँगो, प्रत्येक वस्तु मिल जायेगी।" संसारियों से क्या माँगना है जो पाँच रुपये देते हैं और देखते रहते हैं कि उनके नाम की घोषणा हुई या नहीं। किसी ने आर्यसमाज के मन्त्री को पाँच रुपये दान दिये, यदि उसके नाम की घोषणा नहीं हुई तो वह पूछता है—"क्यों साहब! मैंने रुपए दिए हैं आपने मेरा नाम ही नहीं लिया?" और यदि कहीं नाम धीमी आवाज में लिया गया, तो भी वह शिकायत करता है कि हमने तो कुछ सुना ही नहीं। तब मंत्री जी ऊँची आवाज में पुकारकर कहते हैं—"आनन्द स्वामी ने आर्यसमाज को पाँच रुपया दान दिया है।" तब जाकर उसकी तसल्ली होती है। अरे भाई! माँगना है तो उससे माँग जो देता है और अपने नाम की घोषणा नहीं चाहता, अपनी मुनादी नहीं चाहता।

सम्राट् अकबर की एक कथा मैंने कई स्थानों पर सुनाई है, आप भी सुनिये—

अकबर एक दिन शिकार के लिए गये। आगरा से दूर वह मार्ग

भूल गए। भूख बहुत थी, प्यास भी, परन्तु सामने कोई घर, मकान, ग्राम, कस्बा आदि दिखाई नहीं दिया। तभी एक खेत में बैठे एक किसान पर दृष्टि पड़ी। उसके पास जाकर बोले—"क्यों भाई! कुछ खाने को है? मुझे बहुत भूख लगी है।"

किसान बोला—"हाँ भाई! दो रोटियाँ हैं, कुछ सब्जी भी, पानी भी। आओ, बैठो, खाओ।"

अकबर को भूख सता रही थी। रोटियाँ खाईं उन्होंने, पानी पिया। चैन आया तो बोले—"तुम क्या करते हो?"

किसान ने कहा—"भूमि है, खेती-बाड़ी करके जीवन बिताता हूँ।"

अकबर बोले "देखो! मैं हूँ भारत का सम्राट् अकबर। यदि कभी आवश्यकता पड़े तो आगरे आ जाना।"

इस बात को तीन-चार वर्ष व्यतीत हो गये। वृष्टि हुई नहीं, खेत में कुछ उगा नहीं, किसान भूखा मरने पर विवश हुआ। उसकी पत्नी ने कहा—"तुम तो कहते थे कि किसी सम्राट् ने तुम्हें मित्र बनाया है, उससे जाकर कुछ सहायता माँगो न! यह अनाहार कब तक चलेगा?"

किसान पहुँचा आगरा में। लोगों से पूछने लगा—"यहाँ कोई अकबर रहता है?"

लोगों ने सुना तो भयभीत होकर कहा—"अरे मूर्ख! सम्राट् अकबर कहो।"

किसान बोला—"हाँ वही। वह मेरा मित्र है, मुझे उसके घर का रास्ता बता दो।"

लोगों ने कहा—"तू तो शायद भाँग पीकर आया है। सम्राट् और तेरा मित्र! उसके घर तक तेरी पहुँच कैसे होगी? परन्तु यदि तू उसे देखना चाहता है तो इस बाजार में एक ओर खड़ा हो जा। सायं-काल सम्राट् की सवारी निकलेगी, तब देख लेना।"

किसान खड़ा रहा। सन्ध्या हुई। सवारी आई। सम्राट् हाथी पर बैठे थे। किसान ने पहचाना कि यही वह व्यक्ति है जिसे रोटी खिलाई थी। पुकारकर बोला—"अकबरा! ओ अकबरा!"

सम्राट् के सिपाही उसे इस धृष्टता का दण्ड देने के लिए पकडने लगे तो सम्राट् ने उसे देखा; बोले—"पकडो नहीं, मेरे पास आने दो।" स्वय वे हाथी से नीचे उतरे। किसान का स्वागत किया। उसे अपने साथ हाथी पर बैठाया। महल मे ले गए। अपने साथवाले कमरे में ठहराया। किसान वहाँ रातभर रहा। प्रात. उठकर अकबर के कमरे में गया तो देखा कि वह दोनों घुटने टेककर बैठे है, दोनो हाथों को ऊपर करके पता नही किससे क्या माँग रहे है। सम्राट् नमाज पढ रहे थे। वह देखता रहा। पढ चुके तो बोला—"यह क्या कर रहे थे आप ?"

सम्राट् ने कहा—"दुआ माँग (प्रार्थना कर) रहा था।"

किसान बोला—"तुम भी माँगते हो ?"

सम्राट् ने कहा—"हाँ, वह प्रभु जो सबका स्वामी है, सबको देनेवाला है, उससे माँग रहा था।"

किसान ने अपना डण्डा उठाया और महल के द्वार की ओर चल दिया।

अकबर ने पूछा—"अरे भाई ! अपना हाल तो सुनाया नहीं तुमने, कुछ चाहिए तो बताओ।"

किसान ने कहा—"आया तो माँगने के लिए था परन्तु तुमसे क्या माँगना ? तुम तो स्वयं भिखारी हो। भिखारी से जो भीख माँगे उसपर धिक्कार ! मै उससे माँगूँगा जिससे तुम माँग रहे थे।"

उससे माँग ! उससे माँग ! वही सबको देनेवाला है। उसके भडार इतने महान् है कि कभी रिक्त नही होते। तू झोली फैला, तू माँगता थक जायेगा, वह देता नही थकेगा। उससे माँग, उसके गुण गा, उसकी प्रशसा कर। संसारवालो के गुण गाते है लोग। उनकी प्रशसा मे कविताएँ लिखते है, परन्तु वे करेगे क्या ? किसी बडे अफसर की प्रशसा की आपने। वह प्रसन्न होकर अपने दफ्तर का चपरासी बना देगा, नही तो क्लर्क या हैडक्लर्क बना देगा। परन्तु उस प्रभु के गुण-गान करो, पता नही कहाँ पहुँच जाओगे। कोई सीमा नहीं उस ऊँचाई की। और फिर जो व्यक्ति प्रभु का गुणगान करता है उसकी वाणी में एक विचित्र रस, एक विचित्र आकर्षण और एक विचित्र मिठास

आ जाती है।

सम्राट् अकबर की एक बात सुनाई आपको, उसी की एक और बात सुनिये—

अकबर के दरबार में प्रसिद्ध गायक तानसेन रहते थे। खूब गाते थे वे। अकबर उस संगीत को सुनता तो झूम उठता। एक दिन सम्राट् ने कहा—"तानसेन! तुम इतना अच्छा गाते हो, तुम्हारे गुरु कैसे गाते होंगे?"

तानसेन ने कहा—"वे गाते तो नहीं सरकार! जादू करते हैं। उनकी बात क्या पूछते हैं!"

अकबर बोले—"कभी हमें भी उनका संगीत सुनवाओ!"

तानसेन ने कहा—"क्षमा कीजिए सरकार! वे सम्राटों के दरबार में जाते नहीं।"

अकबर बोले—"वे नहीं आते तो हम चलेंगे उनके पास।"

तानसेन ने कहा—"आप चले तो जायेंगे, मैं भी चलूंगा, परन्तु वे तो अपनी मौज के मालिक हैं। क्या पता उस समय गायें या न गायें?"

अकबर बोले—"फिर भी कोई युक्ति सोचो!"

तानसेन ने सोचकर कहा—"सूझ गई युक्ति। वहाँ चलते हैं। उनके पास कोई सितार, दुतारा, तानपूरा, दिलरुबा आदि तो पड़ा होगा। मैं उसे उठाकर गलत बजाना शुरू कर दूंगा। हो सकता है कि वे उसे मुझसे लेकर बजाना शुरू कर दें और तब आप उस संगीत को सुन लें जिसके लिए कोई उन्हें विवश नहीं कर सकता।"

वे चले आगरा से। मथुरा में पहुँचे। वृन्दावन की ओर चले जहाँ स्वामी हरिदास एक जंगल में रहते थे।

तानसेन ने कहा—"सम्राट्! स्वामी हरिदास के पास चलना है तो इस सेना को, इन नौकर-चाकरों को और मन्त्रियों को यहीं छोड़िए। इनको लेकर जायेंगे तो शायद स्वामी जी नाराज हो जाएँ।"

अकबर ने सबको वहीं छोड़ा। तानसेन के साथ वृन्दावन के उस जंगल में पहुँचे, जहाँ स्वामी हरिदास अपनी झोंपड़ी के बाहर ध्यान

में मग्न हुए बैठे थे। उनकी सितार उनके पास रक्खी थी। तानसेन ग्रौर ग्रकबर उनके निकट बैठ गए। तानसेन ने सितार को उठाया, बजाना शुरू कर दिया। ग्रालाप भी शुरू किया। जान-बूझकर ग़लत ग्रालाप शुरू किया। स्वामी हरिदास जी ने ग्राँखे खोल दीं; ग्राश्चर्य से बोले—"तुम तानसेन! इतना गलत बजाते हो? इतना ग्रशुद्ध ग्रालापते हो? यही सिखाया था मैंने तुमको? इधर लाग्रो, मैं तुम्हे बजाकर सुनाऊँ।"

ग्रौर सितार लेकर वे बजाने लगे, गाने लगे। और देखते-ही-देखते ऐमा प्रतीत हुग्रा कि सारे जगल पर, सारी प्रकृति पर जादू हुग्रा जाता है। पक्षियों ने उड़ना ग्रौर चहचहाना बन्द कर दिया। जंगल के हिरण ग्रौर दूसरे जानवर उनके पास ग्राकर खडे हो गए। ऐसा प्रतीत हुग्रा जैसे वायु भी थम गई है ग्रौर सम्राट् तो जैसे बेहोश हो गए हो।

तभी तानसेन ने ग्रकबर को सकेत से कहा—"चलिये!"

ग्रकबर चले। रास्ते में बोले—"ऐसा प्रतीत होता है तानसेन, मैने जीवन मे पहली बार वास्तविक सगीत सुना है। ऐसा जादू पहले कभी नही देखा।"

तानसेन ने कहा—"हाँ, सरकार! मैने आपसे कहा तो था कि वे गाते नही, जादू करते है।"

ग्रकबर बोले—"तुमने भी उनसे संगीत सीखा। तुममें ग्रौर उनमें इतना ग्रन्तर क्यो है?"

तानसेन ने कहा—"सुनिये सम्राट्! मैं दिल्लीपति का गवैया हूँ, वे है जगत्पति का गवैया। दिल्लीपति ग्रौर जगत्पति मे जो ग्रन्तर है, वही मुझमें ग्रौर मेरे गुरुजी में है।"

जो जगत्पति का गुणगान करता है उसकी वाणी में ऐसी मधुरता, ऐसा ग्राकर्षण ग्रा जाता है कि किसी दूसरे में वह होता नही। ऐसा मनुष्य जब प्रभु के प्रेम में मग्न होकर ग्रोम् की धुन लगाता है तो लोगो के हृदय हिल जाते है। प्रभु से इतना प्रेम करो कि उसके-जैसा दूसरा कोई न लगे, उससे ग्रधिक प्रिय कोई ग्रन्य न हो। संसारवाले ससारवालों को प्यार करते हैं तो वे ग्रपने प्रीतम से सुन्दर किसी को

समझते ही नहीं। तुम भी उस प्रीतम को प्यार करो जिससे अधिक सुन्दर, मधुर और आकर्षक कोई है ही नही। यदि किसी अन्य को उससे अधिक प्रिय समझने लगे तो प्रेम क्या हुआ ? उसे प्यार करना है तो इस प्रकार करो—

बस रहा है मेरी आँखों मे वही जाने-बहार।
जिसका हमरंग कोई फूल चमन-भर में नहीं॥

मजनू था न, उसे लैला से प्यार था। लैला कहते है रात को। वह केवल काली नही, चोखी काली थी। किसी ने मजनू से पूछा—"लैला तो काली है, तुम उसके लिए मजनू क्यों बने जाते हो ?" मजनू का अर्थ है पागल। उसका असल नाम था कैस। कैस ने उत्तर दिया - "उसका वास्तविक सौन्दर्य देखना हो तो मेरी आँखो से देखो, उससे अधिक सुन्दर कोई दिखाई देगा नही।"

यह उसने प्रेम के कारण कहा। प्रेम हो तो प्रीतम के अतिरिक्त दूसरा कोई अच्छा नही लगता। ऐसा प्रेम करो भगवान् से जैसा मजनू ने लैला से किया। एक बार मजनू के शरीर पर पड गये फफोले। खून में शायद दबाव अधिक हो गया। इस कारण से सारे शरीर पर फुसियाँ निकल आई। वे फूलों और फफोलो जेसी बन गई। वैद्य ने आकर देखा। नब्ज को टटोला। अच्छी प्रकार देखकर बोला—"जबतक इसका खून न निकाला जायगा, तबतक यह अच्छा नही हो सकता।" तब जर्राह को बुलाया गया। अपना नश्तर लेकर वह आया कि नश्तर के द्वारा मजनू का खून निकाल दे। उसने कहा—"नश्तर तो मैं लगाता हूँ परन्तु पहले मजनू के दोनों हाथ पीछे करके बाँध दो।" बाँधे गये हाथ। जर्राह ने नश्तर तेज किया, मजनू के शरीर में लगाने लगा तो मजनू ने कहा—"ठहरो ! यह क्या करने लगे हो ?" जर्राह बोला, "तेरे खून का दबाव बढ गया है। इस नश्तर से थोडा खून निकाल दूँगा तो तू अच्छा हो जायेगा।" मजनू ने चिल्लाकर कहा—"नही, ऐसा मत करो ! नश्तर मत लगाओ !" जर्राह बोला—"अरे मजनू ! मैने तो सुना था कि तू बहुत वीर है। अँधेरी रातों में जगलों और मरुस्थलों में घूमता फिरता है। शेरों, सर्पो और अन्य पशुओं—किसी से तुझे भय नहीं लगता, फिर इस छोटे-से नश्तर

से डर गया तू ?"

मजनू ने कहा—"तुम गलत समझे हो भाई ! मै नश्तर से नहीं डरता। मेरे शरीर के अग-अंग में, रक्त के हर बिन्दु मे मेरी लैला रहती है। तुमने यदि नश्तर लगाया तो उसे कष्ट होगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि नश्तर न लगाओ।"

यह है प्रेम ! ऐसा प्रेम हो जाय तो फिर देखो ध्यान कैसे नही लगता।

अभी पिछले दिनो मैंने गायत्री मन्त्र की चर्चा करते हुए उस 'वरेण्य' शब्द के सम्बन्ध मे कहा था जो इस मन्त्र में आता है, जिसका अर्थ यह है कि हे प्रभो ! हे मेरे स्वामिन् ! हे मेरे प्रीतम !, मैंने तुझे इस प्रकार वर लिया है जैसे कन्या अपने पति को वर लेती है, और जब वर लिया उसे, अपने-आपको उसके अर्पण कर दिया, तब कहने को शेप क्या रहा ? 'वरेण्य' कहते ही ओष्ठ वन्द हो जाते है। मन में केवल एक भावना होती है कि तू मेरा है, मै तेरा हूँ। तेरे अतिरिक्त अब कोई मेरा नही। यह मेरा—'अपनापन'—यह भी मैने तुझे भेट कर दिया। अब तू-ही-तू है। मै भी नही हूँ। इस प्रकार करो, फिर देखो कि गायत्री के जाप में ध्यान लगता है या नही।

सम्राट् अकबर की ही एक और बात सुनिये ! वे शिकार के लिए गए, दूर एक जंगल में। एक गाँव के निकट नमाज (सन्ध्या) का समय हुआ तो घोड़े से उतरे। नमाज के आसन को भूमि पर फैला दिया और नमाज़ पढ़ने लगे। मुसलमान भाई ईश्वर को स्मरण करने में जिस नियमितता से काम लेते हैं उसके लिए उन्हे बधाई मिलनी चाहिये। नमाज़ का समय होते ही, सौ काम छोड़कर वे नमाज के लिए बैठ जाते हैं, भगवान् को याद करते है। हिन्दुओं में या आर्य-समाजियों में ऐसी बात है नही। इनका प्रत्येक उत्सव, प्रत्येक मीटिंग सायकाल होती है, जब मनुष्य को परमात्मा के ध्यान में मग्न होना चाहिये। सायकाल उत्सव, प्रातः समाचार-पत्र; उत्सव या पत्र न हो तो रेडियो। जब प्रभु को स्मरण करने का समय होता है तो ये दूसरे कार्य लेकर बैठ जाते हैं। और मुसलमानों को देखिये, दिन मे पाँच बार नमाज़ पढ़ते हैं। अकबर भी मुसलमान था। नमाज के लिए खड़ा

हुआ तो उसी समय साथवाले गाँव से एक युवती दौड़ती हुई आई। उसका पति प्रात. जगल मे लकडी काटने गया था पर अभी तक वापस नही आया था। घबराकर वह घर से निकली। हर ओर ढूँढती फिरती थी। कभी दौड़ती हुई इधर जाती थी, कभी उधर। ऐसे ही दौड़ती हुई वह आई। सम्राट् ने नमाज के लिए जो कपडा बिछा रक्खा था, उसके ऊपर पाँव रखती हुई आगे चली गई। सम्राट् ने यह देखा तो उन्हे बहुत क्रोध आया परन्तु वे बोले नहीं। नमाज पढ चुके तो देखा, वही स्त्री अपने पति के साथ वापस आ रही है। सम्राट् ने कड़ककर कहा—"धृष्ट औरत! तुझे क्या दिखाई नहीं देता?" स्त्री ने हाथ जोडकर पूछा—"क्या हुआ सम्राट्?" सम्राट् बोले—"मै आसन बिछाकर नमाज पढ रहा था, तू उसपर पाँव रखती हुई क्यों चली गई? परे होकर नही जा सकती थी?"

तब उस देवी ने एक दोहा पढ़ा; बोली—

नर राची सूझ्यौ नहीं, तुम कस लख्यो सुजान।
कुरान पढ़त बूढ़े भये, नहीं राच्यौ रहमान॥

"सम्राट् महोदय! मै तो अपने पति के ध्यान में थी. उसकी याद में इतनी मग्न कि मुझे न तुम दिखाई दिये, न तुम्हारी नमाज का कपड़ा। परन्तु आप अपनी तो कहो। आप तो प्रभु की याद कर रहे थे, उसके ध्यान में मग्न थे, फिर आपने मुझे कैसे देख लिया? प्रतीत होता है कुरान पढते-पढते आपने अपनी आयु बिता दी परन्तु अभी तक भगवान् का प्यार आपके हृदय में रचा नहीं।"

यह साधना हो जाये कि भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी सूझे नहीं, तब ध्यान लगेगा अवश्य, काम बनेगा अवश्य।

जिसके हृदय मे भगवान् का यह प्रेम जाग उठता है, उसके हृदय में विश्वप्रेम भी जाग उठता है। जब चहुँ ओर भगवान्-ही-भगवान् है तब वह घृणा किससे करेगा? शत्रुता किससे करेगा? पराया किसे कहेगा?

मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं—कोई पराया नही, कोई शत्रु नही प्रभु के इस सूर्य को देखो! हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी यहूदी, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, चीनी, कांग्रेसी, जनसंघी—सब

लिए है यह। किसी एक सम्प्रदाय, किसी एक जाति, किसी एक देश, किसी एक राजनैतिक संस्था के लिए नहीं।

और यह वायु! कभी किसी ने वायु को यह कहते सुना कि मुझमे केवल हिन्दू श्वास ले सकते है, मुसलमान नही ले सकते?

और यह जल—जो एक दिन न मिले तो मनुष्य मरने लगता है।

यह सर्दी, गर्मी, वृष्टि, पतझड और वसन्त! यह नित-नये अनाजों को उपजाती, नित-नये फलों को उगाती, नित-नये फूलो को खिलाती पृथिवी--यह सब-कुछ, सबके लिए है। प्रभु द्वारा निर्मित प्रत्येक वस्तु प्रत्येक मनुष्य के लिए है।

सृष्टि बनी तो सूर्य बना सबके लिए। सृष्टि बनी तो वेद का संदेश आया सबके लिए। सूर्य किसी एक देश, एक जाति या सम्प्रदाय के लिए नहीं। महर्षि दयानन्द ने वेद का सदेश सुनाने के लिए आर्य-समाज को जन्म दिया तो संसार का उपकार करने के लिए। कही भी उन्होंने यह नही कहा कि आर्यसमाज को केवल आर्यसमाजियों या केवल हिन्दुओं के उपकार के लिए प्रयत्न करना चाहिये। महर्षि दयानन्द भी सबके लिए थे। उनका सदेश भी सबके लिए था। भगवान् की बनाई हुई कोई भी वस्तु ऐसी नही जो किसी एक सम्प्रदाय, एक देश या जाति के लिए हो, दूसरों के लिए न हो। ऐसे भगवान् से जो सबसे प्यार करता है उसके लिए दूसरा या तीसरा कौन रहता है? सब अपने हो जाते है और तब मानवता जागती है; मनुष्य, मनुष्य बनने लगता है, उसके हृदय में हर किसी के लिए प्यार जाग उठता है क्योंकि—

दिल में उलफ़त नहीं तो कुछ भी नहीं।
गुल में नकहत[1] नहीं तो कुछ भी नहीं॥
आदमी में हज़ार जौहर[2] हों,
आदमीयत नहीं तो कुछ भी नहीं॥

फूल मे सुगन्ध न हो तो केवल दिखावा है, फूल नहीं है; और मनुष्य कितना ही पढ़ा-लिखा, कितना ही विद्वान्, कितना ही डिग्रीधारी, कितना ही बड़ा योगी क्यों न हो, यदि उसमें मानवता

१. सुगन्ध, २. गुण।

नहीं तो फिर वह कुछ भी नहीं।

दिल में गर दर्द नहीं है तो इबादत बेकार।
दिल में गर दर्द नहीं है तो रियाज़त बेकार॥
शैख़ हो या कि बरहमन या कोई शब बेदार।
रात-दिन सिजदे करे, माथे घिसे सौ-सौ बार॥
कभी रहमत कभी बरकत न ज़रा पायेगा।
दिल किसी का जो दुखायेगा सज़ा पायेगा॥

यह है विश्व-प्रेम ! और जब साधना करनेवाला इस प्रेम को अपने हृदय मे बसा लेता है तो विचित्र सदेश उसे सुनाई देते हे। किसी ओर से उसे कोई भय नही रहता, किसी के लिए उसके हृदय मे घृणा, ईर्ष्या और शत्रुता की भावना पैदा नही होती। यह है मनुष्य को मनुष्य बनाने का, मनुष्य को मानवता के मार्ग पर चलाने का उपाय। इसकी पूर्ण योजना 'सस्कार-विधि' में हमारे समक्ष आती है। माँ की कोख मे आत्मा आती है, तभी से उसे सस्कार मिलने शुरू होते हैं। बच्चा उत्पन्न होता है तो फिर संस्कार मिलते है। माँ दूध पिलाती है तो उसके साथ प्यार भी पिलाती है। जैसे उसके संस्कार है, वैसे ही बच्चे के संस्कार भी बनते चले जाते है। कई बच्चे बहुत क्रोधी है न, उन्हे यह क्रोध माँ के दूध से प्राप्त होता है। दूध पिलाते समय माँ के वश में है कि बच्चे को वीर योद्धा बना दे, देशभक्त या राजनीतिज्ञ बना दे, ईश्वर-भक्त योगी बना दे या अपराधी बना दे—

माता निर्माता भवति।

माता ही बच्चे का निर्माण करनेवाली है। ज्यूँ-ज्यूँ बच्चा बडा होता है, त्यूँ-त्यूँ उसे सस्कार मिलते हैं। पग-पग पर, प्रतिदिन 'संस्कार-विधि' के अनुसार संस्कार दिये जायँ तो मनुष्य मनुष्य बनने लगता है।

परन्तु सात दिन हो गए। अभी तक मैं आपको केवल यह बता सका कि मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए उसका शरीर किस प्रकार बनाना चाहिये. उसकी बुद्धि किस प्रकार बनानी चाहिए, उसका मन किस प्रकार बनाना चाहिए। परन्तु अभी तो आधा मनुष्य बना, क्योंकि शरीर, मन, बुद्धि—ये सब तो प्राकृतिक है। ये सब-के-सब जड है, पत्थर है। अभी अगली बात तो चली नही। मनुष्य तब बनता है जब

आत्मा परमात्मा के साथ मिलता है। मनुष्य का और मनुष्यता का वास्तविक लक्ष्य तो वह है। उस लक्ष्य पर पहुँचकर ही मनुष्य सच्चे अर्थों मे मनुष्य कहलाने का अधिकारी होता है।

मनुष्य के जीवन की आधारशिला है तप और त्याग।' इस बात को ध्यान से गुनिये और स्मरण रखिये। हमारे पूर्वजों ने ऐश और आराम को, खाने-पीने को, मौज मनाने को मनुष्य के जीवन की आधारशिला नही बनाया, तप और त्याग को बनाया।

मानव-जीवन को चार भागो मे बाँट दिया उन्होंने। इनका नाम रक्खा आश्रम।

सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रम—यह कि अपने शरीर को दृढ बनाओ। अपने मन को, अपनी बुद्धि को, अपने-आपको ठीक करो। अपना निर्माण करो। लगातार तप करते जाओ। रजोगुण और तमोगुण को परे हटाकर सत्त्वगुण को अपनाओ। तप और त्याग के बिना यह सब-कुछ होता नही।

तब आया गृहस्थाश्रम। यह क्या है? यह कि पति पत्नी के लिए त्याग करे, पत्नी पति के लिए त्याग करे। सन्तान हो जाय तो दोनो इस सन्तान के लिए त्याग करे, उनके सुख-दुःख की चिन्ता करें, अपने परिवार के लिए तप और त्याग करे।

तब आया वानप्रस्थाश्रम—इसलिए कि जीवन में कुछ त्रुटियाँ रह गई हो, कुछ कमियाँ आ गई हो तो तप और त्याग से इन्हे दूर करो।

और तब अन्त में संन्यासाश्रम। इसलिए कि अबतक तुम तप-त्याग करते थे, अब उसकी पराकाष्ठा कर दो—सीमा तोड़ दो। सन्यासाश्रम घोर तप का, घोर त्याग का आश्रम है।

आप कहेगे कि गृहस्थाश्रम भी तप और त्याग का आश्रम है, संन्यासाश्रम भी तप और त्याग का, फिर दोनों मे अन्तर क्या है?

अन्तर है यह कि गृहस्थाश्रम मे मनुष्य तप और त्याग करता है अपने परिवार के लिए, अपने रिश्तेदारों के लिए, अपनी जाति, अपने देश के लिए। संन्यासाश्रम में वह तप और त्याग करता है सारे संसार के लिए—सारा संसार उसका हो जाता है—**वसुधैव कुटुम्बकम्**—यह सारी वसुधा, यह सारी पृथिवी उसका घर बन जाती है, इसपर रहने-

वाले सभी लोग उसके परिवार का अग बन जाते हैं।

हमारा इतिहास बताता है कि त्याग से ही मनुष्य ऊपर उठता है, जोडने से, लालच करने से नही। जोडना बुरा नही है। जोडो अवश्य। कमाओ, खाओ, जोड़ो। परन्तु इसलिए जोडो कि स्वय खा सको और दूसरो की सहायता कर सको। जो केवल अपने लिए जोडता है वह जोड़े हुए धन से, अन्न से ही जुड़कर रह जाता है। उपनिषद् ने स्पष्ट कहा—

अन्न बहु कुर्वीत तद् व्रतम्। अन्नं ना निन्द्यात् तद् व्रतम् ॥

बहुत अन्न उत्पन्न करो। जोड़ो अन्न को। उसकी निन्दा न करो—यह व्रत ले लो। परन्तु आगे चलकर कहा—जोडो किसलिये ? इसलिए कि स्वयं खाओ और दूसरों को खिलाओ। वेद भगवान् ने भी कहा—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।

त्याग से भोग कर ! भोगो अवश्य परन्तु त्याग से भोग !

आप कहेंगे यह क्या हुआ ? भोगो भी, त्यागो भी—ये दोनों बाते साथ-साथ कैसे हो सकती हैं ? मैं बताता हूँ। त्याग से भोगने का तात्पर्य यह है कि जो तुमने कमाया है उसे अकेले प्रयोग मत करो, दूसरों को भी दो। स्वय खाओ, दूसरो को खिलाओ। अपने आराम की चिन्ता करो, दूसरों के आराम की भी चिन्ता करो। वेद ने स्पष्ट कहा—धन कमाओ अवश्य परन्तु उसके पाँच विभाग कर दो। पहला धर्म के लिए—तुम्हारा जो कर्तव्य है उसे पूरा करने के लिए। दूसरा यश के लिए—ऐसे कार्य करने के लिए जिनसे तुम्हारा आदर हो। बावली बनवाओ, प्याऊ लगवाओ, कुएँ बनवाओ, धर्मशाला, अस्पताल स्कूल, कॉलिज, मन्दिर बनवाओ। तीसरा इसलिए कि अपने रिश्तेदारों की सहायता करो। चौथा अपने लिए और पाँचवाँ इसलिए कि उसीकी सहायता से अधिक धन कमा सको। इस प्रकार जो धन को बाँटता है उसका धन कमाना सफल हो जाता है। इसमें अपने लिए केवल एक भाग है, शेष सब दूसरों के लिए है। इस बात को भूलकर यदि कोई कहे कि साहब ! मैंने कमाया, मैंने जोड़ा इसलिए मैं अपने ही लिए इसका प्रयोग करूँगा तो ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध मे हमारे

शास्त्र कहते है कि वह पाप करता है, पाप खाता है और पाप बढाता है। उसको सुख नही मिलता, क्योकि सुख केवल त्याग में है, जोडने मे नही।

एक गुरुजी थे। वह अपने चेले को सदा उपदेश देते कि सुख त्याग में है, जोड़ने मे नही। चेला कहता, "गुरुजी! आप पुराने युग की बाते करते है। मैं हूँ न्यू लाइट का, मै तो जोड़ूँगा ही।" गुरुजी कहते—"तू न्यू लाइट का हो या कुछ और, त्याग के बिना सुख कभी मिलता नही।" कुछ दिन व्यतीत हुए। गुरुजी जिस नगरी मे ठहरे थे उसे छोड़कर दूसरी नगरी को चल दिये। शिष्य भी उनके साथ था। मार्ग मे जगल था, जगल में नदी बहती थी—बहुत बडी, बहुत गहरी, बहुत तेज। उसके ऊपर पुल कोई था नही। किनारे पर एक नाव विद्यमान थी। उसका नाविक भी था। इसके अतिरिक्त पार जाने का कोई दूसरा साधन नही था। गुरुजी और चेले ने नाविक से कहा—"हमें परले पार ले चलोगे भाई?" नाविक बोला—"ले चलूँगा परन्तु मजदूरी लूँगा—दो आने प्रति सवारी। आप दो-दो आने निकालो, आपको ले चलता हूँ।" अब गुरुजी के पास तो कुछ था नही। शिष्य ने अपनी कोपीन में कुछ दुअन्नियाँ जमा कर रक्खी थी, उन्हे वह निकालना नही चाहता था। गुरुजी ने चेले की ओर देखा और चेले ने गुरुजी की ओर। दोनो नदी के किनारे बैठ गये। दो-तीन घण्टे व्यतीत हो गये। सन्ध्या होने लगी तो नाविक ने कहा—"अब तुम लोग बैठो, मै तो जाता हूँ। थोड़ी ही देर मे अन्धकार हो जायेगा। यहाँ एक सिंह पानी पीने आता है। वह पानी तो बाद में पीयेगा, पहले तुम्हारा 'ब्रेक-फास्ट' (Breakfast) यानि नाश्ता करेगा।" अब चेलाजी घबराये। कोपीन से दो दुअन्नियाँ निकालकर उसने नाविक को दे दी। दोनों नौका में बैठे। दूसरी ओर जाने लगे तो शिष्य ने कहा—"क्यों गुरुजी! आप तो कहते थे कि त्याग में सुख है। यदि दुअन्नियाँ न होतीं तो आज सिह हमें खा गया होता।" गुरुजी बोले—"मैं अब भी यही कहता हूँ, भाई, कि त्याग में सुख है। जबतक ये दुअन्निआँ तुम्हारे पास थी, तबतक सिंह का डर तुम्हे खाये जाता था। इनका तूने त्याग किया तो अब सुखी है, सिंह का भय समाप्त हो गया है।" त्याग के बिना सुख कभी

मिलता नहीं। तप और त्याग का मार्ग ही सुख का मार्ग है और हमारे इतिहास में इस तप और त्याग के ऐसे-ऐसे उदाहरण है कि आज भी उन्हे पढकर हमारा सिर ऊँचा हो जाता है। महात्मा कैय्यट जिन्होंने 'महाभाष्य तिलक' लिखा, बहुत निर्धन ब्राह्मण थे। बहुत विद्वान् थे परन्तु अत्यन्त निर्धन। इनके घर मे सारा सामान था दो बर्तन, एक चटाई और कागज, कलम, स्याही। चटाई पर बैठकर वह अपना महान् ग्रन्थ लिखते थे। रात को उसी चटाई पर सो जाते थे। किसी ने राजा को बताया कि इतना बडा विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्य में रहता है, इतने कष्ट का जीवन बिता रहा है, आप उसकी सहायता कीजिये। महाराज स्वय महात्मा कैय्यट के पास गए; बोले—"महात्मा जी ! आपको देखकर मुझे बहुत कष्ट होता है।" महात्मा जी अपनी पत्नी से बोले—"देवि ! यह चटाई उठाओ, किसी अन्य स्थान पर चलें। हमारे यहाँ रहने से महाराज को कष्ट होता है।" महाराज ने जल्दी से कहा—"आपके यहाँ रहने से नहीं, आपके कष्ट से कष्ट होता है। मुझे बताइये मै आपकी क्या सेवा करूं?" महात्मा जी बोले—"मुझे कोई कष्ट नही है महाराज ! मैं अपना ग्रन्थ लिखने में मग्न हूँ, कष्टों की ओर मेरा ध्यान ही नहीं जाता। आप किस चिन्ता में पडे हैं?"

और महर्षि कणाद थे कि जिन्होंने 'वैशेषिक दर्शन' लिखा—दर्शन का ऐसा ग्रन्थ कि आज भी संसार-भर के विद्वान् उसके समक्ष सिर झुकाते हैं। वे खेतों से दाने चुन-चुनकर खाते और इस प्रकार अपना पेट भरते थे। फ़सल कट जाती, पशु भी उसमें चर लेते तो वे खेत में जाते थे, कहीं पड़े हुए दाने उठा लाते थे। इस प्रकार अपना निर्वाह करते। कुछ लोगों ने इस नगरी के राजा को जाकर बताया कि, "महर्षि कणाद जैसा विद्वान् आपके राज्य में इस प्रकार कष्ट का जीवन बिता रहा है कि खाने को भी उसके पास नहीं है।" राजा ने अपने नौकरों के हाथ खाने-पीने की वस्तुएँ महात्मा कणाद के पास भेज दी। ये नौकर महर्षि के साधारण-से मकान पर पहुँचे तो बोले—"राजा साहब ने आपके लिए खाना भेजा है।" कणाद ने सब-कुछ देखा; बोले, "अच्छी बात है, परन्तु यह सब-कुछ ले जाओ; किसी कंगाल को दे दो।"

नौकर वापस आये। यह बात राजा से कही। राजा ने अपने मंत्रियों से पूछा—"इसका तात्पर्य क्या है ?" मन्त्रियों ने कहा—"आपने बहुत थोड़ी वस्तुएँ भेजी हैं, इसलिए महर्षि कणाद ने उन्हें नहीं लिया।" राजा ने अपने नौकरों को फिर बुलाया। कई बोरी गेहूँ, आटा, दाल, चावल, चीनी उन्हें देकर कहा, "यह सब उस ब्राह्मण के पास ले जाओ।" नौकरों ने ऐसा ही किया। महर्षि के मकान पर पहुँचकर कहा—"महात्मा जी ! बाहर आइये। महाराज ने आपके लिए कुछ वस्तुएँ भेजी हैं, इन्हें देखिये।" कणाद अपने झोंपड़ी जैसे मकान से बाहर आये। सब वस्तुओं को देखा; बोले—"तुम्हारा और महाराज का धन्यवाद, इन सब वस्तुओं को ले जाओ, किसी कंगाल को दे दो।" राजा ने फिर मन्त्रियों से बात की। मन्त्रियों ने कहा—"वे बहुत बड़े विद्वान् हैं। आप उनके पास अपने नौकरों को भेज देते हैं, इसलिए वे कुछ लेते नहीं। आपको स्वयं वहाँ जाना चाहिये था।"

राजा बोले, "अच्छी बात है, अब मैं स्वयं जाऊँगा।" और वे सोने की अशर्फियों से भरा एक थाल लेकर, खाने-पीने के सामान की कई बैलगाड़ियाँ लेकर महर्षि कणाद के घर पर गए। मकान के अन्दर पहुँचे। बैठने को दूसरी जगह वहाँ थी नहीं। जैसे कणाद भूमि पर बैठे थे वैसे ही वे भी बैठ गए; हाथ जोड़कर बोले—"महर्षे ! मुझसे भूल हो गई कि मैं अपने नौकरों को आपके पास भेजता रहा। अब मैं स्वयं आया हूँ, आपके लिए कुछ वस्तुएँ भी लाया हूँ। आप बाहर आइये, इन वस्तुओं को देख लीजिये।" महर्षि बाहर आये। देखा कि किसी बैलगाड़ी में चावलों की बोरियाँ है, किसी में गेहूँ की; किसी में चीनी है, किसी में घी, किसी में कपड़े। ऐसी कितनी ही वस्तुएं हैं और सोने की अशर्फियों का थाल भी है। सब-कुछ देखकर वे बोले—"राजन् ! यह सब-कुछ ले जाओ, किसी कंगाल को दे दो।" राजा को बहुत क्रोध आया कि यह व्यक्ति मेरा अपमान करता है। क्रोध से उसने कहा—"तुमसे बड़ा कंगाल और कौन है ?" कणाद हँसते हुए बोले—"इसका भी पता लग जायेगा। आप अपनी ये वस्तुएँ ले जाएँ, मुझे इनकी आवश्यकता नही।" राजा वापस आ गया। रात्रि में उसने अपनी रानी से बात की; बोला—"विचित्र व्यक्ति है वह !

मैं इतना कुछ लेकर स्वयं गया और उसने कहा—किसी कंगाल को दे दो।" रानी थी बुद्धिमती। उसने कहा—"आपने उस व्यक्ति की महानता को नहीं समझा। वह शायद रसायन-विद्या जानता है। उससे कोई कला सीखनी चाहिये थी आपको। सोना बनाने की विधि ही सीख लेते, फिर वारे-न्यारे हो जाते। उसके ज्ञान के समक्ष आपकी सम्पत्ति क्या है?" राजा ने पूछा—"फिर क्या करूँ?" रानी ने कहा, "अभी जाइये उसके पास, उससे क्षमा माँगकर सोना बनाने की विधि सीखिये।" राजा साहब उसी समय रथ में बैठे। सीधे महर्षि के घर पहुँच गये। आधी रात हो गई थी। महर्षि द्वार बन्द करके अन्दर सोये हुए थे। राजा ने द्वार खटखटाया। कणाद जागे; बोले—"कौन है?" राजा ने कहा—"महर्षे! मैं हूँ इस नगरी का राजा।" कणाद ने द्वार खोला। राजा अन्दर गया, भूमि पर बैठकर हाथ जोडकर बोला—"मुझपर कृपा करो महर्षे! मुझे सोना बनाने की विधि बता दो। मेरी प्रजा बहुत निर्धन है, बहुत दुःखी है। उसके दुःख से मैं भी दुःखी हूँ। आप सोना बनाने की विधि बता दें तो मेरा दुःख दूर हो जायेगा।" महर्षि ने हँसते हुए कहा—"अब बताओ राजन, तुम कंगाल हो या मैं कंगाल हूँ?"

ऐसे लोग थे इस देश में!

महाराज रघु प्रतिवर्ष सर्वजित् यज्ञ करते थे। इस यज्ञ में सब-कुछ दान कर दिया जाता था, केवल एक धोती रह जाती थी यज्ञ करने-वाले के पास।

'महाभारत' में अर्जुन की कथा आती है कि वे यज्ञ कराना चाहते थे। पता लगा कि एक बहुत विद्वान् ब्राह्मण एक जंगल मे पत्तों की कुटिया बनाकर रहते है। उनके पास अपने कर्मचारी भेजे। उन कर्म-चारियों ने ब्राह्मण से कहा—"महाराज! अर्जुन एक बहुत बड़ा यज्ञ कराना चाहते हैं। आप चलिये, आपका सम्मान होगा, बहुत बडी दक्षिणा मिलेगी।"

ब्राह्मण ने सुना तो उत्तर नही दिया; आँखे नीची कर लीं।

उन लोगो ने कहा—"महाराज! अर्जुन ने आपके लिए रथ भेजा है, इसमें बैठिये और साथ चलिये।"

ब्राह्मण का सिर और भी नीचा हो गया।

वे लोग बोले—"आप तो उत्तर ही नहीं देते। अर्जुन आपको मुँह-माँगी दक्षिणा देंगे। जो आप माँगेंगे वही मिलेगा।"

और ब्राह्मण की आँखों से आँसू बहने लगे। वह फूट-फूटकर रोने लगा। अर्जुन के कर्मचारी चकित थे कि अब क्या करें? वापस आये। अर्जुन को सारी बात सुनाई तो अर्जुन भी रो पड़े।

कर्मचारियों ने पूछा—"महाराज! आप रो क्यों रहे हैं?"

अर्जुन ने उत्तर नहीं दिया। उन कर्मचारियों ने सोचा—'यह बात क्या है? क्या हमारी वाणी में बिच्छू बैठा है कि जो उसे सुनता है वही रो पडता है? चलो भगवान् कृष्ण के पास, वे इस समस्या को सुलझा देंगे।'

बस, वे पहुँचे श्रीकृष्ण के पास। उन्हें उस ब्राह्मण की बात सुनाई, अर्जुन की भी, उनके रोने की भी। भगवान् कृष्ण पहले मुस्कराये, फिर वे भी रो पड़े।

कर्मचारी चकित थे कि यह विचित्र तमाशा है! बोले—"महाराज! हम आपसे इस समस्या को समझने आये हैं और आप भी रो रहे है?"

भगवान् कृष्ण बोले—"देखो, वह ब्राह्मण इसलिए रोया कि आपने उससे दक्षिणा की बात कह दी। उसने समझा कि आप उसे लालची समझते है। अर्जुन इसलिए रोया कि शायद मेरे अन्न में पाप है, इसीलिए वह विद्वान् ब्राह्मण उसे स्वीकार करना नही चाहता, और मैं··· मैं मुस्कराया इसलिए कि आज जबकि कलियुग आरम्भ हो चुका है, आज भी ऐसे ब्राह्मण और ऐसे क्षत्रिय विद्यमान हैं; और रोया इसलिए कि आगे चलकर यह अवस्था रहेगी नहीं। ब्राह्मण बिगड़ जायेंगे, क्षत्रिय भी बिगड़ जायेंगे। सबके मन मे लोभ जाग उठेगा। तप और त्याग की भावना रहेगी नही। लोग अपनी सस्कृति को भूल जायेंगे, अपनी जाति को भूल जायेंगे, देश को और मानवता को भूल जायेंगे, तप के महत्त्व को भूल जायेंगे।"

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।

ऋ० ९।८।३।१॥

जिसने तप नहीं किया, वह उस प्यारे प्रभु का दर्शन कभी कर नही सकता। तप और त्याग की भावना जबतक हमारे देश में, हमारी जाति में रही, तबतक यह ऊपर उठती गई। जब से ये तप और त्याग समाप्त हुए, तब से पतन आरम्भ हुआ। मानवता रही नहीं। मानव का यह आदर्श रहा नही कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

जो बात तुम्हें अपने लिए अच्छी नहीं लगती उसे दूसरों के लिए मत करो। यदि मैं चाहता हूँ कि कोई मुझसे घृणा न करे तो मुझे भी किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए। यदि मैं चाहता हूँ कि कोई मेरे धन को न छीने तो मुझे भी किसी का धन नहीं छीनना चाहिए। यदि मैं चाहता हूँ कि कोई मेरी बहन, बेटी, बहू को बुरी दृष्टि से नहीं देखे तो मुझे भी किसी की बहन, बहू, बेटी को कुदृष्टि से नही देखना चाहिए। यदि मैं चाहता हूँ कि कोई मेरे दिल को न दुखाये तो मुझे भी किसी के दिल को दुखाना नही चाहिए—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।

सबको अपनी तरह जो देखता है, वस्तुतः वही देखता है; दूसरा आँखें होने पर भी वास्तव में देखता नही। अब बताइये, सब लोग इस प्रकार देखने लगें तो फिर कौन किसका शत्रु रह जाता है? कौन किसके लिए पराया रह जाता है? आज रूसवाले ऐटम ब्रम बनाते है, अमेरिकावाले भी बनाते है, क्यों बनाते हैं? दूसरों के भय के कारण, दूसरो को नष्ट करने के लिए। आज मनुष्य, मनुष्य का शत्रु हो गया है। जिन लोगों के पास मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना है उनके पास शक्ति नहीं, जिनके पास शक्ति है उनके पास योजना नहीं।

मै इस योजना को आर्य संस्कृति नही कहता, हिन्द संस्कृति या भारतीय संस्कृति नहीं कहता, वैदिक सस्कृति भी नही कहता, यह मानव-सस्कृति है। यह न्याय के लिए है'''और अब समय हो गया साढ़े नौ, शेष कल सही। परन्तु ठहरिये, कल नही, परसों। सात दिन मैंने कथा की, एक दिन की छुट्टी तो मिलनी चाहिए।

[कितनी ही ओर से कितने ही भाइयों ने कहा—"परसों नही स्वामी जी!

कल।" पूज्य स्वामी जी हँसते हुए बोले—"अरे भाई! एक दिन की छुट्टी भी नही दोगे?" कितनी ही आवाजो ने उत्तर दिया—"नहीं।" स्वामी जी बहुत जोर से हँसते हुए बोले—"कैसे स्वामी हैं मेरे! एक दिन की भी छुट्टी नहीं देते। अच्छा भाई, परसो नही, कल ही सही।"]

आठवाँ दिन

ओम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

मातामो और सज्जनो!

कल मैंने मानव को मानव बनाने की वह योजना बताने का वचन दिया था जिसे वेद भगवान् ने संसार के समक्ष रक्खा। आज इस योजना को सुनिए। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक मन्त्र आता है—

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विह ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धियो कृतान्॥

इस संसार का, अपने कारोबार का ताना-बाना बुनते हुए तू सूर्य के पीछे चल। परन्तु सूर्य के पीछे चलने का तात्पर्य क्या है? सूर्य तो दस करोड़ मील की दूरी पर है, उसके पीछे कोई चलेगा कैसे? प्राचीन काल में ब्रह्मचारी गुरु के पास शिक्षा के लिए जाता तो गुरु उसे सूर्य के समक्ष खड़ा करके कहता था—

मानवक! सूर्यस्यावृत्तमनुव्रजस्व।

उस सूर्य को देख! इसके पीछे-पीछे चल। यह तेरे जीवन का आदर्श है। और ब्रह्मचारी यजुर्वेद का मन्त्र बोलते हुए कहता था—

सूर्यस्यावृत्तमन्वावर्ते॥

मैं सूर्य के अनुसार, सूर्य के पीछे-पीछे चलने का निश्चय करता हूँ। इसके पश्चात् वह प्रतिदिन प्रार्थना करता है—

अहं भूयासं सवितेव चारु॥

हे भगवन्! मैं सूर्य की भाँति देदीप्यमान बनूँ और चमकने लग जाऊँ। सूर्य की भाँति अच्छा बन जाऊँ और सूर्य के पीछे चलूँ। इसका तात्पर्य क्या है? इसका सीधा-सा उत्तर है—मैं सूर्य के गुणों को धारण

करूँ। सूर्य का पहला गुण यह है कि वह घूमता है, परन्तु अपने केन्द्र को नहीं छोड़ता। चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द घूमता है, एक मास में पृथिवी का एक चक्कर पूरा कर लेता है। पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, वर्ष-भर में एक चक्कर पूरा करती है। सूर्य भी घूमता है परन्तु किसी के गिर्द नहीं घूमता, अपने ही आवृत्त, केन्द्र-कीली पर घूमता है। घूमता अवश्य है परन्तु अपना स्थान नहीं छोडता।

इस प्रकार सूर्य के पीछे चलो। अपने केन्द्र को मत छोडो। मनुष्य का केन्द्रबिन्दु है मानवता। उसपर डगमगाओ नही। उसे छोडकर इधर-उधर मत हो जाओ। जब से मनुष्य अपने केन्द्रबिन्दु से फिसल-कर इधर-उधर होने लगा, तभी से उसके लिए कष्ट और सकट उत्पन्न होने लगे; तभी से मनुष्य, मनुष्य से पृथक् होने लगा। हमारे शास्त्रों ने चार वर्ण और चार आश्रम निश्चित किये थे। चार वर्ण है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हमने इन चार के कई सहस्र बना दिये। ब्राह्मणों में कान्यकुब्ज अलग है, त्रिपाठी अलग, त्यागी अलग हैं, द्विवेदी, चतुर्वेदी—सब भिन्न हैं। पण्डित मदनमोहन मालवीय जी बहुत उच्चकोटि के ब्राह्मण थे। देश को उनपर गर्व है। श्री पण्डित दीनदयाल जी उपाध्याय भी बहुत विद्वान् ब्राह्मण थे। विद्वत्ता को उन-पर गर्व है। परन्तु आश्चर्य यह कि मालवीय जी चावल पकायें तो दीनदयाल जी खा नही सकते थे, दीनदयाल जी बनायें तो मालवीय जी नहीं खा सकते थे। यह विचित्र कौतुक है। मनुष्य-मनुष्य तो एक ओर, ब्राह्मण-ब्राह्मण में ही अन्तर हो गया।

अपने जीवन की एक घटना सुनाता हूँ आपको। तब मैं लाहौर मे रहता था। यू० पी० और सी० पी० के कुछ प्रदेशों से सूचना मिली कि वहाँ कुछ ईसाई पादरी निर्धन एवं निरक्षर लोगों को लालच देकर ईसाई बना रहे है। महात्मा हंसराज जी ने मुझे वहाँ भेजा कि जाकर वहाँ की स्थिति देखो और सूचना दो कि वहाँ क्या करना चाहिये। यू० पी० और सी० पी० की सीमा पर एक शहर है, उसका नाम नहीं लेता। वहाँ के कोई निवासी बैठे हो तो शायद मेरी गर्दन दबोच लेगे। लाहौर से मैं इस नगर की ओर चला। दो दिन और दो रात की यात्रा के पश्चात् वहाँ पहुँचा, खूब थका हुआ, खूब भूखा। एक पुराने

मित्र वहाँ रहते थे, उनके घर पहुँचा। नहा-धोकर तैयार हो गया कि अभी मित्र महोदय खाने को देंगे। पेट में जो चूहे दौड़ रहे हैं, उन्हें कुछ आराम मिल जायगा। अन्तड़ियाँ जो 'कुलहु अल्ला' पढ़ रही हैं उन्हें शान्ति मिल जाएगी। परन्तु मैं नहा-धोकर बैठा हूँ और खाने की कोई चर्चा ही नहीं। यौवन के दिन थे। कोई बूढा तो था नही कि भूख ही न लगे। दो दिन का भूखा भी था, परन्तु खाना था कि आनें का नाम ही नही लेता था। प्रातःकाल के नौ बज गए, दस बज गए और खाने के दर्शन नही। मैंने सोचा, 'बाज़ार में जाता हूँ, वहाँ से कुछ खा लूंगा।' फिर विचार आया कि 'मेरे मित्र क्या सोचेंगे कि कहाँ से यह भूखा आ गया है!' मन मार के बैठ गया। ग्यारह बज गए, बारह बज गए। लगभग एक बजे वे आये; बोले, "चलो भोजन करो।" मैंने मन-ही-मन धन्यवाद दिया कि अन्ततः इन्हे स्मरण तो आया। पेट में घुड़दौड़ हो रही थी। जल्दी से मैं इनके साथ गया तो रसोई के बाहर बरामदे मे पहुंचकर वे बोले—"कपड़े उतार दो।" मैंने कहा—"अरे भाई! मै भोजन करने आया हूँ, कपड़े किसलिए उतार दूं?" वे बोले—"भोजन करना है कि नहीं?" मैंने कहा, "विचित्र तमाशा है! किसी होटल में खाना खाने जाओ तो वे खाना खिलाने के पश्चात् कपड़े उतारते है, आप कपड़े पहले ही उतरवाते हो, खाना बाद में खिलाते हो।" वे बोले—"यहाँ ऐसा ही होता है।" विवश होकर मैंने कपड़े उतारे। सर्दी बहुत थी, खद्दर की बनियान नही उतारी। वे बोले—"यह बनियान भी उतार दो।"

मैंने कहा, "अरे भाई! सर्दी लग जाएगी, निमोनिया हो गया तो आपको और कष्ट होगा।"

वे बोले—"कुछ नहीं होता, आप बनियान उतारिये।" मैंने बनियान उतार दी तो वे बोले, "धोती भी उतार दो।" मैं घबराया। वे बोले, "सामने कील पर जो धोती लटक रही है उसे पहनकर रसोई में चलिए।" मैंने वैसा ही किया। रसोई में पहुँचा तो वहाँ चौकोन चौके बने हुए थे। एक चौके की ओर संकेत करते हुए वे बोले—"यह आपका चौका है, इसमें बैठिये।" मैं चौके में जाने लगा तो एक पाँव चौके में रक्खा, दूसरा अभी बाहर था कि वे चिल्ला उठे—"अरे अरे!

बेड़ा ग़र्क हो गया !" मैंने आश्चर्य से कहा—"यहाँ कोई नदी-नाला नहीं, समुद्र नहीं, शुष्क स्थान पर बेड़ा कैसे डूब गया ?" वे बोले—"आपने एक पाँव चौके में रखकर एक बाहर रख दिया। अब सारा चौका भ्रष्ट हो गया। बेचारा नौकर प्रातःकाल से खाना बना रहा था, अब सब सत्यानाश हो गया है।" मैंने चकित होकर पूछा—"चौके में और कैसे जाता ? एक पाँव अन्दर रक्खा तो दूसरा बाहर रहेगा ही।" वे बोले—"नहीं, दोनों पाँव एक-साथ उठाकर कूदकर चौके में जाना होता है। अब तो सब भ्रष्ट हो गया।"

[स्वामीजी यह घटना सुना रहे थे तो सुननेवाले हँस-हँसकर लोटपोट हुए जाते थे। स्वामीजी भी हँस रहे थे, हँसते हुए बोले—]

अब बताइये कहाँ पहुँच गया है मानव ! वह मानवता के कक्ष (केन्द्र) से हटकर किस ओर चल पड़ा है !

सन् १९२२-२३ में मालाबार में मोपला-क्रांति हुई। अब यह मालाबार केरल प्रान्त में है। वहाँ हिन्दुओं की जनसंख्या लगभग ९० प्रतिशत है। इतने पर भी मोपला मुसलमानों ने उनके मन्दिर जला दिये, कितने ही लोगों को मार डाला; कितनी ही स्त्रियों और बच्चों को उड़ा लिया। हम लाहौर से चले कि दुःखी लोगों की सेवा कर सकें। कालीकट से पचास मील के अन्तर पर दो गहरे कुएँ मिले जो मनुष्यों की हड्डियों से भरे हुए थे। ढाई हजार खोपड़ियाँ उसमे पड़ी थीं। दो सहस्र मनुष्यों की चोटियाँ काट दी गई थी। कई सहस्र बेघर हो गये। यह सब-कुछ इसलिए हुआ कि हिन्दू आपस में बँटे हुए थे, इनके हृदय में एक-दूसरे के लिए मेल-मिलाप की नहीं, घृणा और परायेपन की भावना थी। वहाँ एक नम्बूदरी है, फिर अय्यर हैं, तब नायर हैं, तब तैय्या और अन्त मे न्याडी है। यदि कोई नम्बूदरी ब्राह्मण एक सड़क पर जाता हो और सामने से कोई न्याडी आता हो और नम्बूदरी को न्याडी से कोई बात पूछनी हो तो नियम यह है कि नम्बूदरी न्याडी से सीधी बातचीत नहीं कर सकता। न्याडी भी सीधा उत्तर नहीं दे सकता। दोनों अपने मध्य कोई ईंट, पत्थर या मिट्टी का ढेला रख लेते है और कुछ न मिले तो नम्बूदरी ब्राह्मण अपना जूता ही रख देता है। इस जूते से पूछता है—"क्यों रे जूते ! तूने

मेरे बेटे को स्कूल की ओर जाते देखा है ?" और न्याडी हाथ जोड़कर उत्तर देगा—"हाँ जूताजी महाराज ! मैंने आपके बेटे को जाते हुए देखा है ।"

यह अवस्था थी वहाँ । इसलिए हिन्दू नव्वे प्रतिशत होने पर भी मार खा गये। वे सूर्य के पीछे नही चले; मानवता को भूलकर अपने केन्द्र से भटक गये । इस दुरवस्था को दूर करने का एक ही उपाय है कि सूर्य के गुणों को ग्रहण करो, अपने केन्द्र से भटको नहीं । मत भूलो इस बात को कि सबसे पहले तुम मनुष्य हो । यदि तुम मनुष्य होकर मनुष्य से घृणा करते हो तो यह मानवता नहीं है ।

तब दूसरी बात क्या सिखाता है सूर्य ? यह कि—

ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।

उन मार्गों की रक्षा करो जो बुद्धि से मँजे हुए है, जिन्हें तुम्हारे दीर्घदर्शी विद्वान् पूर्वजों ने अपनाया । उन मार्गों को छोडो नहीं । एक महान् और सुन्दर सस्कृति उन्होंने तुम्हें दी । यह संस्कृति कहती है—

अव्वल अल्ला नूर उपाया, कुदरत दे सब बन्दे ।
एक नूर ते सब जग उपज्या कौन भले कौन मन्दे ।।

इसे भूलकर परस्पर एक-दूसरे से घृणा मत करो । मानवता के महत्त्व को समझो, उसे छोडो नही। मनुष्य का पतन होता है तो सबसे पूर्व उसकी मानवता समाप्त होती है। मिस्टर गिब ने 'रोमन साम्राज्य' के नाम से एक पुस्तक लिखी है जिसमें वह कहता है कि छः मास तक स्कन्दरिया के पुस्तकालय को रोमन आक्रामक जलाते रहे । छः मास तक उनके हमाम इस पुस्तकालय की पुस्तकों से गर्म होते रहे। शताब्दियों का ज्ञान जलाकर राख कर दिया गया, तब मानवता कहाँ रही ? वख्त्यार खिलजी ने नालन्दा पर आक्रमण किया तो नालन्दा विश्वविद्यालय के महान् पुस्तकालय को आग लगा दी; कितने ही बौद्धों को कत्ल कर दिया । तब मानवता कहाँ थी ? चित्तौड़ की रानी पद्मिनी अपनी सहेलियों के साथ जीवित जल गई, ताकि एक क्रूर से अपना सतीत्व बचा सके। यह कैसी मानवता है जिसमें देवियो को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्महत्या करनी पड़े ? आप कहेंगे कि ये दूर की बातें हैं, बीते युग की कहानियाँ । परन्तु

पाकिस्तान बना तो क्या हुआ ? रावलपिण्डी के थुआखालसा में जो अत्याचार हुआ, उसे याद करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फौज के दो ट्रक लेकर मैं कुछ दूसरे सज्जनों के साथ थुआखालसा में पहुँचा तो हृदय दहलानेवाला दृश्य देखा। एक ऊँचे टीले पर सैकड़ों सिख खड़े थे उनकी स्त्रियाँ, बेटियाँ, छोटे-छोटे बच्चे। चारों ओर से उस टीले को दूसरे लोगों ने घेर रक्खा था। पानी नीचे था। कई दिन, कई रात तक ये लोग लड़ते रहे। जब तक बारूद उनके पास रहा, आक्रमणकारियों को उन्होंने निकट नहीं आने दिया। परन्तु पानी के बिना वे निढाल हुए जाते थे। पानी था कुओं में, कुएँ थे टीले से दूर मैदान में। आक्रमणकारी इन लोगों को श्वेत झण्डे[1] दिखा-दिखाकर कहते थे—"तुम आकर कुओं से पानी ले सकते हो परन्तु इस शर्त पर कि तुम्हें अपना धर्म छोड़कर हमारा मत ग्रहण करना होगा।" बच्चे बिलख रहे थे, बच्चियाँ निढाल हुई जाती थीं और ये धर्मान्ध अपने मत को फैलाने का प्रयत्न कर रहे थे। क्या यह मानवता है ? परन्तु केवल थुआखालसा मे नहीं, राजौरी में और कई दूसरे स्थानों पर भी यही हुआ।

और पिछले दिनों चीनवालों ने क्या किया ? ये लोग, जिन्हें अपनी संस्कृति और इतिहास पर गर्व है, जो अपने-आप को सभ्य कहते हैं, उन्होंने क्या किया ? मैं कैलास और मानसरोवर की यात्रा पर गया था। वहाँ भारत के अन्तिम नगर गरबयांग से आगे १४,७०० फीट ऊँची लिपूलिह घाटी है। उस घाटी से आगे तिब्बत का पहला नगर आता है—तकलाकोट। मैं यात्रा पर गया तो तकलाकोट में श्री मोहनसिंह जी रहते थे। कस्तूरी का व्यापार करते थे। बाद में वे मुझे अमृतसर में मिले। मैं कथा कर रहा था। वहाँ आये। उन्होंने बताया कि तकलाकोट के पास शमली मठ के नाम से बौद्धों का एक बहुत बड़ा मन्दिर था। उसमें बुद्ध भगवान् की एक बहुत बड़ी मूर्ति थी। १५० बौद्ध भिक्षु वहाँ रहते थे। पचास बौद्ध ब्रह्मचारिणियाँ भी रहती थीं। सब बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करते थे। चीनियों ने

---

१ युद्ध के समय श्वेत झण्डे दिखाना युद्ध-समाप्ति, अर्थात्, सन्धि व समझौते के लिए तैयार है, इसका प्रतीक है।

आक्रमण किया तो सोने की मूर्ति को उठाकर पिघला दिया। सब-के-सब भिक्षुओं और ब्रह्मचारिणियों को गोली से उड़ा दिया। यही मानवता है तो पशुता किसका नाम है? परन्तु यह सब-कुछ हुआ क्यों? इसलिए कि मनुष्य सूर्य के पीछे चलने और अपने केन्द्र पर स्थित रहने की बजाय उससे दूर हट गया, मानवता से परे हट गया।

तब तीसरी क्या बात सिखाता है सूर्य? यह कि सबको प्रकाश दो। परन्तु वह प्रकाश कैसे देता है? कहीं से लैम्प नहीं लाया वह। कहीं से मशाल माँगकर नहीं ले आया। वह स्वयं देदीप्यमान है, इसलिए दूसरों को प्रकाश देता है। सूर्य के पीछे चलना है तो पहले अपने भीतर प्रकाश उत्पन्न करो, फिर दूसरों को प्रकाश दो। दान वह कर सकता है जो स्वयं धनवान् हो। पहले धनवान् बनो, मन में उदारता लाओ, फिर दानी बनकर दूसरों के कष्ट दूर करो। जिसके अपने अन्दर ज्योति है वही दूसरों को भी ज्योति दे सकता है। जिसका अपना ही दीपक बुझा पड़ा है वह दूसरों को प्रकाश क्या देगा? और यह ज्योति आपमें विद्यमान है—

स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

ज्योति से जगमगाता हुआ स्वर्ग आपके भीतर है।

वेद भगवान् कहते हैं—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

आठ चक्रोंवाली, नौ द्वारोंवाली यह देवताओं की नगरी अयोध्या है—मनुष्य का शरीर। इसमें देवता रहता है। इसमें स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान ज्योति से भरपूर स्वर्ग है। इस ज्योति को जगाओ। इसके द्वार खोलो, अन्दर चलो। इस ज्योति से अपने-आपको प्रकाशित करो, तब तुम इस योग्य बन जाओगे कि दूसरों को प्रकाश प्रदान कर सको। महर्षि दयानन्द वेदों को पढ़ने और कितने ही शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् वास्तविकता को जानने में सफल हुए। "वास्तविकता को जान लिया" यह समझकर हरद्वार पहुँचे कि लोगों को सचाई बतायेंगे। 'पाखण्ड खण्डिनी' पताका हर की पौड़ी पर लगा दी। अपनी सारी योग्यता और पाण्डित्य के अनुसार भाषण देने लगे। लोग आते, सुनते,

चले जाते, उन्हें कोई पूछता भी न। जब स्वामी जी ने देखा कि दूसरों के पास भीड़ लगी रहती है और उन्हे कोई पूछता भी नही, तब अधिक बल से, अधिक ऊँची आवाज मे भाषण देने लगे। परन्तु कई दिन व्यतीत हो जाने पर भी अवस्था बदली नही। लोग आते, थोड़ी देर ठहरते, बिना कोई प्रभाव लिये चले जाते। एक दिन बोलते-बोलते स्वामीजी का गला रुक गया। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। बार-बार मन मे प्रश्न उत्पन्न हुआ—'मै ठीक बात कहता हूँ, लोग उसे सुनते क्यों नही? उनपर प्रभाव क्यो नही होता?' तभी उन्होंने—

सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।

कहकर अपनी सभी पुस्तकें, वस्त्र—सब-कुछ दान कर दिया। केवल एक कोपीन पहनकर चल पडे। हरद्वार से ऋषिकेश पहुँचे। वहाँ से गगा के किनारे-किनारे आगे बढे—विशाल जगलों मे, हिमाच्छादित चोटियो पर। छः वर्ष तक इन वनों मे, घाटियो और चोटियो के ससार में तप करते रहे। जलती हुई गर्मियाँ आईं, झुलसती हुई दुपहरियाँ, ठिठ्रती हुई रातें, बरसते हुए दिन, कडकती हुई सर्दियाँ। आकाश से गिरती हुई बर्फ ने प्रत्येक वस्तु सफेद कर दी। तूफान गर्ज उठे, बिजलियाँ तडप उठी। हिंस्र पशुओं की चिघाड से पहाड़ गूंज उठे। परन्तु महर्षि निरन्तर तपस्या करते रहे। गगा के पत्थर उनका तकिया थे, गगा की रेत उनका बिस्तर। इस घोर तप के पश्चात् जब उन्होने देखा कि उनके अपने अन्दर वह ज्योति प्रकट हो गई है, जिसे वे दूसरों को देना चाहते है तो वे वापस आये। तब लोगो ने उनकी बात सुनी, उनपर प्रभाव हुआ। इस प्रकार ससार सुनता है। पहले अपने भीतर ज्योति प्रकट करो, फिर दूसरो को प्रकाश दो। हम चाहते है कि लोग हमारे पीछे चलें। चलेगे अवश्य परन्तु पहले अपने अन्दर दूसरो को पीछे चलाने की शक्ति उत्पन्न करो भाई! स्वयं तुम्हारे पास प्रकाश है नहीं, दूसरों को देना चाहते हो तो दूसरे लेंगे क्या? यह ज्योति उत्पन्न होती है साधना से, तप से, त्याग से जिसकी चर्चा मै पहले कर चुका हूँ।

तब चौथी बात क्या कहता है सूर्य? यह कि मनुष्य के जीवन मे उतार भी है चढ़ाव भी। सुख के चमकते हुए दिन भी आते हैं, दुःख

और संकटों के काले दिन भी। सूर्य कहता है दुःख से, कष्टों से, काले दिनों से घबरा न जा। वर्षा ऋतु में घनघोर काली घटाएँ घिर आती है, सूर्य उनके पीछे छिप जाता है। कई-कई दिन तक लोग उसे देख नही पाते। ऐसे भी दिन आते है जब दोपहर के समय इतना अँधेरा हो जाता है कि दीपक जलाने पड़ते हैं परन्तु इन बादलों के पीछे खडा हुआ सूर्य कहता है—"ऐ मानव! दुःख से, काले दिनो से घबरा नही, ये सदा रहेगे नही, एक-न-एक दिन ये घटाएँ छिन्न-भिन्न हो जायेगी, ये बादल बिखर जायेंगे। मै फिर चमकूँगा। तेरे लिए भी ऐसा हो सकता है। काले दिन आ गये है, दुख की घोर घटाएँ घिर आई हैं तो चिन्ता न कर, निराशावादी न बन, आशावादी बन। अच्छे दिन नहीं रहे तो ये काले दिन भी नहीं रहेंगे।"

परन्तु यह बात वह किस शक्ति के आधार पर कहता है? आत्म-विश्वास की शक्ति पर। उसे ज्ञात है कि इन बादलों की शक्ति कोई शक्ति नही। मेरे अन्दर वह शक्ति है कि मै इन्हे समाप्त कर दूंगा। यह आत्मविश्वास, यह विल-पॉवर (Will power), यह मानसिक बल अपने अन्दर पैदा करो। विश्वास करो कि सकट आते है तो जाते भी है। घबराओ नही। अपने संसार के तुम स्वय स्वामी हो। स्वयं वेद भगवान् भी यही कहते हैं—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥ यजु० २३। १५॥

कितना महान् सन्देश है इसमें! भगवान् कहते है—"क्यों रे मानव! क्यों रे नौजवान! क्या बनना चाहता है? क्या तू चाहता है कि ख्रुश्चेव की गद्दी पर बैठा जाये? कैनेडी की कुर्सी पर बैठा जाये? प्रधानमन्त्री बन जाये? हो सकता है यह सब-कुछ, असम्भव नहीं है, परन्तु इसके लिए तुझे स्वय पुरुषार्थ करना पड़ेगा, स्वयं यज्ञ करना होगा, अपने-आप को आहुति बनाकर उसमें डाल देना होगा, तब तुझे प्रत्येक वह वस्तु प्राप्त होगी, जिसे तू प्राप्त करना चाहता है; कोई दूसरा तुझे देगा नही।"

सुनो, सुनो, अमेरिका पर भरोसा करनेवालो! अमेरिका यदि इस देश में आयेगा तो तुम्हें दास बनाने के लिए आयेगा। रूस आयेगा तो

तुम्हारी स्वतन्त्रता छीनने के लिए आयेगा। तुम्हे अपनी सहायता करनी है तो अपने-आप करो, दूसरे का सहारा मत खोजो। स्वय प्रयत्न और पुरुषार्थ करो, सकट की घनघोर घटाएँ दूर हो जा ेंगी।

यह है सूर्य के पीछे चलने का अर्थ। यह है वेद भगवान् की वह योजना जिसे उसने मनुष्य बनाने के लिए उसके समक्ष रक्खा।

इसके पश्चात् क्या कहता है सूर्य ? यह कि देखो, पृथिवी पर जहाँ कही भी जल है उसे मैं अपनी किरणों से ऊपर खीचता हूँ, वाष्प बना देता हूँ, बादल बना देता हूँ। परन्तु ऐसा करने के पश्चात् उसे अपने पास नही रखता, पृथिवी को वापस कर देता हूँ। तुम भी ऐसा करो। धन कमाओ अवश्य, खूब कमाओ ! वेद में धन कमाने के लिए बार-बार प्रार्थना आती है—

वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

हे भगवान् ! मै धन-धान्य के भण्डारो का स्वामी बन जाऊँ।

बनो स्वामी। इसमें कोई दोष, नही। वेद धन कमाने से नही रोकता, उपनिषद् नही रोकते। वे कहते है कि इतना धन कमाओ कि तुम सोने और चाँदी के बर्तनो में खाना खाओ। कच्चे नही, पक्के मकानों में रहो। खूब धन कमाओ, परन्तु धन मे डूब न जाओ। जैसे सूर्य कमाये हुए जल की वृष्टि कर देता है, ऐसे ही तुम भी अपने धन की बारिश करो जिससे समाज सुखी हो, देश सुखी हो, मनुष्य सुखी हो। यदि तुम ऐसा नही करते तो स्मरण रक्खो, तुम्हारी कमाई पाप है, तुम्हारा धन पाप है। कुछ लोग इस बात को समझ नही पाते कि धन की सफलता हमको केवल संग्रह करने और अपने लिए खर्च करने मे नही अपितु दूसरो के लिए खर्च करने और भले कामों के लिए खर्च करने में है। ऐसे व्यक्ति के पास आर्यसमाज के मन्त्री वेद-प्रचार के लिए दान माँगने जाये तो वे या तो इधर-उधर हो जाते हैं या ऐसा न कर सकें तो आश्चर्य से कहते हैं—"आर्यसमाज के लिए दान ! ना जी ! हम तो आर्यसमाज के लिए दान नही दे सकते, हम तो सनातन-धर्मी है।" और सनातन धर्म सभा का कोई प्रचारक दान लेने पहुँचे तो वे कहते है—"हम तो आर्यसमाजी हो गए कब के, अब आपको दान कैसे दें ?" यह मानव बनने का मार्ग नहीं। मानव को यदि मानव बनना

है तो आवश्यक है कि वह सूर्य के पीछे चले; सूर्य की भाँति पानी को ऊपर ले जाये, सूर्य की भाँति उसे बादल बनाकर बरसा दे। जो अपने लिए कमाता है, अकेला खाता है, उसका कमाना और खाना निष्फल हो जाता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।।

यह वेद की वाणी है। कमाकर अकेले न खाओ। जो कमाकर अकेला खाता है, वह पाप खाता है। यह सच है, इसमें संदेह नहीं।

और फिर सूर्य कहता है— "यदि तुम मेरे पीछे चलना चाहते हो तो मेरी भाँति अपवित्रता का नाश करो।"

जहाँ कही सूर्य की धूप नही पहुँचती, वहाँ रोगों के कीटाणु उत्पन्न हो जाते है, नाना प्रकार के रोग उनसे उत्पन्न हो जाते है। तुम यदि मनुष्य बनना चाहते हो तो आवश्यक है कि अपने भीतर समाज के, जाति-भेद के कीटाणुओं को समाप्त करने की शक्ति उत्पन्न करो। पाप, अत्याचार और अन्याय के समक्ष झुको नहीं, इनको नष्ट करके रख दो। 'अहिसा परमो धर्म' को हम नही मानते। जो लोग 'अहिंसा परमो धर्मः' को मानने का दावा करते है, वे भी वास्तव मे उसे मानते नहीं। छः मास हुए मैं बर्मा गया। वहाँ बौद्धधर्म राज्यधर्म है; परन्तु कोई भी बौद्ध ऐसा नही जो मांस न खाता हो। केवल बकरे और मुर्गे वे नही खाते। बैल, भैंसा, मछली, कीड़े-मकोड़े, साँप, सबको खा जाते हैं। एक विशेष प्रकार का (Special) भोजन वहाँ बनता है जो दीमक से तैयार किया जाता है। प्रत्येक प्लेट मे दीमक के कितने करोड़ कीडे रख दिये जाते है, यह मुझे पता नही। तिब्बत में भी बौद्ध धर्म है और वहाँ भी यही हाल है। मैं जब कैलास गया तो कैलास से उतरते समय बर्फ गिरने लगी। हमारे मार्गदर्शक ने दूर एक तम्बू देखा, उसमे हमे ले गया। एक तिब्बती लामा उसमें रहते थे। उन्होंने हमारी आवभगत की। कुछ खाने की वस्तुएँ हमारे समक्ष रख दी। चाय का बर्तन रख दिया। चाय अच्छी थी। खाने के लिए गोल-गोल लड्डुओं जैसी कोई चीज़ थी। मैं खाने लगा तो मार्गदर्शक ने रोककर कहा—"यह मत खाइये। ये मांस के बने हैं।" तब उसने भोटी भाषा में लामा को समझाया कि यह काशी लामा है; काशी लामा मास नहीं खाते। भारतीय

साधुओं को तिब्बत में काशी लामा कहा जाता है। और कुछ वर्ष से दलाई लामा आये हुए है न हमारे देश में, वे बौद्धों के महान् गुरु है। बौद्ध लोग उन्हें बुद्ध का अवतार मानते है। वे हर प्रकार का मांस खा जाते है। मछली मिल जाय तो, कबूतर मिल जाय तो, चिडियाँ मिल जायँ तो, तोता मिल जाय तो और गधा मिल जाय तो भी वह खा जाते हैं। अब कहाँ रह गया 'अहिंसा परमो धर्म.' ? सच यह है कि अहिंसा अपने स्थान पर ठीक है, अहिंसा परम धर्म है; पर अत्याचार, पाप या अन्याय के समक्ष भुकना, उनको सहन करना अहिंसा नही, अपितु कायरता है। मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्हें सहन करने की बजाय नष्ट करने का प्रयत्न करे। समाज में, देश या जाति में जो कीटाणु उत्पन्न हो गए है उन्हे नष्ट करना ही धर्म है।

परन्तु इसके साथ ही सूय एक बात और सिखाता है।

रोग के कीटाणुओं को, गन्दगी को समाप्त करता है। परन्तु क्या आपने कभी सूर्य की किरणों को भी गन्दे होते देखा है। कभी देखा है कि उनमें मैल आ गई हो ? उन्हें कोई रोग लग गया हो ? नहीं। सूर्य की किरणें अपवित्रता को दूर करती हैं, परन्तु स्वयं कभी गन्दी नहीं होती; रोगों को दूर करती हैं परन्तु स्वयं रोगी नही होती।

यह सिखाता है सूर्य।

समाज को, देश को, जाति को हानि पहुँचानेवाले कीटाणुओं को नष्ट करो अवश्य, परन्तु इन कीटाणुओं के शिकार न बन जाओ। अपवित्रता को दूर करो परन्तु स्वयं अपवित्र न हो जाओ। कई लोग सुधार आरम्भ करते हैं। सुधार होता नहीं तो स्वयं ही बिगड़ने लगते है। यह तो सूर्य के पीछे चलना नही है। सूर्य के पीछे चलना है तो अपने निश्चय पर दृढ रहो। यह नहीं कि शिकायत तो यह करो रिश्वत बहुत है, भाषण करो कि घूँस समाप्त होनी चाहिए और अपना काम निकालने के लिए स्वयं ही यह कहकर रिश्वत देना शुरू कर दो कि—"क्या करें ! काम तो निकालना है।" मुझे मॉरीशस जाना था। टीके लगवा लिये, पासपोर्ट बनवा लिया। एक काम रह गया था। वह होता नही था। किसी ने मुझे कहा—"इस प्रकार कबतक प्रतीक्षा करोगे ? किसी को कुछ देदिलाकर अपना काम निकलवा लो।" मैने हँसते हुए कहा, "मुझे जाना

है वेद-प्रचार के लिए। यदि मैं ही ऐसा करूँगा तो दूसरे क्या करेंगे ?" नहीं, इस प्रकार सुधार नहीं होता। सुधार करना है तो आवश्यक है कि स्वयं सुधरे रहो, अपवित्रता को दूर करो, इसमे फँस न जाओ।

परन्तु देखिये, अब दस बज गए। अच्छा, आज इतना ही, शेष कल।

ओ३म् तत्सत् !

नौवाँ दिन

[आज आर्यसमाज हनुमान रोड, नई दिल्ली के पण्डाल मे सहस्रों लोग विद्यमान थे। आज पूज्य श्री आनन्द स्वामी जी महाराज की कथा का इस पण्डाल मे नौवाँ और अन्तिम दिन था। पूज्य स्वामीजी आसन पर आकर बैठे तो लगभग एक मिनट तक एक ही श्वास में 'ओ ३-३-३ म्' कहते रहे। तब लगभग आध मिनट पश्चात् उन्होंने कथा आरम्भ की—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

मानव और मानवता—मनुष्य सच्चे अर्थों में मानव कैसे बने ? इस बात पर हम विचार कर रहे थे और मैंने बताया कि वेद भगवान् ने मनुष्य को मनुष्य बनाने की जो योजना प्रस्तुत की है वह क्या है ? ऋग्वेद के दशम मंडल के तिरेपनवें सूक्त में भगवान् कहते हैं—

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विह ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।

जीवन के ताने-बाने को बुनते हुए उस जगमगाते, ज्योति से भरपूर सूर्य के पीछे चलो।

परन्तु सूर्य के पीछे चलने का अर्थ क्या है ? यह कि सूर्य के गुणों को अपने अन्दर धारण करो। सूर्य का पहला गुण यह है कि वह घूमता अवश्य है, दिन-रात घूमता है, परन्तु केन्द्र से कभी इधर-उधर नहीं होता। वेद कहता है, ऐ मानव ! तू भी घूम अवश्य, संघर्ष कर, प्रयत्न और पुरुषार्थ कर, कर्म कर, परन्तु अपनी मानवता को मत छोड़, उससे इधर-उधर मत हो।

तब सूर्य सिखाता है कि देखो, समुद्रों, झीलों, नदियों, नालों, तालाबों

का पानी भाप बनाकर, बादल बनाकर ऊपर खींच लेता हूँ परन्तु इस पानी को पास नही रखता, बारिश बनाकर स्थान-स्थान पर बरसा देता हूँ, ताकि खेत लहलहा उठें, अन्न, फल-फूल, सब्ज़ियाँ उत्पन्न हो सकें, झूमते हुए जगल जाग उठे। यदि तुम मेरे पीछे चलना चाहते हो तो ऐसे ही करो। धन कमाओ, खूब कमाओ, धन कमाना बुरा नही परन्तु कमाने के पश्चात् उसे दूसरों के लिए, समाज, देश, जाति और मनुष्य की भलाई के लिए इस प्रकार खर्च करो जैसे वृष्टि होती है।

इसके पश्चात् सूर्य कहता है कि देखो, मै चमकता हूँ, तुम भी चमको। केवल जीवित रहना, कीड़ों और मकोड़ों की भाँति साँस लेना, खाना-पीना, सो जाना और फिर मर जाना ही जीवन नही है, चमकना जीवन है। मनुष्य इस संसार मे केवल खाने-पीने, साँस लेने और मर जाने के लिए नही आता, श्रेष्ठ कर्म करके चमकने के लिए आता है।

फिर यह चमकता हुआ सूर्य कहता है—मेरे पीछे चलना है तो जिस प्रकार मै गन्दगी को, मल को साफ करता हूँ ऐसे ही तुम भी करो, परन्तु इस प्रकार करो कि स्वयं मैले न हो जाओ। जो बिगड गये हैं, कुमार्ग पर चल पडे है उन्हे सुधारने का प्रयत्न करो परन्तु स्वयं न बिगड़ जाओ। सुधारनेवाले कैसे बिगड़ते है, इसका वर्णन शायद आपने भी पिछले दिनों पत्रो मे पढा होगा। करनाल का समाचार था वह। एक गाँव में कुछ लोग अवैध शराब बनाते थे। पुलिसवाले वहाँ पहुँचे, छापा मारा। कई मटके अवैध शराब के उन्होंने पकड लिये। छानबीन करते हुए सन्ध्या हो गई तो प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि शराब के इन मटको को करनाल कैसे ले-जाया जाय? कोई गाड़ी मिली नहीं। आदमी भी मिला नही। पुलिसवालो ने कहा, इसे छोड़ तो सकते नहीं। यह अवैध शराब है। हम ही क्यों न पी ले! और लगे पीने। पीते-पीते मदमस्त हो गए। जिस कार्य के लिए आये थे वह भूल ही गया। इस प्रकार सुधारनेवाले बिगड़ते है। सूर्य कहता है—दूसरों का सुधार करो परन्तु स्वयं न बिगड़ जाओ।

तब अगली बात क्या कहता है सूर्य? यह देखो कि यह जीवन है, इसमें उतार-चढ़ाव भी आते है, उजले दिन भी आते है तो काले दिन भी आते है। ऐसे दिन भी आते हैं जब दु:खों, कष्टों, क्लेशों और रोगों

के बादल आ जाते है। अपमान, वियोग, दर्द और आपत्तियो की घटाएँ घिर आती है तब घबराना नही, मेरे पीछे चलना। बादल मुझे ढक लेते है, घटाएँ मुझे छिपा लेती है परन्तु मुझे पता है कि ये घटाएँ सदा रहती नही। तुम भी इस विश्वास के साथ काले दिनों का सामुख्य करो कि आज नही तो कल और कल नहीं तो परसो, परसो नही तो चौथे दिन ये बुरे दिन बीत जायेंगे, अच्छे नही रहे तो बुरे कैसे रहेंगे ?

मैं एक बार शिमला में था। दस दिन तक वहाँ सूर्य के दर्शन नही हुए। लोगो ने समझा कि अब सूर्य निकलेगा नही परन्तु ग्यारहवें दिन चमचमाता हुआ सूर्य मुस्करा उठा। मन को दृढ़ रक्खो भाई! दुःख सदा नहीं रहते, बादल सदा नही रहते।

यह सब-कुछ मैंने कल आपको बताया।

परन्तु यह सूर्य कुछ और भी कहता है -यह कि अपनें लिए जो नियम तुमने बनाए है इन्हे तोडो नहीं। इनपर अटल रहो। यह नहीं कि कभी रात को तीन बजे जाग उठो और कभी दिन के आठ बजे तक सोये ही रहो। लोग बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते। परन्तु नियम का बन्धन ऐसा है जिसे मानना ही उचित है। ऐसे बन्धन को तोड़ना नहीं चाहिए। जो बन्धन दुःखदायी हैं, जिनसे इस संसार-सागर को तरने में रुकावट आती है उन्हें तोड़ना चाहिए अवश्य।

काशी में रहनेवाले कुछ लोगो ने सोचा कि काशी में तो रहते ही हैं, चलो कल पूर्णमासी-पर्व प्रयाग में चलकर मनाएँ। रात्रि के समय नौका में बैठेंगे, प्रातः होने से बहुत पूर्व वहाँ पहुँच जाएँगे। सन्ध्या हुई तो काशी के घाट पर एकत्र हुए। सब-के-सब भंग पीनेवाले थे। सबने पहले थोडी-थोडी, फिर अधिक भंग पी ली। कुछ भंग साथ भी रख ली कि यात्रा में काम आएगी। रात हुई तो सब भोजन आदि करके नौका मे बैठे। सबने चप्पू पकड़ लिये। सब चप्पू चलाने लगे कि प्रयाग तक जल्दी पहुँच जायें। कई घण्टे वे चप्पू चलाते रहे। रात्रि के दस बजे, बारह बजे, दो बज गए, तीन भी बज गए। एक आदमी ने कहा—"अरे भाई, चप्पू चलाते-चलाते तो भुजाएँ थक गई, कोई उठकर देखो तो सही प्रयाग आया या नहीं।" एक और व्यक्ति ने कहा—"ठहरो मैं देखता हूँ।" वह नौका में खड़ा हुआ। चाँदनी रात थी। किनारे की

ओर उसने देखा तो चकित होकर बोला—"अरे भाइयो ! यह क्या है ? मुझे तो सामने काशी जी का घाट दिखाई दे रहा है।" पहले ने कहा—"तेरा दिमाग खराब हो गया है, बहुत भग पी गया है तू। रात-भर हम चलते रहे हैं और तुझे अभी तक काशी का घाट दिखाई देता है ? उठो भाई ! कोई और आदमी उठकर देखे।" तब एक और व्यक्ति ने उठकर देखा, ध्यान से देखने के पश्चात् बोला, "भाइयो ! भगवान् करे झूठ हो, परन्तु सामने का घाट तो काशी जी का घाट ही दिखाई देता है।" सबने कहा—"तूने भी भग पी रक्खी है, बैठ नीचे, किसी और को देखने दे।" परन्तु तीसरे ने देखा तो उसने भी कहा—"यह तो सचमुच काशी जी का घाट है।" तब जो सबसे समझ-दार था वह उठा और किनारे की ओर देखते हुए बोला—"अरे ! अनर्थ हो गया ! यह तो सच ही काशी जी का घाट है, और वही घाट है जिससे हम रात्रि को चले थे।" अब सब लोग घबराए। सबने देखा तो पता चला कि नौका की रस्सी जिस कील के साथ बँधी थी, अब भी उसी के साथ बँधी हुई है। भंग के नशे में किसी को ध्यान ही नहीं आया कि इस रस्सी को खोलना भी चाहिए। रात-भर वे चप्पू चलाते रहे और रात-भर नौका की रस्सी उसी कील के साथ बँधी रही।

अरे भाई ! आगे जाना है तो मोह, ममता, लोभ, काम, क्रोध और अहकार की ये रस्सियाँ तोड दो। इन्हें तोड़े बिना नौका चलाओगे तो चलाते रहो, एक जन्म नहीं दस जन्म तक चलाते रहो, नौका कहीं जायेगी ? नहीं, उसी घाट पर खड़ी रहेगी। कुछ बन्धन ऐसे होते हैं जिन्हे तोडना ही अच्छा होता है; परन्तु कुछ बन्धन ऐसे है जिन्हे रखने में ही भलाई है। इनमें से एक बन्धन है मानवता का। इसे मत तोड़ो ! मानवता के नियम में रहो। पहले भी कहा था, आज भी कहता हूँ—

दिल में उलफ़त नहीं तो कुछ भी नहीं।
गुल में निकहत नहीं तो कुछ भी नहीं॥
आदमी में हजार ज़ौहर हों,
आदमीयत नहीं तो कुछ भी नहीं॥

मानवता के इस बन्धन को स्थिर रक्खो। इसे समाप्त कर दिया तो सब-कुछ समाप्त हो जाएगा। अभी हमारे पण्डितजी कह रहे थे कि

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में दुराचार, भ्रष्टाचार फैल गया है। क्या हो गया है ऐसा? इसलिए कि मनुष्य, मनुष्य नहीं रहा, उसने मानवता के नियम को तोड़ दिया। उसके बन्धन की चिन्ता नहीं की, जबकि कुछ बन्धन ऐसे होते हैं जिनका स्थिर रहना आवश्यक होता है।

ये कुछ बातें मैंने सूर्य के सम्बन्ध में कह दीं परन्तु

[तभी एक छोटी-सी बच्ची स्वामीजी के सामने खड़ी होकर हँसने लगी। स्वामीजी भी उसे देखकर हँसने लगे; हँसते हुए बोले—"एथे आके हँस न वेटे, सारे लोक तैनूं तकनगे।" और फिर अधिक ज़ोर से हँसकर उन्होंने कहा—'ओ केदी है इह कुड़ी, थाम्बो इहनूं!" (यहाँ आकर हँस न बेटी, सब लोग तुझे देखेंगे। अरे किसकी है यह बच्ची? इसे सँभालो!) और बच्ची की माँ ने उसे गोद में ले लिया तो तो वे बोले—] परन्तु आगे क्या कहता है वेद-मन्त्र? यह कि—

ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्॥

इन चमकते हुए, ज्योति से भरे मार्गों की रक्षा करो जिन्हें बुद्धि ने निश्चित किया है। बुद्धि ही मनुष्य और पशु में अन्तर उत्पन्न करती है। बुद्धि न हो तो मनुष्य वैसा ही पशु है जैसा घोड़ा, गधा या अन्य पशु है; बुद्धि हो तो मनुष्य, मनुष्य है; न हो तो पशु। परन्तु कैसी बुद्धि? वह जिसे सुमति कहते हैं—

जहाँ सुमति तहाँ सम्पत नाना।
जहाँ कुमति तहाँ विपत निदाना॥

मति=बुद्धि दोनों स्थानों पर है। एक दशा में वह प्रसन्नता और आनन्द को उत्पन्न करती है, दूसरी अवस्था में दुःखों, कष्टों और क्लेशों को उत्पन्न करती है। इसलिए बुद्धि का अर्थ है सात्त्विक बुद्धि, रजोगुणी या तमोगुणी नही। तमोगुणी बुद्धि जागती है तब विनाश उत्पन्न करती है। अब इस चाऊ-एन लाई को क्या हुआ? बुद्धि में तमोगुण आ गया। कल तक वे 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' कहते फिरते थे, अब 'हिन्दी-चीनी लड़ाई-लड़ाई' कर रहे है। बुद्धि में विकार आ गया। बुद्धि बिगड़ जाये तो मानवता रहती नहीं। इसलिए वेद भगवान् ने कहा—"बुद्धि से मँजे हुए प्रकाश में, ज्योति से भरपूर मार्गों की

रक्षा करो ।" इन मार्गों पर चलो । बुद्धि में सात्विकपन न रहे तो क्या होता है ? हमारे देश की सस्कृति मे दया और दान दोनो का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । परन्तु बुद्धि खराब हो जाय तो ये महान् बातें भी संकट का कारण बन जाती है । आर्य जगत् के एक बहुत अच्छे विद्वान् सन्यासी थे स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज । प्राय' वे गुजरात काठियावाड में रहा करते थे । वहाँ की एक घटना सुनाया करते थे कि दया और दान कैसा अनुचित रूप भी धारण करते है । उसी प्रदेश के एक नगर में एक बहुत बडे सेठ थे । सन्तान थी नही, बस, आप-ही-आप सवा लाख थे । वृद्ध हुए तो चिन्ता हुई कि इस धन का क्या करें, यह किस काम आयेगा ? वे सोच रहे थे । रात्रि का समय था । वे अपने पलँग पर लेटे थे । तभी एक खटमल ने उन्हे काटा । सेठजी ने सोचा—'अभी तो मै जीता हूँ । ये खटमल मुझे काटते है । मेरा रक्त पीकर जीते है । मै मर गया तो ये जीयेंगे कैसे ?'

इस विचार के आते ही उसने निर्णय कर लिया कि उसका धन किस प्रकार प्रयुक्त होगा । दूसरे ही दिन उसने तीन व्यक्तियों का एक ट्रस्ट बना दिया । उसपर यह उत्तरदायित्व डाल दिया कि मेरे पश्चात् मेरे पलँग के खटमलो की रक्षा की जाय । उन्हे जीवित रखने के लिए प्रतिदिन शुल्क देकर मनुष्य का रक्त इकट्ठा किया जाय । सेठ महोदय मर गए तो ट्रस्टियो की बैठक हुई । उन्होंने निर्णय किया कि इस पलॅग पर सोने के लिए प्रतिदिन एक नया व्यक्ति नियत किया जाय । जो आदमी पलॅग पर सोये, उसे एक रात के पॉच रुपए दिये जायँ । बस, विज्ञापन दे दिया गया । हमारे देश मे बेकारी बहुत है । कई लोगों ने प्रार्थनापत्र भेजे कि हम पलँग पर सोयेगे । इण्टरव्यू हुए । ट्रस्टियों ने कुछ स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियो को चुन लिया । सबसे पहले एक नौजवान की बारी आई । रात्रि हुई । पलँग पर जाकर लेट गया । आध घण्टा व्यतीत हुआ तो निकली खटमलों की सेना, लगी उस नौजवान को काटने । आरम्भ में उसने सहन किया, कभी इधर खुजाता कभी उधर । अन्ततः तंग आ गया ।

कुछ दिन हुए जालन्धर डी० ए० वी० स्कूल के पारितोषिक-वितरण-उत्सव में एक बच्चे ने गीत गाया था—

मञ्जियाँ विच खटमल पै गये ने।
हथ खुरक खुरक के रह गए ने॥

[चारपाइयों मे खटमल पड गए है, हाथ खुजलाते-खुजलाते थक गए है।]

ऐसी ही अवस्था उस युवक की भी हुई। खुजाते-खुजाते उसके हाथ भी थक गए। एक घण्टा व्यतीत हुआ तो वह पलँग से उठा और यह कहते हुए अपने घर भाग गया—"मुझे आवश्यकता नही है तुम्हारे पाँच रुपयो की, इन्हें अपने पास रक्खो।"

ट्रस्टियों ने दूसरे दिन दूसरे व्यक्ति को पलँग पर सुला दिया। वह भी एक घण्टे पश्चात् भाग गया। तीन-चार दिन ऐसा ही होता रहा। तब ट्रस्टी आपस मे मिले, सोचने लगे कि अब क्या करें ? सेठ महोदय की इच्छा तो इस प्रकार पूरी हो नहीं सकती, उनके खटमल भूखे मर जाएँगे। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होने निर्णय किया कि इस पलँग पर सोने के लिए पाँच रुपये प्रति रात्रि बहुत कम है। काम काफी कठिन है, अत. एक रात की कम-से-कम पच्चीस रुपये फीस होनी चाहिए। दूसरे दिन उन्होंने विज्ञापन दिया कि परलोक-वासी सेठ के पलँग पर सोने के लिए एक रात्रि के पच्चीस रुपये दिये जाएँगे, परन्तु शर्त यह है कि सोनेवाले को पलँग के साथ बाँध दिया जायेगा; प्रातः उसे खोल दिया जायेगा। एक पहलवान ने उस विज्ञापन की बात सुनी तो उसने सोचा कि यह तो बहुत अच्छा सौदा है। खटमल आखिर कितना रक्त चूस लेंगे ? तोला, दो तोला, अधिक-से-अधिक एक छटॉक। परन्तु प्रातः पच्चीस रुपये तो मिल जायेंगे ! इतने रुपये के घी और दूध से मैं कितना ही नया खून बना लूँगा। मण्डी में दिन-भर ढाई-ढाई मन की बोरियाँ उठाता हूँ तो कठिनता से तीन-चार रुपये बनते हैं। इस पलँग पर केवल रात-भर सोने से पच्चीस रुपये मिल जाएँगे। ऐसा सोचकर उसने अपनी सेवाएँ ट्रस्टियों को अर्पित कीं। रात्रि के समय उसे पलँग पर सुलाया गया तो हाथ और कमर को रस्सियो से पलॅग के साथ बाँध दिया गया। पहलवान साहब पच्चीस रुपयों का स्वप्न देखते हुए आराम से लेट गए। परन्तु अभी वे सोच ही रहे थे कि पच्चीस रुपयों से क्या करेंगे, तभी निकल आई वह चीनी सेना। एक के पश्चात् एक, हर बार ये खटमल ने

काटना शुरू किया। पहलवान ने टाँगें हिलाकर खटमलों को हटाने की कोशिश की परन्तु टाँगें, पीठ, गर्दन, बाहु या माथे पर तो पहुँचती नहीं थी। आध घण्टा उसने सहन किया, एक घण्टा सहन किया। तब चिल्ला उठा—"अरे! कोई मुझे खोलो, खटमल मुझे खाये जाते है।" परन्तु खोलता कौन? ट्रस्टियों ने उसे पच्चीस रुपये देने का वचन दिया था—रातभर पलँग पर सोने के लिए। खटमल भी कई दिन के भूखे थे। पेट-भर भोजन उन्हें मिला नही था। वे अपना पेट भरने लगे। पहलवान ने चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू किया, "मुझे खोलो, मैं पच्चीस रुपये नही लूँगा, मुझे कुछ नही चाहिये।" किसी ने नही सुनी तो उसने जोर लगाना आरम्भ किया। कसरती आदमी था। जोर लगाया तो पलँग-सहित उठकर खडा हो गया। पलँग-सहित ही उस घर से भागा। भागता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ रियासत के राजा साहब रहते थे। उसके महल पर जाकर चिल्लाया—"मुझे बचाओ राजा साहब! ये लोग मुझे मार डालना चाहते है, मुझे बचाओ!" राजा साहब की नींद खुली। उन्होंने महल की खिड़की से झाँककर इस विचित्र व्यक्ति को देखा जो पीठ पर पलँग बाँधे खड़ा था और चिल्ला रहा था। उन्होंने पूछा—"कौन हो तुम? क्या चाहते हो?" पहलवान ने रोते हुए अपनी अवस्था बताई। राजा साहब ने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि पलँग खोल दो, प्रातः इस व्यक्ति का मुकद्दमा सुनेंगे। प्रातः वे तीनों ट्रस्टी बुलाये गए। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"हमारा कोई अपराध नही महाराज! आपके नगर मे वह सेठ साहब रहते थे न! मृत्यु के समय उन्होंने अपने सारे धन से एक 'खटमल रक्षा ट्रस्ट' बना दिया था। उनकी आज्ञा थी कि पलँग में जो खटमल रहते है, उन्हे प्रतिदिन मनुष्य का खून देने का प्रबन्ध किया जाय।"

उस सेठ ने दया और दान दोनों का मार्ग अपनाया, परन्तु बुद्धि खराब थी इसलिए दोनों ने दूसरों के लिए कष्ट उत्पन्न किया। निश्चित-रूपेण यह दया ग़लत है, यह दान भी अनुचित है। बुद्धि विकृत होने से दोनों खराब हो गए। इसलिए वेद कहते हैं कि बुद्धि से मँजे हुए, सात्त्विक बुद्धि से सोचे हुए मार्गों पर चलो, उनकी रक्षा

करो। ये मार्ग ज्योति से भरपूर हैं, इनमें अँधेरा नहीं है। केवल बुद्धि किसी काम की नही। यदि यह बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का सहारा लेकर चले तो पाप बन जाती है। हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर जिन लोगों ने ऐटम बम बरसाये उन्हें क्या पता नही था कि इन नगरों में सहस्रों निष्पाप माताएँ भी हैं, उनके सहस्रों बच्चे भी हैं जो माता के सीने से लगे दूध पी रहे है, जिन्हें पता नहीं कि युद्ध क्या है? जापान क्या है, अमेरिका क्या है। अरे ओ हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिरानेवालो! बताओ, उन अबोध बच्चों ने तुम्हारा कौन-सा अपराध किया था? क्यो तुमने उन नन्ही जानो को परमाणु बम की अग्नि में भूनकर रख दिया? क्या यही बुद्धि का मार्ग है? क्या यही वह बुद्धि है जिसपर तुम अभिमान करते हो? धिक्कार है इस बुद्धि पर! रूस हो या अमेरिका, दोनों हो इस रजोगुणी बुद्धि के मार्ग पर चले जाते है जो सदा विनाश की ओर ले जाता है, जो अशान्ति और दुःख को जन्म देता है। आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व श्री कृष्ण ने कहा था—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्?

गीता २।६६॥

जिसकी बुद्धि भगवान् से जुडी हुई नही, जिसके हृदय में प्यार की भावना नहीं, उसके मन मे शान्ति कहाँ से आएगी? और शान्ति न हो तो फिर सुख कहाँ से आयेगा?

अमेरिका, रूस और इसी प्रकार के दूसरे देशों के पास बुद्धि अवश्य है परन्तु भगवान् से जुड़ी हुई नही। भगवान् से जुड़ी हुई, अच्छी सात्त्विक बुद्धि से जो मार्ग निश्चित किया गया, उसकी रक्षा करो, उसपर चलो। अपनी उस संस्कृति की रक्षा करो जिसे विद्वानों, महर्षियों और योगियो ने बहुत अच्छी सात्त्विक बुद्धि से सोच-समझकर तुम्हारे सामने रक्खा है। क्या कहती है यह सस्कृति? यह कि देखो, भगवान् ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ दी हैं। इनका उचित प्रयोग करो, अनुचित प्रयोग मत करो। पाँच की बात से याद आया— काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार, ये भी पाँच हैं। इन्हें बहुत गालियाँ मिलती है परन्तु सोचकर देखो, यदि ये गालियाँ देने, निन्दा

करने की वस्तुएँ होतीं तो प्रभु इन्हें देता क्यो ? भगवान् ने इन्हे उत्पन्न किया, मनुष्य के भले के लिए। इनसे भला होता है उस अवस्था में जब इन्हें ठीक रूप में प्रयोग करो, मर्यादा मे रक्खो, नहीं तो विनाश होता है। अब इस 'काम' को देखो। इसकी मर्यादा को स्थिर रखने के लिए हमारे पूर्वजों ने 'गृहस्थाश्रमर' क्खा। बिना किसी झिझक के उन्होंने कहा—"गृहस्थाश्रम में मर्यादा में रहकर 'काम' उचित है।" एक लड़की है; युवती हो गई। उधर एक लडका है, वह भी जवान हो गया। कन्या के माता-पिता ने वर की खोज की, लड़के के माता-पिता ने कन्या की। एक दिन मिल गए दोनों। बात-चीत हुई। कन्या के गुण, कर्म, स्वभाव को देखा गया। वर के गुण, कर्म, स्वभाव को देखा गया। सगाई हो गई दोनों की। तब विवाह का दिन निश्चित हुआ। लडकेवालों के यहाँ नये कपड़े बनने लगे। बारातियो की सूची तैयार होने लगी। घर में सफ़ाई होने लगी। लड़कीवालो के यहाँ दर्जी बैठ गए। हलवाई बैठ गए। सम्बन्धियों को पत्र लिखे जाने लगे। आभूषण बनने लगे। बारात के स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। निश्चित दिन पर, घोडी पर या मोटर पर फूलो का सेहरा पहने हुए दूल्हा आ गया। बाजे बज रहे हैं, देवियाँ मंगल गीत गा रही है, प्रत्येक चेहरे पर मुस्कराहट और हँसी है। दुल्हन के घर में बिजली की बत्तियाँ जगमगाती है, फूलो-पत्तों के द्वार बने है। शहनाई बज रही है। दूल्हा घोड़ी से उतरकर आगे बढता है। दुल्हन अपने घर के द्वार पर उसे माला पहनाती है, पुरोहित जी दोनों को विवाह-मण्डप में ले जाते है। पवित्र अग्नि प्रदीप्त होती है, पवित्र वेदमन्त्र पढे जाते है। दोनो का विवाह हो जाता है। दूसरे दिन डोली जाती है। केवल अपने ही नहीं, दूसरे भी इस दृश्य को देखकर रो पडते हैं। मै तो कई बार रोया हूँ।

यह है काम की मर्यादा और उसको उचित रूप में प्रयुक्त करना! मर्यादा से बाहर जाना, इस काम को अनुचित रूप में करना क्या है? लडकी जवान हो गई, लड़का भी जवान हो गया। दोनों कही मिले। तब लडका लडकी को भगाकर ले गया। आजकल लड़कियाँ भी यह कार्य करने लगी है। दोनों पहुँचे लक्सर के स्टेशन पर। वहाँ पकड़े

गए, कारागार में बन्द कर दिये गए।

काम वही है। उचित रूप से, सात्विक बुद्धि से निश्चित किए हुए मार्ग पर चलकर वह सुख उत्पन्न करता है; उल्टे प्रयोग से दुःख उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार लोभ, मोह, अहकार आदि भी हैं। मर्यादा में रहें तो ठीक, न रहें तो खराब।

और यह क्रोध, यह भी मर्यादा में रहे तो अच्छा, नहीं तो विनाश उत्पन्न करता है। मनुष्य का इससे बड़ा कोई शत्रु है नहीं। मनुष्य में जब यह क्रोध उत्पन्न होता है तो एक आग उसके अन्दर जल उठती है। इस आग से मस्तिष्क के सूक्ष्म तन्तु जल जाते हैं। भगवान् की कृपा यह है कि जलकर वे फिर ठीक हो जाते हैं। परन्तु बार-बार जलें तो मनुष्य को कोढ हो जाता है। कोढ की बीमारी क्रोध के कारण होती है।

युधिष्ठिर पहली बार अपने भाइयों के साथ गुरु के पास पहुँचे तो गुरु ने पहला उपदेश दिया—"क्रोध मत करो।" केवल तीन शब्द कहे और बोले—"कल इसे स्मरण करके आना!"

दूसरे दिन अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव सबने पाठ सुना दिया—"क्रोध मत करो।" परन्तु गुरुजी ने युधिष्ठिर से पूछा तो उत्तर मिला—"मै तो अभी स्मरण नहीं कर पाया गुरुजी!"

गुरुजी क्रुद्ध होकर बोले—"अरे! छोटा-सा-पाठ है, 'क्रोध मत करो' और तू याद नही कर पाया? अच्छा कल स्मरण करके आना!"

तीसरे दिन गुरुजी ने पूछा—"युधिष्ठिर, पाठ स्मरण हो गया?"

युधिष्ठिर ने कहा—"नही गुरुजी! अभी तक स्मरण नहीं हुआ।"

गुरुजी क्रोध के साथ बोले—"कैसा डल-हैडिड (Dull-Headed) है तू! इतनी-सी बात भी स्मरण नहीं कर पाता?"

परन्तु देखिये, यह डल-हैडिड तो मैंने आजकल की भाषा में कह दिया; उस समय यह भाषा नहीं थी। [किसी ने कहा—"यह तो अंग्रेजी है।" स्वामी जी बोले—"हाँ, मैने कहा तो था कि अग्रेजी हमारे दिमागों में घर कर गई है। आज एक बहन बता रही थी कि प्रातःकाल स्त्री-आर्यसमाज के उत्सव मे एक लडकी ने गीत सुनाया—'डैडी और मम्मी में लडाई हो गई।' ये

डैडी और मम्मी प्रत्येक घर में आ घुसे है। माताजी-पिताजी प्यारभरे शब्द हैं; इन्हे कोई नही बोलता। बस, डैडी-मम्मी, मम्मी-डैडी अर्थात् मम्मी डाहडी है—बहुत सख्त है। सब लोग हँस पड़े। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—]

गुरुजी ने क्रुद्ध होकर कहा—"कल यदि याद करके नहीं आया तो तमाचे लगेंगे।"

चौथे दिन गुरुजी ने पूछा—"युधिष्ठिर, अब तो स्मरण हो गया पाठ ?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"जी नही। बहुत यत्न किया परन्तु अभी पूरी तरह कण्ठस्थ नही हुआ।"

गुरुजी ने खींचकर एक तमाचा युधिष्ठिर के मुँह पर दे मारा, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ—धड़ाधड़ निरन्तर मारते जाते थे। उनका मुखमण्डल लाल हो गया। माथे पर पसीना आ गया। श्वास फूल गया। हाथ थक गये। और युधिष्ठिर ज्यूं-का-त्यूं खड़ा रहा—शान्त, हाथ जोड़े हुए। गुरुजी ने पीछे हटकर शान्ति की इस मूर्ति को देखा तो उन्हे सारी बात समझ आई। आगे बढकर युधिष्ठिर को गले लगा लिया। भरे हुए गले से बोले—"तू पास हो गया। युधिष्ठिर, तुझे पाठ स्मरण है—'क्रोध मत कर'; मै फेल हो गया। मुझे ही यह बात भूल गई।"

क्रोध मत कर ! बहुत बडा शत्रु है यह। परन्तु कई बार क्रोध करना भी आवश्यक हो जाता है—मर्यादा मे रहकर उचित क्रोध करना। भारत को स्वतन्त्रता मिली। सब रियासतें भारत मे सम्मिलित हो गई परन्तु हैदराबाद के निज़ाम इसके लिए तैयार नही थे। वायुयान दिल्ली से हैदराबाद और हैदराबाद से दिल्ली जा रहे थे। निजाम महोदय हर बार नई शर्तें लिखकर भेज देते थे। सरदार पटेल ने निश्चय किया कि इस प्रकार काम नही चलेगा। क्रोध के साथ उन्होने आज्ञा दी—"पुलिस ऐक्शन।" मैं उस समय शोलापुर मे था। शोलापुर के डी० ए० वी० कॉलिज मे भारत की सेना की एक टुकड़ी ठहरी हुई थी। डी० ए० वी० कॉलेज के कैप्टन महाजन उनके इनचार्ज थे। भारत की सेना आगे बढी और दो ही दिन मे, अपितु दो घण्टे में

निज़ाम महोदय सीधे हो गये। यह उचित क्रोध है। परन्तु यह क्रोध जब परिवार में आ जाय, पिता पुत्र पर, पुत्र पिता पर, भाई भाई पर, पति पत्नी पर क्रोध करने लगें तो विपत्ति आ जाती है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में क्रोध की चार अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था में पति क्रोध करता है (स्वामीजी ने अपने सामने रक्खी चौकी को पीट डाला। लोग हँस उठे। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—) और बेचारी पत्नी नन्ही है, क्या करे? नई-नई आई है। उसे क्या पता कि विवाह के पश्चात् ऐसा भी होता है? तब पति-पत्नी के जीवन की दूसरी अवस्था आरम्भ होती है। पत्नी क्रोध करती है। ब्याज-दर-ब्याज सारे क्रोध को वापस करती है और बेचारा पति कान ढाँपे भीगी बिल्ली बना हुआ सुनता है। देवी चण्डी का रूप भी धारण कर सकती है, यह इन्हे पता नही था। तब इस जीवन की तीसरी मंजिल आती है। पति भी क्रोध करता है, पत्नी भी क्रोध करती है। दोनों चिल्ला-चिल्लाकर बोलते हैं। मुहल्लेवाले सुनते है, तमाशा देखते है। अन्त में चौथी अवस्था तब आती है जब क्रोध के कारण न पति बोलता है न पत्नी बोलती है। मुहल्लेवाले भी डर के कारण चुप रहते हैं। सन्नाटा छा जाता है जैसे श्मशानभूमि सो गई हो।

ऐसा क्रोध ठीक नही मेरे भाई! क्रोध करना है तो मर्यादा में रह-कर करो। आज प्रातः स्त्री-आर्यसमाज-उत्सव में भाषण देते हुए मैंने नदी की उपमा दी थी। नदी अपने किनारो में रहे तो हम इसमें नहाते है, कपडे धोते है, इसके पानी से खेतों और उद्यानों की सिंचाई करते है। परन्तु यदि इसमे बाढ आ जाय, वह किनारे ही तोड़ दे तो फिर विनाश होता है।

कुछ वर्ष हुए तो यह यमुना-चढ़ आई थी न! बाढ का पानी शाहदरा और कई अन्य भागों में फैल गया था। वहाँ के लोग भागे तो दिल्ली में आ गये। कई लोग आर्यसमाज दीवान हाल में भी ठहरे हुए थे। मै उन्हे देखने के लिए गया। कोई चारपाई पर बैठा था, कोई चटाई पर। सबके मुखमण्डलो पर चिन्ता थी। मैंने कहा, "भाई! तुम तो 'यमुना मय्या की जय' 'यमुना मय्या की जय' पुकारते फिरते थे, अब यमुना मय्या तुम्हारे घर में आई है तो तुम यहाँ भाग आये

हो ?" वे बोले—"यमुना मय्या तो डायन बन गई है।" यह है मर्यादा टूटने का फल ! मर्यादा टूट जाय तो माँ भी डायन बन जाती है। हमारी संस्कृति जिस मर्यादा को स्थापित करती है उसकी रक्षा करो। बुद्धि से, सात्त्विक बुद्धि से मँजे हुए मार्गों पर चलो।

दो मित्र चले जा रहे थे। चलते-चलते सामने एक खुला मैदान आया। एक मित्र ने कहा, "कैसी सुन्दर भूमि है ! यहाँ खेती-बाडी की जाय तो अच्छा अन्न उत्पन्न होगा।" दूसरे ने कहा—"हाँ भाई ! भूमि तो वस्तुत. अच्छी है, मैं यही खेती-बाड़ी करूँगा।" पहला बोला—"तुम भी करना परन्तु मैं अपनी भैंस यहाँ अवश्य चराऊँगा।" दूसरे ने कहा—"वाह ! तुम मेरे खेत में भैंस कैसे चराओगे ? अपने खेत में चराना। मेरे खेत में आई तो मैं लाठियाँ मार-मारके उसकी हड्डियाँ तोड़ दूंगा।" पहले ने क्रुद्ध होकर कहा—"तुम और मेरी भैंस की हड्डियाँ तोडोगे ? तुम्हारी यह हिम्मत ?" दूसरा बोला—"तो तुम अपनी भैंस को सँभालकर क्यों नही रख सकते ?" पहले ने कहा—"भैंस तो भैस है, वह तो चरेगी ही। यदि तुमने उसे हाथ लगाया तो मै तुम्हारा सिर फोड दूंगा।" दूसरा बोला—"बड़ा आया है सिर फोडनेवाला ! मै एक ही लाठी चलाऊँ तो तेरा सिर टुकडे-टुकड़े हो जाय।" बस जी, फिर क्या था ! उठी लाठियाँ, चलने लगी। दोनो के सिर फूट गये। पुलिस आई। दूसरे दिन दोनो घायल अवस्था में कोर्ट में पेश हुए। कोर्ट ने केवल यह सुना कि झगड़ा खेत में भैंस चराने पर हुआ है और खेत अमुक स्थान पर है। मजिस्ट्रेट ने कहा—"यह तो राज्य की भूमि है। तुमने खेती वहाँ पर की, उसका लगान भरो।" तब दोनो बोले—"श्रीमन् ! खेती तो हमने की नही, भूमि तो अभी ज्यूँ-की-त्यूँ पडी है।"

यह है बुद्धि न होने से व्यर्थ का झगडा। इस प्रकार नही। भगवान् ने बुद्धि दी है, उससे काम लो। बुद्धि को सात्त्विक बनाकर आगे बढो, व्यर्थ के झगडे उत्पन्न न करो।

इसके पश्चात् क्या कहता है वेद—

अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥

जो ज्ञानी और कर्मशील हैं उनके श्रेष्ठ कार्यों की रक्षा करो,

अर्थात् उनके पीछे चलो।

कोरा ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञान के बिना किया हुआ कर्म भी निरर्थक है। ज्ञान से और बुद्धि से सोच-विचारकर कर्म कर। कोरा ज्ञान संकट उत्पन्न कर देता है। एक फ़िलॉसफर साहब एक मकान की छत पर गये। देखा कि वहाँ पर गोबर पड़ा है। अब लगे अपनी फिलॉसफी दौडाने—यह गोबर छत पर कैसे आ गया? या तो यह छत पहले भूमि पर होगी, नहीं तो गाय छत पर चढ़ी होगी। परन्तु छत नीचे थी तो ऊपर कैसे चढ आई और गोबर-समेत कैसे आ गई? और यदि गाय ऊपर आई तो कैसे आई? गाय तो सीढियाँ चढ़ नहीं सकती और यहाँ सीढियाँ बहुत हैं। इसी उलझन में कितनी ही देर तक खडे रहे दार्शनिक महोदय। तभी उनकी नौकरानी छत पर आई। उन्हे चिन्ता मे देखकर बोली—"क्या चिन्ता हो गई आपको?" दार्शनिक ने कहा—"यह गोवर है न, इसे देखता हूँ। समझ नहीं आता कि छत नीचे हुई या गाय ऊपर आई। यह गोवर यहाँ कैसे रक्खा गया है?" नौकरानी ने हँसते हुए कहा, "आप कोरे ज्ञानी हैं। छत नीचे हुई न गाय ऊपर आई। यह गोबर तो मै ऊपर उठाकर लाई हूँ उपले बनाने को।"

ऐसा ज्ञान ठीक नही, यह तो कोरा संकट है।

ठीक ज्ञान वह है जो कर्मशील हो, जो बताये कि कर्म, सुकर्म और विकर्म क्या है। ऐसे ज्ञान के बिना कर्म व्यर्थ है और ज्ञान प्राप्त करके उसे जीवन में नही ढाला, उसके अनुसार कर्म नही किया तो मनुष्य उस बैल के समान है जिसकी पीठ पर पुस्तको का बोझ लदा हो।

दो भाई थे, छोटे ने कहा—"भय्या! मै तो तीर्थयात्रा करना चाहता हूँ, चलो हम दोनों तीर्थयात्रा कर आये।"

बड़े ने कहा—"तुम हो आओ। मुझे कुछ आवश्यक कार्य हैं, मैं यहीं भगवान् के नाम का जाप करूँगा।"

छोटा बोला—"तो फिर आज्ञा दो, मै तो चलता हूँ।"

बड़े ने कहा—"अवश्य जाओ और एक काम करो। मेरी यह तूम्बी ले जाओ, इसको भी तीर्थ में स्नान करा देना।"

छोटे ने तूम्बी ली। चल पड़ा। हरिद्वार गया, ऋषिकेश पहुँचा, उत्तर काशी, गंगोत्री, यमुनोत्री, बदरीनाथ, केदारनाथ से होता हुआ

रामेश्वरम्, जगन्नाथपुरी, गया, द्वारका, काशी, मथुरा कितने ही स्थानों के उसने दर्शन किये। प्रत्येक स्थान पर उसने स्नान किया। जहाँ वह नहाता वहाँ तूम्बी को भी नहला देता। वापस आया तो भाई को तूम्बी देते हुए बोला—"लीजिए, इसे तूम्बी को प्रत्येक तीर्थ पर नहला लाया हूँ।" बडे भाई ने तूम्बी ले ली और कहा—"कल खाना मेरे यहाँ खाओ।" छोटा भाई दूसरे दिन भोजन के लिए आया तो बड़े भाई ने तूम्बी का मुँह तोड़कर, उसमें पानी भरकर भोजन के पास रख दिया। छोटे भाई ने देखा कि तूम्बी में पानी है तो समझा कि पीने के लिए रक्खा है। पिया तो मुँह कड़वा हो गया।

तूम्बी का मुँह तोड़ने के पश्चात् उसे अच्छी प्रकार अन्दर से स्वच्छ किया जाता है, कई बार धोना पड़ता है, तब जाकर वह प्रयोग के योग्य बनती है, तब लोग उसे अपने पास रखते है। मै भी रखता हूँ।

छोटे भाई ने थूकते हुए कहा—"अरे-अरे! यह क्या है?"

बड़े भाई ने कहा—"यह तो वही तूम्बी है जिसे तुम साथ ले गए थे।"

छोटे भाई ने कहा—"इसे तो मैंने प्रत्येक तीर्थ पर नहलाया। बहुत अच्छी प्रकार धोकर स्वच्छ किया था?"

बड़े भाई ने कहा—"तुमने बाहर से धोया इसे, अन्दर से नहीं धोया, इसलिए इसकी कडवाहट गई नही।"

बताइये, ऐसी तीर्थयात्रा का क्या लाभ जो अन्दर की मैल को, भीतर की कड़वाहट को दूर न करे?

अरे भाई! अन्दर की कड़वाहट, अन्दर के अँधेरे को दूर करो तब ज्ञान सफल होगा। बाहर से ज्ञानी, अन्दर से 'ओम् तत् सत्'—ऐसे ज्ञान से कुछ होता नही।

हलवा बन रहा है बहुत उत्तम। बहुत अच्छी सुगन्ध आ रही है। कडछी चल रही है उसमें; उसे बाहर निकालकर किसी ने पूछा—"कहो, हलवे का कैसा स्वाद है?" वह बोली—"मैं खा नहीं सकती, मैं तो कड़छी हूँ।"—नहीं, इस प्रकार ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होता है अच्छी प्रकार सोचने-विचारने और जानने से, और सफल होता है कर्म से, इसलिए वेद भगवान् ने कहा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।।

इस संसार में कर्म करता हुआ जी ! कर्म कर, कर्मशील बन ! कर्मयोगी बन और कर्म अच्छी प्रकार सोच-विचारके कर ! उस ज्ञान और उस बुद्धि से कर जो सात्त्विक है । उन लोगों की रक्षा कर, उनके बताये हुए मार्ग पर चल जो इस उत्तम बुद्धि और उत्तम ज्ञान से कर्म के मार्ग पर चलते है ।

समय रह गया थोड़ा, इसलिए शेष बाते छोड़ता हूँ । केवल एक बात सुनिये ! इस वेदमन्त्र ने क्या कहा—

मनुर्भव !

मनुष्य बन ! देखिये वेद का महत्त्व यह है । इसने यह नही कहा कि इस धर्म का या उस धर्म का, इस मत का या उस मत का अनुयायी बन । उसने पूरी शक्ति से कहा—ऐ मानव ! तू मानव बन । परन्तु मनुष्य कौन है ? महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' मे इसे खोलकर बताया । उनके सुन्दर शब्द सुनिये—

"जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड देना ही मुख्य कर्तव्य है ।"

संसार की हानि जिस बात में हो उसे जो मनुष्य करता है वह मनुष्य नही । वह अपने कर्तव्य को भूलता है ।

फिर वे कहते हैं—

"जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य का शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं वे मनुष्य स्वभाव-युक्त नही किन्तु पशुवत् हैं । जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है ।"

तब एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं—

"मनुष्य उसको कहना चाहिए, जो मननशील होकर [illegible] दूसरों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे ।"

यह है मानवता ! इसीलिए महर्षि ने आर्यसमाज के नियमों में कहा—"प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिये, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।"

इस मार्ग पर चले तो मनुष्य मनुष्य है, नहीं तो [illegible]

कोई अन्तर नहीं।

तब अन्तिम बात क्या कहता है यह वेदमन्त्र—

जनया दैव्यं जनम्।

अरे भाई! स्वयं तो मनुष्य बन गया तू, अपने अन्दर मनुष्य के गुण तो धारण कर लिये, अपने-आपको प्रभु का प्यारा बना लिया, परन्तु यदि तेरे पास रहनेवाले लोग मनुष्य नही बने, ईश्वर के भक्त नही बने तो फिर तेरा जीवन निष्फल है।

देखो, मनुष्य ही भक्ति करता है। घोड़ा, गधा, हाथी, ऊँट, बैल, कीड़े-मकौड़े, चीटियाँ, सर्प, बिच्छू आदि भक्ति नही करते। यदि मनुष्य मनुष्य होकर ईश्वर की भक्ति नहीं करता तो उसका जीवन वैसा ही है जैसा हाथी, घोड़े, गधे, बिच्छू और साँप का है। इसलिए स्वयं ईश्वरभक्त बनो तो दूसरों को भी भक्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दो।

और भक्ति क्या है? अपने स्वामी की बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी छल-कपट के आज्ञा का पालन करना, उसकी आज्ञा पर क्रियात्मक रूप मे आचरण करना, प्रभु-नाम स्मरण करना, उसका धन्यवाद करना। यह वायु न होती, यह पानी न होता तो हम कहाँ होते? और यह वायु, जल, अग्नि और इसी प्रकार की अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ भगवान् ने बिना किसी मूल्य के दे दी हैं। यह सूर्य, यह चन्द्रमा, ये निरन्तर बहती हुई नदियाँ, यह धन-धान्य को उपजानेवाली धरती—जो कुछ उसे स्वय अच्छा लगता है वह उसने मनुष्य को दे दिया—ऐसा सोचकर उसका धन्यवाद करना, उसकी स्तुति करना, उसके गुण गाना, उसके निकट जाना, उपासना करना और उसी से प्रार्थना करना—यह भक्ति है।

एक भाई ने अभी-अभी लिखकर पूछा है कि मनुष्य में आत्मबल कैसे उत्पन्न हो सकता है?

इसका सीधा-सा उपाय है भाई! हमें सर्दी लगे, गर्मी की आवश्यकता हो तो अँगीठी या हीटर के पास बैठ जाते है। गर्मी लगे, सर्दी की आवश्यकता हो तो बर्फ के पास बैठने से सर्दी मिल जाती है। किसी रोनेवाले के पास बैठिये तो आपका मन भी उदास होने लगता

है। किसी हँसनेवाले के पास बैठिये तो आप भी हँसना आरम्भ कर देते हैं। किसी वस्तु की कमी अनुभव हो तो उसके पास जाओ जिसके पास वह विद्यमान है। आत्मबल की आवश्यकता हो, अपने अन्दर कमी या दुर्बलता अनुभव हो तो उस परमात्मा के पास जाओ। वह सुख, शान्ति, शक्ति और आत्मिक शक्ति का ऐसा भण्डार है जो कभी समाप्त नही होता। उसके साथ अपने-आपको जोड़ो, आत्मबल स्वयं जाग उठेगा। वह सबसे बडा पॉवर-हाउस (शक्ति का केन्द्र) है। उसके साथ अपना तार जोड़ लो, आत्मा में प्रकाश आ जायेगा। मन की वत्तियाँ जगमगा उठेंगी।

मैं आर्यसमाज हनुमान रोड में ठहरा हुआ था। प्रति साय कथा करता था। एक दिन प्रातःकाल कोई साढ़े नौ बजे हैट, सूट, बूट पहने हुए एक नौजवान सज्जन मेरे पास आये; बोले—"आप ही कल आत्म-दर्शन के सम्बन्ध मे कथा कर रहे थे?" मैने कहा—"हाँ, भाई! मै ही कर रहा था।" वह बोले—"तो मुझे भी आत्मदर्शन का मार्ग बता दीजिये!" मैंने कहा—"आप बैठिये, अभी बात करता हूँ।" वे खड़े-ही-खड़े बोले—"मेरे पास समय नहीं है, देर हो रही है, दफ्तर पहुँचना है, आप जल्दी बता दीजिये।" मैंने हँसते हुए कहा—"इतनी जल्दी कैसे बताऊँगा? इसमें तो काफी समय लगेगा।" वे बोले—"देखिये, यह विज्ञान का युग है। वैज्ञानिकों ने ऐसे-ऐसे कमाल किये हैं कि एक बटन को दबाओ तो बत्ती जल उठती है। आपने कोई ऐसा जल्दी का और सरल मार्ग नही निकाला?" मैंने कहा—"देखिये, बटन दबाने से विद्युत् का प्रकाश होता है अवश्य, परन्तु आपको पता है कि क्यों होता है? इसलिए कि उस बत्ती से लेकर दिल्ली के पॉवर-हाउस तक और वहाँ से भाखडा के नीचे बने नंगल के बिजलीघर तक एक तार जुडा है। इस तार को काट दीजिये तो बत्ती जलेगी नहीं। आप भी पॉवर-हाउसों के पॉवर-हाउस—उस प्रभु से अपने मन का तार जोड़ लीजिये। मैं बटन दबाऊँगा, आपके मन में प्रकाश जाग उठेगा। आत्मदर्शन हो जायेंगे। परन्तु आप उस तार को जोड़ें नहीं, उसे तोड़कर बैठे रहें और मै बटन ही दबाता रहूँगा तो होगा क्या?"

इस प्रकार नहीं मेरे भाई! आत्मबल की आवश्यकता है तो अपने

मन के तार को उस प्रभु से जोड़ो जिससे बड़ी दूसरी कोई शक्ति नहीं। परन्तु मन के तार को कैसे जोड़ा जाता है? आत्मबल क्या है? कैसे यह प्राप्त होता है?—यह मैं कल आर्यसमाज अनारकली (रीडिंग रोड) के उत्सवों मे बताना आरम्भ करूँगा। यहाँ इन नौ दिनों में केवल यह बताया कि शारीरिक और सामाजिक रूप से मानव, मानव कैसे बनता है? उसमे सच्ची मानवता कैसे आती है? कल से यह बताऊँगा कि आत्मिक रूप से मानव, मानव कैसे बनता है। पूरा मानव तब बनेगा, अभी तो अधूरा बना है। इसलिए महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में कहा—"संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

यहाँ मैने शरीर और समाज की बात कही। रीडिंग रोड के आर्य-समाज अनारकली में आत्मा की बात कहूँगा।

परन्तु देखिये, इन आठ-नौ दिनो में एक शीशा मैंने आपके समक्ष रक्खा, एक कसौटी रक्खी जिसपर परखकर आप अपने को देख सकते है। इस शीशे में झाँककर, इस कसौटी पर अपने को परखकर आप स्वयं देखिये कि आप मनुष्य है या नहीं। एक कथा है, एक काल्पनिक कहानी, आप भी सुनिये—

ससार बना तो भगवान् का दरबार लगा। सब प्राणी, मनुष्य, पशु, पक्षी वहाँ विद्यमान थे। बहुत भीड़ थी। भगवान् आयु बाँट रहे थे। भीड़ थी अधिक, इसलिए मनुष्य एक ओर हटकर बैठ गया। भगवान् सबको आयु बाँट चुके, भीड़ समाप्त हुई तो मनुष्य उनके पास पहुँचा। उस समय दूसरे सब चले गए थे। एक बैल, एक कुत्ता और एक उल्लू भगवान् के पास खड़े थे। मनुष्य ने कहा—"महाराज, मेरी आयु?" भगवान् ने कहा—"अरे, तू अब आया है? मै तो सारी आयु बाँट चुका। परन्तु ठहर, देखता हूँ कुछ शेष है या नही।" और झोले में हाथ डालकर उन्होंने बची-खुची आयु बाहर निकाली—केवल पच्चीस वर्ष। बोले—"लो, यह तुम्हारी आयु है।" मनुष्य ने कहा—"यह तो केवल पच्चीस वर्ष है, इससे क्या होगा?" पास खड़े बैल ने कहा—"महाराज! आपने मुझे काफी आयु दे दी परन्तु यह तो बताया नही कि करना क्या होगा?" भगवान् बोले—"तुझे "

तुझे बोझ ढोना होगा, वज़न उठाना होगा, इसी मे तेरी ग्रायु बीतेगी।" बैल ने पूछा—"ग्रौर खाने को क्या मिलेगा ?" भगवान् बोले—"भूसा, तूडी, कभी-कभी कुछ घास भी।" बैल ने कहा—"तब तो यह ग्रायु वहुत ग्रधिक है महाराज ! यह मनुष्य माँगता है, मेरी ग्रायु के पच्चीस वर्ष काटकर इसे दे दीजियें।" भगवान् ने ऐसा ही किया। मनुष्य से पूछा—"ग्रब ठीक है ?" मनुष्य ने कहा—"पच्चीस ग्रौर पच्चीस पचास तो हुए महाराज ! परन्तु पचास वर्ष क्या होते है ?" उसके पास खड़े कुत्ते ने पूछा—"मुझे भी ग्रापने नहीं बताया कि मुझे क्या करना होगा ग्रौर खाना क्या मिलेगा ?" भगवान् बोले—"तुझे जीवन-भर स्वामिभक्ति के साथ चौकीदारी करनी होगी, हर समय जागते रहना होगा। सोना भी होगा तो जागते हुए की भाँति सोना होगा ग्रौर खाने को मिलेगा कभी-कभी रोटी का एक बासी टुकड़ा। कभी किसी के जी में ग्राया तो प्यार से खिला देगा। कभी किसी ने क्रोध के साथ कहा तो कहेगा—ले डब्बू, परे हट के मर !" कुत्ते ने कहा—"महाराज ! तब ग्रापने मुझे इतनी लम्बी ग्रायु किसलिए दे दी ? यह मनुष्य माँगता है, ग्राप मेरी ग्रायु के पच्चीस वर्ष काटकर इसे दे दीजिये।" भगवान् ने ऐसा ही किया ग्रौर मनुष्य से पूछा—"ग्रब तो प्रसन्न है ?" मनुष्य ने कहा—"पचहत्तर वर्ष ग्रायु तो पर्याप्त होती है महाराज ! परन्तु कुछ ग्रौर मिल जाय तो कृपा होगी।" भगवान् के पास खड़े उल्लू ने पूछा—"महाराज ! ग्रापने बैल को बताया, कुत्ते को भी वताया, मुझे नही वताया कि मुझे क्या करना होगा ?" भगवान् बोले—"तुझे यह करना होगा कि रात मे सोना नहीं, दिन में वाहर नही निकलना।" उल्लू ने पूछा—"तब करूँगा क्या ?" भगवान् बोले—"यह कि रातभर किसी उजाड़ खण्डहर मे ग्रथवा किसी सूखे वृक्ष पर बैठकर चीखें मारनी होंगी।" उल्लू ने कहा—"तब तो यह ग्रायु बहुत ग्रधिक है महाराज ! मेरी ग्रायु पच्चीस वर्ष काटकर इस मनुष्य को दे दीजिये।" भगवान् ने ऐसा ही किया। मनुष्य को सौ वर्ष की ग्रायु मिल गई।

ग्रब लो जी, ग्रायु का हो गया निर्णय। बच्चा उत्पन्न हुग्रा, मनुष्य का बच्चा। सब लोग प्रसन्न हैं, कोई उसे चूमता है, कोई दुलारता है,

कोई अपनी गोद में उठाता है। कभी दादी, कभी दादा, कभी मौसी, कभी बुआ, कभी बहन, कभी चाचा, कभी मामा, कभी मम्मी, कभी डैडी की गोदियों में वह खेलता है। भूमि पर पाँव रखने की भी उसे आवश्यकता नहीं। अपनी नींद सोता है, अपनी इच्छा से जागता है। सब उसकी प्रसन्नता चाहते हैं, उसे किसी की प्रसन्नता से कोई प्रयोजन नहीं। तनिक बड़ा हुआ तो उसने कहा—"मैं इंग्लैण्ड पढ़ने जाऊँगा। अथवा मैं कान्वेण्ट में पढ़ूँगा।" माता-पिता ने कहा—"हाँ-हाँ, अवश्य पढ़ो।" सब-का-सब लाड उसके लिए है, चाव उसके लिए है। यह है मनुष्य की अपनी आयु। खूब आनन्द से रहता है। हो गया पच्चीस वर्ष का। मनुष्य की आयु समाप्त हो गई। अब बैल के पच्चीस वर्ष आरम्भ हुए। पिता ने कहा—"पुत्र! अब तू बड़ा हो गया। काम शुरू कर।" बेटे ने कहा—"करूँगा पिताजी!" पिताजी ने कहा—"विवाह भी करना होगा।" पुत्र ने कहा—"वह भी करूँगा डैडी!" अब हो गया काम शुरू। प्रातः कार्यालय में जाता है अथवा दुकान पर जाता है, रात गये तक इन्कमटैक्स और सेल्सटैक्स के रजिस्टर भरता है। कार्यालय में काम अधिक हो तो फाइलें घर ले आता है और घर में पहुँचते ही धर्मपत्नी कहती है—"बाहर ही रहते हो, कुछ घर की भी चिन्ता है? मुन्नी की चुन्नी फट गई है। सीटू की स्लेट टूट गई है। पप्पू का पाजामा फट गया है। बेबी की बोतल टूट गई है।" वह बोलता है—"घबराती क्यों हो भागवान, अभी सब-कुछ करता हूँ। आओ भई मेरे साथ। सब लोग आओ।" और बाजार में पहुँचकर वह सबके लिए वस्तुएँ खरीदता है। घर के लिए आटा, सब्जी, दाल, तेल, साबुन, नमक, मिर्च, और उठाता है बोझा, चल पड़ता है घर को।

ढोता रह बच्चू! ढोता रह! यह बैल का जीवन है। इसमें बोझ ढोने के सिवाय कोई चारा नहीं।

बोझ ढोते-ढोते हो गया पचास वर्ष का। विचार आया कि बच्चे बड़े हो गये। इन्हें काम सँभाल देना चाहिये। दे दिया उन्हें काम, परन्तु विश्वास है नहीं। दुकानदार है तो बेटा अन्दर गद्दी पर बैठा है, यह बाहर कुर्सी पर बैठकर हुक्का या सिगरेट पी रहे हैं; देख रहे हैं कि बेटा कहीं कोई ग़लती तो नहीं करता? कोई ग्राहक बेईमानी या

चोरी तो नहीं करता ? दफ्तर से अवकाश प्राप्त किया है तो मकान के द्वार पर बैठा रहता है कि कहीं कोई चोर न आ जाय, ठग न आ जाय, बच्चों को बहका न दे। उन्हें बुरी बातें न सिखा दे। यह है कुत्ते का जीवन। स्वामिभक्ति के साथ चौकीदारी। कभी पोते का नाला बाँध दिया, कभी पोती की नाक साफ कर दी। वह यदि अच्छी है तो आराम से भोजन दे देती है, तीव्र स्वभाव की है तो क्रोध के साथ कहती है—"कैसी आपत्ति है जान के लिए ! न कमाता है न मरता है !"

तब हो गये पचहत्तर वर्ष। मुँह में दाँत नहीं, आँखों में ज्योति नहीं, पाँव चलते नहीं, कमर में बल नहीं। कभी यहाँ दर्द, कभी वहाँ दर्द। दमा हो गया है बहुत, हर समय धौंकनी चलती है। हर समय खाँसी होती है। उल्लू की आयु आ गई है न, रातभर स्वयं सोता है न दूसरों को सोने देता है। घरवाले कहते है इसे यह दवाई दो, वह दवाई दो परन्तु नींद आयेगी कैसे ? यह तो उल्लू की आयु है और उल्लू को नींद आनी नहीं।

यह है साधारण मनुष्य का जीवन। परन्तु इसको बदलना आपके वश में है। कैसे बदलना है ? यह मैंने आपको बताया। एक शीशा मैंने आपके सम्मुख रक्खा, उसमें झाँककर देखिये कि किस प्रकार का जीवन आप बिता रहे है।

और अब देखिये, इतने दिन आपकी सेवा की। इन दिनों में कोई कड़वी बात कह दी हो, कोई गलती कर दी हो तो क्षमा कर देना। मैं भी मनुष्य हूँ। आप सब मुझसे बड़े हैं, मैं तो केवल तेरह वर्ष का हूँ। पहली सितम्बर १९४९ के दिन मैंने संन्यास लिया। तब आनन्द-स्वामी का जन्म हुआ। तब से आज तक केवल तेरह वर्ष हुए। तेरह वर्ष का बालक कोई अनुचित बात कह दे तो उसे क्षमा कर देना चाहिए।

ओ३म् शम् !

दसवाँ दिन

ओम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।।

ओ ३ ३ ३ म्...

मेरी प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

पिछले दिनों मैंने आर्यसमाज हनुमान रोड के उत्सव में एक कथा की, जिसका शीर्षक था 'मानव और मानवता'। मनुष्य किस प्रकार मनुष्य बने ? उसके मनुष्य बनने की योजना क्या है ? इस सम्बन्ध में मैं बोलता रहा। यह शरीर उत्तम कैसे बने ? मनुष्य की बुद्धि, मनुष्य का मन उत्तम कैसे बने ? यह सब-कुछ मैंने पिछले दिनों बताया। परन्तु यह सब बताने के पश्चात् भी मनुष्य का पूरा चित्र तो मैं प्रस्तुत नहीं कर सका। मनुष्य केवल शरीर, मन और बुद्धि ही नहीं, कुछ और भी है। इसलिए आर्यसमाज हनुमान रोड के उत्सव में कथा करते हुए अन्तिम दिन मैंने कहा कि मनुष्य का अधूरा रूप मैंने आपके समक्ष रक्खा है, इस रूप का दूसरा भाग—पूर्ण मनुष्य का चित्र आर्यसमाज अनारकली रीडिंग रोड की कथा में प्रस्तुत करूँगा।

इस कथा को आरम्भ किये बहुत दिन हुए नहीं, परन्तु इन कुछ ही दिनों में एक बहुत बड़ी, बहुत भयानक बात हुई है। एक भाई छुरा लेकर दूसरे भाई के सीने पर चढ़ बैठा। कुछ वर्ष हुए चीन के प्रधान-मन्त्री मिस्टर चाऊ-एन-लाई भारत में आये थे। उस समय हमने 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा लगाकर उनका स्वागत किया था। उन्होंने भी 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' कहकर उस स्वागत का उत्तर दिया। परन्तु पिछले दिनों इस भाई ने ही बिना किसी घोषणा के हमारे देश पर आक्रमण कर दिया। हमने समझा, चीन हमारा मित्र और भाई है, हमसे विश्वासघात नहीं करेगा, परन्तु उसने केवल हमी से नहीं, मैत्री भावना से, शान्ति-भावना से और सौजन्य की भावना से भी विश्वास-घात किया। परन्तु इस आक्रमण के पश्चात् हमारे देश में जो कुछ हुआ, उसे देखते हुए मैं समझता हूँ कि यह भी भगवान् की महान् कृपा है। हमें तो चीनवालों का धन्यवाद करना चाहिए कि उन्होंने हमें प्रगाढ़

निद्रा से जगा दिया। स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् हम लोग देशभक्ति को भूलते जा रहे थे। हर ओर मायावाद आरम्भ हो गया था। हर ओर स्वार्थ जाग उठा था और इतना तुच्छ स्वार्थ कि अपने अतिरिक्त कुछ है नही। अपने कर्तव्य को भूलकर हम पतन की ओर बढ़े जाते थे। हमें चीनवालों का धन्यवाद करना चाहिए कि उन्होने कसकर एक चपत हमारे मुँह पर मारी और हमें उस मनहूस निद्रा से जाग्रत कर दिया। महर्षि दयानन्द जी ने 'सत्यार्थप्रकाश' में आर्यवर्त में विदेशियो का राज्य होने के कारण लिखते हुए कहा—"सबसे बड़ा कारण है इस देश के लोगो की आपसी फूट।" और हमने स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् सबसे अधिक इस फूट को ही उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। भाषाओं के नाम पर, प्रान्तों के नाम पर हमने इस देश को इस प्रकार बाँटना आरम्भ कर दिया जैसे इसके टुकड़े-टुकडे कर देना ही धर्म है। भाषा के प्रश्न ने भारत की इतनी हानि की है जितनी कदाचित् अन्य किसी बात ने नही की। सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन ने कहा था कि इस देश मे चार या पाँच 'जोन' बना दो, शेष सभी प्रान्त समाप्त कर दो। यदि ऐसा हो जाता तो भाषाओ का झगड़ा स्वयमेव समाप्त हो जाता; परन्तु ऐसा किया नहीं गया। भाषा के आधार पर प्रान्त बने। फिर प्रान्तों की सीमाएँ निर्धारित करने पर झगडे हुए। लोग यही भूल गये कि वे भारतवासी हैं। कुछ वर्ष पूर्व जब बम्बई का झगडा चल रहा था, तब गुजरातवाले कहते थे कि बम्बई को गुजरात में सम्मिलित होना चाहिये, महाराष्ट्र-वाले कहते थे कि यह महाराष्ट्र का भाग है। जब बम्बई मे दगे हो रहे थे, कत्ल हो रहे थे, दुकानें जलाई जा रही थीं, आस्ट्रेलिया के एक सज्जन बम्बई के एक होटल में ठहरे थे। नीचे सडक पर लोग लड रहे थे। उन सज्जन के सुपुत्र ने पूछा, "पिताजी! ये भारतवासी परस्पर क्यों लड रहे है?" पिता ने उत्तर दिया—"पुत्र! ये मराठे है या गुजराती है, इनमे भारतवासी कोई नही।" ऐसी अवस्था हमने उत्पन्न कर दी। इतनी पार्टियाँ इस देश में उत्पन्न हो गई कि उनकी गणना करना कठिन होता जा रहा है। जैसे वर्षा में मेंढक जाग उठते है, वैसे ही इस देश में पार्टियाँ जाग उठती है। सबकी अपनी-अपनी

डफली और अपना-अपना राग। हर ओर फूट, हर ओर तुच्छ स्वार्थ, इसकी चिकित्सा होनी चाहिए थी न? बस, चीनवालो ने की यह चिकित्सा। अब सब पार्टियाँ एक हो रही हैं, एक आवाज से बोल रही है। भला हो भगवान् का और चीनवालों का, उन्होने हमें निद्रा से जगा दिया। कल देश-भर की आर्य संस्थाओं का एक महा-सम्मेलन दिल्ली मे हुआ, जिसके प्रधान हमारे श्री मेहरचन्द जी महाजन चीफ़ जस्टिस थे। इस सम्मेलन मे महाजन जी ने बताया कि आर्यसमाज की एक सहस्र से अधिक शिक्षा-सस्थाएँ देश-भर में है, जिनमे तीन लाख से अधिक युवक शिक्षा पाते है। महाजन जी ने बताया कि ये तीन लाख युवक भारत की रक्षा के लिए हर समय तैयार हैं, शासन जब भी चाहे इन्हें बुला ले।

परन्तु प्रश्न यह है कि चीनवालों ने हमारे साथ विश्वासघात क्यों किया? इसका कारण क्या है? मैं समझता हूँ कि इसका कारण हम है। हम कभी चीनवालो के पास गये ही नहीं। कभी उन्हे बताया ही नही कि मनुष्य क्या है? आज से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध इस देश में हुए। उनका संदेश लेकर अशोक के भेजे हुए आर्य लोग चीन मे पहुँचे। सारे चीन ने, जापान ने, कोरिया ने, वियतनाम, थाईलैंड, लाओस, कम्बोडिया और कई दूसरे देशों ने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् हम गये ही नहीं। हमने कभी उन्हे बताया ही नहीं कि धर्म क्या होता है, मनुष्य वस्तुतः कैसे बनता है। और अब अवस्था यह है कि वे आत्मा और परमात्मा को भूल गये हैं, उसे मानते ही नहीं। खाने-पीने का प्रभाव मनुष्य के मन पर होता है—यह भी नही मानते। इस विषय मे इतना कमाल उन्होने किया है कि देखकर बुद्धि चकित रह जाती है। कलकत्ता मे एक चीनी बाजार है। कभी वहाँ जाइये तो चहुँ ओर भाँति-भाँति की सुगन्ध मिलती है, ऐसी सुगन्ध कि मस्तिष्क फटने लगे। बर्मा में भी चीनी बाज़ार है। मैं जब वहाँ था तो एक दिन लाशो के चीनी बाजार में गया। लाशो आर्य-समाज के मन्त्रीजी मेरे साथ थे। उस बाजार में देखा कि एक देवीजी दुकान लगाये बैठी है। अपने समक्ष रक्खी वस्तुएँ बेच भी रही है, स्वयं खा भी रही हैं। जैसे हम मूँगफली छील-छीलकर खाते हैं, इसी

प्रकार वह भी छील-छीलकर खा रही थीं। मैंने मन्त्रीजी से पूछा तो उन्होंने बताया कि जंगल में झींगुर नाम का जो कीड़ा होता है, उसे खा रही है वह। इन कीड़ों को पकड़कर भून लेते है, फिर उनके पर तोड़-तोड़कर खाते है। और यही क्यों? ये चीनी भाई छिपकलियाँ खा जाते है, साँप खा जाते हैं, मेंढक खा जाते है। इनका सबसे मूल्यवान् और उनके विचार में सबसे स्वादिष्ट खाना है दीमक। इसका भोजन बनाकर वे खाते हैं। पाखाने के कीड़े निकालकर उनकी भी सब्जी बना लेते हैं। अब बताइये, जो लोग ऐसी वस्तुएँ खायेंगे, उनमें मानवता आयेगी कहाँ से? एक ओर दूषित अन्न, दूसरी ओर विचारों की खराबी। दोनों ने उन्हें यह सिखाया कि जिसको भाई कहा था उसी की पीठ में छुरा घोंप दो।

मनुष्य का रंग-रूप पा लेना सरल है, मनुष्य बनना कठिन है। मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना हमारे देश के पास थी। हमने स्वयं भी उसे भुला दिया, दूसरों को बताया नहीं। इसका परिणाम है संसार-भर में व्याप्त यह अशान्ति, युद्ध, आक्रमण, विश्वासघात। वेद ने जब कहा कि मनुष्य को मनुष्य बनना चाहिए तो यह नहीं कहा कि अमुक देश, जाति या सम्प्रदाय के लोगों को मनुष्य बनना चाहिए। स्पष्ट रूप में वेद ने कहा—"मनुष्य की कोई जाति और सम्प्रदाय नहीं। संसार-भर के मनुष्य एक हैं।" वेद ने घोषणापूर्वक कहा—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

—ऋ० १०।६०।५॥

ऐ संसार के मनुष्यो! तुममें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। तुम सब भाई-भाई हो। परन्तु भाई-भाई हो तो किसलिए? इसलिए कि परस्पर मिलकर एक-दूसरे की सहायता करते हुए सौभाग्य की ओर, सुख और शान्ति की ओर बढ़ो। वैदिक विचार के अनुसार कोई भी देश किसी दूसरे देश को दुःखी बनाकर, उसपर अत्याचार करके, उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध जंजीरों में जकड़कर स्वयं सुखी नहीं रह सकता। संसार में देश बहुत है परन्तु यह सारा ससार एक है। यह भगवान् का विराट् रूप है—इसका विशाल शरीर। शरीर में आँखें भी होती हैं, कान, नाक, हाथ, पाँव, सिर, टाँगें, बाहु और दूसरे अंग

भी। परन्तु किसी एक भी अग में दर्द हो, एक छोटी-सी अँगुली में, इसके नाखुन में भी दर्द हो तो शरीर चैन से नहीं रह सकता। इस संसार का कोई भी देश दु:खी हो तो शेप संसार सुख से नही बैठ सकता। इसलिए वेद ने यह आदर्श समार-भर के मनुष्यो के समक्ष रक्खा कि तुम सब मनुष्य हो। तुम्हारी जाति मानवता है, तुम्हारा देश यह सम्पूर्ण विश्व है। व्यवस्था के लिए तुमने छोटे-छोटे भाग बना लिये तो ठीक, अपने-अपने भाग का प्रवन्ध किया तो वह भी ठीक, परन्तु मत भूलो कि तुम सबसे पहले मनुष्य हो। एक विशाल शरीर के अग हो। यदि किसी भी अग में कष्ट होगा तो शरीर सुखी नही रहेगा।

जब से मनुष्य इस बात को भूला है, तब से संसार मे बार-बार युद्ध हुए है; अपने स्वार्थ के लिए बार-बार यत्न हुए है। विज्ञान के आविष्कार भी हुए है परन्तु मनुष्य को सुख और शान्ति कही मिली नही। यह शान्ति मिलेगी उस समय जब मनुष्य सच्चे अर्थो में मानवता को अपना लेगा।

ऐसा किस प्रकार हो सकता है, इस सम्बन्ध में मैने कुछ बातें आर्यसमाज हनुमान रोड में कथा करते हुए कहीं, कुछ अब आपके समक्ष रक्खूँगा।

मनुष्य क्या है? एक तो यह शरीर जो अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश से बना है। दूसरे वह 'आत्मतत्त्व'—वह 'चेतनतत्त्व', जिसके कारण यह जीवित है, कार्य करता है।

मैं यदि किसी से पूछूँ कि "मै कौन हूँ" तो निश्चितरूपेण वह पहले हँसेगा कि यह विचित्र मनुष्य है! इसे यही पता नहीं कि यह कौन है! अपना नाम ही भूल गया है!

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है, मनुष्य अपना नाम ही भूल जाता है। हमारे रणवीर जी हैं न! वे बी० ए० में पढते थे। परीक्षा का समय आया तो प्रवेश-फ़ॉर्म में पजाब विश्वविद्यालय का रजिस्ट्रेशन-नम्बर लिखना था। रणवीर को वह स्मरण नही था। इसे पूछने के लिए वह विश्वविद्यालय के कार्यालय में गया तो इसके जैसे कई और भुलक्कड़ भी वहाँ थे। अपना नाम वे बताते थे, किस वर्ष में मैट्रिक

की परीक्षा पास की, किस स्कूल से परीक्षा दी—ये तीनों बातें वे बताते और विश्वविद्यालय का क्लर्क उन्हे उनका रजिस्ट्रेशन-नम्बर बता देता। रणवीर को हिसाब बहुत आता नहीं। उसे तो यह स्मरण था कि डी० ए० वी० स्कूल लाहौर से उसने परीक्षा दी थी। सन् विस्मृत हो रहा था। प्रयत्न करके सन् स्मरण किया। भूल न जाए इसलिए उसे दोहराता रहा। क्लर्क की खिडकी के पास गया तो क्लर्क ने उससे आगे खडे विद्यार्थी से पूछा, "सन् ?" विद्यार्थी ने सन् बताया। क्लर्क ने पूछा, "स्कूल ?" विद्यार्थी ने स्कूल बता दिया। क्लर्क ने पूछा, "नाम ?" उस विद्यार्थी ने नाम भी बता दिया। उसने जो बताया नाम, तो रणवीर को चिन्ता हुई कि मेरा नाम क्या है ? सन् स्मरण करते-करते अपना नाम ही भूल गया था। बहुत प्रयत्न किया, नाम ही स्मरण नही आया। अब वहाँ खड़े रहने का लाभ क्या था ? नाम के बिना तो रजिस्ट्रेशन-नम्बर का पता लगता नही। घबराकर वह खिड़की से परे हट आया। वापस डी० ए० वी० कॉलेज की ओर चल दिया। तभी उसके प्रोफैसर महोदय सामने से आते हुए मिले। उन्होने कहा—"सुनाओ रणवीर ! किधर जा रहे हो ?" और रणवीर ने जल्दी मे कहा—"काम हो गया साहब ! स्मरण आ गया। मेरा नाम रणवीर है।" और प्रोफैसर महोदय की शेष बात सुने बिना वह विश्वविद्यालय की ओर भागा, मन में 'रणवीर, रणवीर' कहता हुआ कि कहीं अपना नाम पुन. न भूल जाय।

तो कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लोग अपना नाम ही भूल जाते है।

मै जो किसी से पूछूं कि मैं कौन हूँ तो वह समझेगा कि आनन्द-स्वामी भी अपना नाम भूल गया है। वह कहेगा—"तुम आनन्द स्वामी हो, पहले खुशहालचन्द थे।"

परन्तु आनन्द स्वामी कौन है ? यह सिर क्या है ? आप कहेंगे, "यह आनन्द स्वामी का सिर है।" यह हाथ क्या है ? आप कहेंगे, "यह आनन्द स्वामी का हाथ है।" ये कान ? "आनन्द स्वामी के कान है।" यह नाक ? "आनन्द स्वामी की नाक है।" यह छाती ? "आनन्द स्वामी की छाती है।" इस प्रकार दूसरे अंग आनन्द स्वामी

के अंग है। परन्तु आनन्द स्वामी कहाँ है? आप कहेंगे—"यह सारा शरीर आनन्द स्वामी है।" परन्तु यह तो आनन्द स्वामी का शरीर है। जिसका यह शरीर है, जो इससे काम लेता है, वह कहाँ है?

वह आत्मा जो इस शरीर के द्वारा कार्य करता है वह चला जाय तो लोग शरीर को उठाकर फेंक देते है। आत्मा के बिना शरीर किसी काम का नही, कुछ भी कर नही सकता, लाश बन जाता है और शरीर के बिना यह आत्मा भी कुछ कर नही सकता। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियम बनाये और लिखा कि आर्यसमाज को संसार की उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए तो सबसे पूर्व शारीरिक उन्नति लिखा, फिर सामाजिक, तब आत्मिक। ये सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी सब-कुछ जो हम अनुभव करते हैं, वह शरीर के कारण करते हैं। शरीर न हो तो आत्मा कुछ भी करेगा नही, और आत्मा न हो तो शरीर भी कुछ कर नही सकता। दोनों परस्पर मिले तब अनुभूतियाँ होती है, सारे कार्य होते है। दोनों मे कोई भी अकेला हो तो व्यर्थ है। आप कहेंगे, नही साहब! यह शरीर खाता है, पीता है, सूँघता है; परन्तु शरीर नही खाता, आत्मा खाता है, आत्मा पीता है, आत्मा सूँघता है, देखता है, सुनता है। आत्मा निकल जाय तो इस शरीर के मुँह मे लड्डू डालो, रसगुल्ले डालो, गोलगप्पे डालो, क्या यह खायेगा? नही मेरे भाई, खानेवाला निकल गया। अब यह केवल लाश है, आत्मा निकल गया।

तब प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा ही खाता, पीता, सूँघता, सुनता और देखता है तो इस शरीर की आवश्यकता क्या है? सुनो! आवश्यकता इसलिए है कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। ये सब वस्तुएँ जो खाई जाती है, पी जाती हैं, देखी, सुनी, सूंघी या छुई जाती है ये सब-की-सब स्थूल है। इन स्थूल वस्तुओ की आत्मा को अनुभूति होती है तो स्थूल शरीर के द्वारा। इसका सहारा लेकर वह सब-कुछ करता है, इसके बिना कुछ कर नही सकता। ये सब-की-सब वस्तुएँ प्रकृति के बदले हुए रूप है। प्रकृति जड़ है, जड़ को खाने, पीने, देखने, सुनने और छूने के लिए इस जड़ शरीर की आवश्यकता है। आत्मा जड नही, इसलिए वह इन जड़ वस्तुओं के साथ सम्बन्ध बनाने के लिए

जड़ शरीर की सहायता लेता है।

यह आत्मा ही 'मैं' है जिसे संसार खोजता फिरता है।

कार्लाइल ने अपनी एक पुस्तक में कहा है—"मैं क्या हूँ—इस उलझन को सुलझाने में मनुष्य ने इतना समय नष्ट किया है जितना और किसी बात में नही। इसकी बजाय यदि वह सोचता कि मेरा कर्तव्य क्या है तो शायद वह किसी मंज़िल पर पहुँच जाता।"

परन्तु यह तो कार्लाइल का विचार है। जिसका कर्तव्य हम निश्चित करना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध मे ही यह पता न हो कि वह कौन है, क्या है तो कर्तव्य का निश्चय कैसे होगा? मेरा कर्तव्य क्या है? यह सोचने से पूर्व पता लगाना होगा कि मैं क्या हूँ। जबतक यह पता न लगे तबतक कोई कर्तव्य निश्चित नही हो सकता, कोई योजना नही बन सकती, कोई प्लानिंग सम्भव नहीं। आप योजना बनाना चाहते है एक देश के सम्बन्ध में, इस देश का आपको पता ही नही तो योजना क्या बनायेंगे? यदि यह जानना है कि मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है और मनुष्य को मनुष्य कैसे बनाया जा सकता है तो सबसे पूर्व यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य क्या है।

और न केवल आज अपितु आज से पहले भी जितनी धार्मिक या राजनैतिक पार्टियाँ उत्पन्न हुईं, उन्होने अनेक बार यह तो बताया कि मनुष्य का कर्तव्य क्या है, प्रत्येक ने उसके अलग-अलग कर्तव्य बताये, परन्तु यह नहीं बताया कि मनुष्य क्या है और मनुष्य को मनुष्य कैसे बनना है। हमारी सरकार बड़े-बड़े 'डैम' बनाती है, बड़े-बड़े कारखाने और विद्युत्घर बनाती है, नहरे बनाती है, ताकि मनुष्य को खाना मिल सके। कपड़े की मिले बनाती है, ताकि मनुष्य को कपडा मिल सके। यह सब ठीक है, बहुत आवश्यक है, मैं इसका विरोध नहीं करता। परन्तु यदि मनुष्य ही मनुष्य न बने तो यह सब-कुछ किसके लिए है? कारखाने आवश्यक है, विद्युत् आवश्यक है, नहरें आवश्यक है, देश की रक्षा के लिए सेना आवश्यक है, हथियार आवश्यक हैं। परन्तु हमें भूलना नहीं चाहिए कि ये सब-कुछ मनुष्य के लिए हैं। यदि मनुष्य ही मनुष्य न बने तो यह सब-कुछ व्यर्थ है; और मनुष्य को मनुष्य बनना हो तो सबसे पूर्व यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य

क्या है, मैं क्या हूँ। इसलिए मैं कार्लाइल की इस बात को नहीं मानता कि हमें इस बात पर विचार नहीं करना चाहिए।

महर्षि याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ऋषि थे। वे संन्यास लेने लगे तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों—मैत्रेयी और कात्यायनी को अपने पास बुलाया; बोले—"मैं यह धन-सम्पत्ति, घर-बार छोडकर जा रहा हूँ। यह सब-कुछ तुम दोनों में बाँट देना चाहता हूँ जिससे बाद मे झगडा न हो।"

मैत्रेयी ने कहा—"आप जो धन मुझे देंगे उससे मेरा क्या कल्याण होगा?"

याज्ञवल्क्य बोले—"इस धन से तुम धनिक लोगों की भाँति रह सकोगी, तुम्हे शारीरिक सुख मिलेगा; वह अमृत नहीं मिलेगा जिससे वस्तुत: मनुष्य का कल्याण होता है।"

मैत्रेयी ने कहा—"महाराज! स्वय तो इस धन को छोड़कर उस अमृत की ओर जा रहे हो, फिर मुझे इस दलदल मे क्यो फँसाते हो? मुझे भी वह अमृत चाहिये जिससे मनुष्य का कल्याण होता है।"

याज्ञवल्क्य बोले—"प्यारी मैत्रेयी! मैं पहले भी तुझे प्रेम करता था, आज यह प्रेम बहुत बढ़ गया है।" उस समय महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को 'भवती' कहकर सम्बोधित किया। 'भवती' शब्द का अनुवाद किसी भाषा मे नही हो सकता। इतने आदर का, इतने सम्मान का शब्द है यह कि इससे अधिक आदर और सम्मान का शब्द हो नहीं सकता। बोले—"भवती! मै तुझे बताता हूँ कि यह अमृत क्या है। सुनो! पति, पति की कामना के लिए पत्नी को प्रिय नही होता, आत्मा की कामना के लिए प्रिय होता है। पत्नी, पत्नी की कामना के लिए पति को प्यारी नहीं होती, आत्मा की कामना के लिए प्यारी होती है।"

और ये दोनों बाते सच्ची हैं। आजकल तो इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते है। एक ग्रेजुएट (स्नातिका) लड़की ने पिछले दिनों एक युवक से प्रेम-विवाह किया। अपनी इच्छा से उसने पति को चुना, परन्तु दो ही मास पश्चात् वह उससे तग आ गई और उसे छोड़ दिया। ऐसा क्यो हुआ? इसलिए कि पत्नी, पति की कामना के लिए पति को प्यार

नही करती, अपनी कामना के लिए प्यार करती है। जब उसकी आत्मा की कामना को सतोष नही मिला तो उसने उस पति को छोड़ दिया जिसे उसने स्वय ही खोजा था। यही अवस्था पति की भी है। आजकल आपने देखा नही कि कई लोग आज शादी करते हैं, मास, दो मास, चार मास के पश्चात् झगडे शुरू कर देते है, पत्नी को छोड़ देते है, इसलिए कि पत्नी, पत्नी की कामना के लिए पति को अच्छी नही लगती, आत्मा की कामना के लिए अच्छी लगती है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसके पश्चात् कहा—"पुत्र, पुत्र की कामना के लिए पिता को अच्छा नही लगता, आत्मा की कामना के लिए अच्छा लगता है। पिता, पिता की कामना के लिए पुत्र को अच्छा नही लगता, आत्मा की कामना के लिए अच्छा लगता है।"

और आज स्थान-स्थान पर इसके जीवित-जाग्रत उदाहरण मिलते है। कुछ वर्ष हुए, करौल बाग में एक सज्जन मेरे पास आये: बोले, "मुझे मेरे पुत्रों से बचाओ।" मैने बात पूछी तो उन्होने कहा—"मेरे दो पुत्र हैं, बहुत परिश्रम के पश्चात् मैंने उन्हे प्राप्त किया, पाला, पढाया, बड़ा किया। अब मुझे मिलती है पैंशन। वे कहते है यह पैंशन हमे दे दो। मैंने निर्णय किया है कि पैंशन के तीन भाग कर दिये जायँ। एक भाग एक पुत्र ले ले, दूसरा भाग दूसरे पुत्र को मिल जाय और तीसरा मेरे पास रहे। कुछ समय ऐसा चला। अब मेरे पुत्रों ने परस्पर संगठन कर लिया है। वे दोनों कहते हैं कि आधी पैंशन एक पुत्र को दी जाय, आधी दूसरे को, मै अपने पास कुछ न रक्खूं। मैंने यह बात मानी नही और दोनो ने मुझे मार-मारकर बेहाल कर दिया। देखिये मेरी पीठ पर उनकी छडियों के निशान।" पीठ से कमीज़ उठाकर मुझे उन्होंने वे चिह्न दिखाये। मैने कहा—"परन्तु मै इसमें क्या कर सकता हूँ?" वे बोले—"आप मेरे बेटों को समझाइये।" मैंनें कहा—"भाई! बेटे तुम्हारे है, मैं उन्हे कैसे समझाऊँ?" वे बोले—"ऐसे बेटे न होते तो अच्छा था।" इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा—"पुत्र, पुत्र की कामना के लिए पिता को अच्छा नही लगता, आत्मा की कामना के लिए अच्छा लगता है।"

इस प्रकार बहुत लम्बा उपदेश दिया महर्षि याज्ञवल्क्य ने। धन-

सम्पत्ति, शक्ति-शासन सबके सम्बन्ध में बताया कि ससार की सभी वस्तुएँ इन वस्तुओं की कामना के लिए नही, अपितु आत्मा की कामना के लिए उत्तम लगती हैं।

और यह तो स्पष्ट बात है। अब शरद्-ऋतु आ रही है। लोग अपने वे स्वेटर, गर्म कोट, गर्म सूट, कम्बल, रजाइयाँ और हीटर बाहर निकाल रहे है जिन्हे उन्होंने ग्रीष्म-ऋतु में दूर—परे रख दिया था। गर्मियों मे ये वस्तुएँ अच्छी नहीं लगती थी, अब अच्छी लगने लगी हैं। सर्दियों में जो धूप अच्छी लगती है गर्मियों मे उसी से लोग बचते फिरते है—"अरे भाई! धूप में मत जाओ। लू लग जायेगी।" इन सब बातों का तात्पर्य क्या है? यह कि ये सब-की-सब वस्तुएँ इन वस्तुओं के कारण हमें उत्तम नहीं लगती, अपने आत्मा के कारण उत्तम लगती हैं। आत्मा को इनसे सुख मिले तो ये अच्छी हैं, न मिले तो बुरी हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी वस्तु को यदि प्यार करता है तो अपने स्वार्थ के लिए करता है। सब लोग अपने लिए दूसरो को चाहते है, दूसरे के लिए कोई किसी को नहीं चाहता।

मैत्रेयी ने यह सब-कुछ सुना तो उसकी आँखों से जल की धारा बहने लगी। परन्तु इस कथा को अब यही छोड़ता हूँ। आप महर्षि याज्ञवल्क्य की ही एक और कथा श्रवण कीजिये।

महर्षि याज्ञवल्क्य गये महाराज जनक के पास। जनक ने उनका स्वागत करने के पश्चात् कहा—"महर्षे! एक बहुत गम्भीर प्रश्न है, उसका उत्तर जानना चाहता हूँ।" याज्ञवल्क्य बोले—"पूछिये महाराज!" जनक ने कहा—"मै जानना चाहता हूँ कि मनुष्य किस ज्योतिवाला है? किस प्रकार से इसे प्रकाश मिलता है?" महर्षि बोले—"यह तो बच्चे-जैसा प्रश्न है। सब लोग जानते है कि सूर्य के प्रकाश से मनुष्य अपने सारे कार्य चलाता है। सूर्य की ज्योति से ही यह ज्योतिवाला है। सूर्य न हो, चन्द्रमा हो तो वह भी सूर्य का प्रकाश देता है।" जनक ने कहा—"ठीक है कि वह भी सूर्य का प्रकाश देता है, परन्तु महर्षे! सूर्य न हो, चन्द्रमा न हो, अमावास्या की घनी काली रात हो, आकाश में बादल हों, बादलो में विद्युत् न हो, तब मनुष्य किस ज्योति से काम चलाता है?" महर्षि बोले—"तब वह अग्नि से,

दीपक से और ऐसी ही अन्य वस्तुओं से प्रकाश प्राप्त करता है। उनकी ज्योति से ज्योतिवाला है।" जनक ने कहा—"और जब यह सब-कुछ न हो, सूर्य, चन्द्र, दीपक, अग्नि, विद्युत्, कुछ भी न रहे तब मनुष्य किस ज्योतिवाला है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"तब वाणी ही उसकी ज्योति बनती है। वाणी की ज्योति से वह ज्योतिवाला होता है। घोर-घना जंगल हो, घटाटोप अँधेरा, आकाश में तारे नहीं, दूर-दूर तक कोई प्रकाश नहीं। एक यात्री मार्ग भटक गया है। ऊँची आवाज से वह कहता है, 'कोई है ? मैं मार्ग भटक गया हूँ, किधर जाऊँ ?' और दूर से कोई आवाज देता है—'ओ जानेवाले ! इधर आ जाओ। इस ध्वनि की ओर आ जाओ। मैं तुम्हें मार्ग बताता हूँ।' और आवाज की ज्योति से उसे मार्ग मिल जाता है।" जनक ने कहा—"यह तो ठीक है महर्षे ! परन्तु जब ध्वनि का प्रकाश भी न हो तब मनुष्य किस ज्योतिवाला होता है ?"

एक बार मैं कश्मीर में कुकरनाग के प्रदेश में था। एक बहुत सुन्दर चश्मा (स्रोत) है वहाँ। उसके ऊपर चीलों के जंगल से लदी पहाड़ी। मैं उस पहाड़ी पर जा रहा था तो मार्ग भूल गया। तभी मैंने देखा कि सामने एक छोटा-सा मकान है। उसके बाहर एक कश्मीरी युवक बैठा है। मैंने उसके पास जाकर पूछा—"क्यों भाई ! यह पगडण्डी किधर जाती है ?" वह मेरी ओर देखता रहा, बोला नहीं। मैंने फिर पूछा—"अरे भाई ! मैं तुमसे पूछता हूँ, यह मार्ग किधर जाता है ?" उसने उत्तर नहीं दिया। तीसरी बार मैंने पूछा, तब भी वह बोला नहीं। तभी मकान के भीतर से एक आदमी आया; बोला, "क्या चाहते हैं आप ?" मैंने कहा—"मैं मार्ग भूल गया हूँ। इस युवक से पूछता हूँ, यह तो उत्तर ही नहीं देता।"

उस व्यक्ति ने कहा—"उत्तर कैसे देता ? यह तो गूँगा है।" मैं बोला—"परन्तु संकेत तो कर सकता है ?" उस व्यक्ति ने कहा—"नहीं, यह बहरा भी है, सुन नहीं सकता।" मैंने आश्चर्य से कहा—"परन्तु यह मुझे देखता तो है।" वह बोला, "नहीं श्रीमन् ! यह देखता भी नहीं, अन्धा है।" मुझे बहुत आश्चर्य हुआ; पूछा—"तब यह अपना काम कैसे चलाता है ?" वह बोला—"यह मुझे पता नहीं

परन्तु चलाता है अवश्य। ठीक समय पर प्रात: उठ जाता है, पशुओं को जंगल में ले-जाता है, शाम को उन्हें वापस ले आता है।"

वह युवक सूर्य की ज्योति से ज्योतिवाला नहीं, चन्द्रमा और दीपक की ज्योति से ज्योतिवाला नहीं, वाणी की ज्योति से ज्योतिवाला नहीं, तब वह किसकी ज्योति से ज्योति प्राप्त करता था?

महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर देते हुए कहा—"जब कुछ भी न हो तब मनुष्य आत्मा की ज्योति से ज्योतिवाला होता है।"

महाराज जनक ने पूछा—"यह आत्मा क्या है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।"

—बृह० ४।३।७॥

यह जो हृदय के भीतर, प्राणों के अन्दर ज्योति से भरपूर सब-कुछ जाननेवाला पुरुष है यही आत्मा है।"

जनक ने पूछा—"हमारे अन्दर है?"

याज्ञवल्क्य बोले—"हाँ, आपके अन्दर है।"

जनक ने पूछा—"अन्दर है तो प्रतीत क्यों नहीं होता? दिखाई क्यों नहीं देता?"

याज्ञवल्क्य बोले—"महाराज! हम चलते हैं तो हमें पता नहीं लगता कि पृथिवी में कहाँ पानी है, कहाँ लोहा, सोना, चाँदी, तांबा और अन्य वस्तुएँ है। परन्तु जो व्यक्ति इस ज्ञान का विशेषज्ञ है वही बता सकता है कि पृथिवी में कहाँ क्या है। ऐसे ही हमारे भीतर रहनेवाला आत्मा हमे प्रतीत नहीं होता। जो इस ज्ञान के विशेषज्ञ हैं वे ही इसको देख सकते हैं।"

कैसे देख सकते है यह अभी छोड़िये, आगे चलकर बताऊँगा।

अब और सुनिये! आत्मा के बिना शरीर का कोई भी अंग कार्य नहीं कर सकता। इसका अनुभव हम कई बार करते है। आत्मा शरीर से निकल जाय तो आँख विद्यमान रहती है परन्तु देखती नहीं, कान रहते है परन्तु सुनते नहीं, हाथ रहते है परन्तु हिलते नहीं; पैर रहते हैं परन्तु चलते नहीं। आत्मा की शक्ति से ये सब-के-सब कार्य करते हैं, आत्मा के बिना कुछ नहीं।

यह ऐनक है न मेरी, प्रायः इसे दूर देखनेवाली ऐनक कहते हैं। परन्तु मैं इसे नाक पर से उतारकर रख दूँ तो क्या यह दूर देखती है? क्यों भई ऐनक! कहाँ तक दिखाई देता है तुझे? परन्तु यह तो बोलती ही नही। इसलिए नहीं बोलती कि इसे कुछ भी दिखाई नहीं देता। देखनेवाली यह आँख है, यह देखती है। परन्तु नही, यह आँख भी नहीं देखती। इसके पीछे रूप-तन्मात्रा का गोला है वह देखता है। नही, वह गोला भी नही देखता, इसके पीछे मन है; वह देखता है। नही, मन भी नही देखता, इसके पीछे आत्मा है वह देखता है। आत्मा प्रेरणा करता है मन को, मन प्रेरणा करता है रूप-तन्मात्रा को, रूप-तन्मात्रा प्रेरणा करती है आँख को, आँख प्रेरणा करती है इस ऐनक को, तब दिखाई देता है। देखनेवाला आत्मा है। ये सब आत्मा के देखने के साधन हैं। यदि इन साधनों में से कोई भी बिगड़ जाय तो ठीक प्रकार से अथवा बिल्कुल ही दिखाई नहीं देता। यदि आत्मा पीछे से खिसक जाय तो ये सब-के-सब साधन व्यर्थ हो जाते है। आप एक हजार पाँच सौ पैंतीस ऐनकें लगा लो, कुछ दृष्टिगोचर नही होगा।

ऐनक की बात से एक और बात स्मरण आ गई। एक वादी वकील के पास पहुँचा। वकील महोदय कोठी के बाहर बरामदे में बैठे थे। वादी ने अपने पत्र आदि उन्हें दिये। वकील महोदय ने काग़ज़ों को अपने समक्ष रखकर मुन्शी को आवाज़ दी—"मेरी पढनेवाली ऐनक अन्दर से ले आइये, मेज पर रक्खी है।" मुन्शीजी ऐनक ले आये। वकील महोदय ने उसे नाक पर लगाया और पढने लगे। वादी ने सोचा—'वास्तविक वस्तु यह ऐनक है। इसे लगाकर वकील पढ़ता है, पहले तो पढ नही सकता था।' वकील महोदय ने अपनी सम्मति दी तो वादी ने पूछा—"श्रीमन्! यह पढनेवाली ऐनक कहाँ मिलती है?" वकील महोदय बोले—"कनॉट प्लेस मे वह जो बड़ी दुकान है वहाँ से मिल जायेगी।" यह व्यक्ति घर नही गया। सीधा उस दुकान पर पहुँचा; बोला—"क्यों भाई! आपके पास पढनेवाली ऐनक है?" दुकानदार ने कहा—"अवश्य है, बै०, अभी ऐनक मिल जायेगी।" उसने इस व्यक्ति को कुर्सी पर बैठाकर टैस्ट करनेवाली ऐनक लगाई।

अंग्रेज़ी की पुस्तक देकर कहा—"इसे पढो।" वह व्यक्ति बोला—"यह तो पढ़ी नही जाती।" दुकानदार ने एक के पश्चात् एक कितने ही नम्बर के शीशे बदले। इस व्यक्ति ने हर बार कहा—"यह तो पढी नहीं जाती।" दुकानदार ने अपनी गलती अनुभव की, समझा, शायद यह अंग्रेजी नही जानता; उसे हिन्दी की एक पुस्तक दी, फिर नम्बर के बाद नम्बर बदले, शीशे बदले, परन्तु वह पढ़ नही सका। अन्ततः तंग आकर दुकानदार ने पूछा—"अरे, तू पढ़ना-लिखना भी जानता है?" व्यक्ति बोला—"पढ़ना-लिखना जानता तो मैं पढ़नेवाली ऐनक खरीदने के लिए आपकी दुकान पर क्यों आता?" (सब लोग हँस उठे) अरे जा रे जा! पढ़नेवाली ऐनक नहीं होती। पढ़नेवाला तो कोई और है जो अन्दर रहता है।

यह है वह वस्तु जिसका मैं वर्णन करता हूँ। मेरी माँ! मेरे भाई! इसको जानना चाहिए मैं कौन हूँ? क्यों आया हूँ? कहाँ जाना है? यह जानना चाहिए। यह रहस्य कोई विश्वविद्यालय नही सिखाता, कोई समुदाय नहीं सिखाता। इसे वेद बताते हैं, उपनिपदे बताती है, वे ग्रन्थ बताते है जो वेद को समझने के पश्चात् लिखे गये।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

—बृह० ४।४।१२॥

यदि पता लग जाय कि मै कौन हूँ, तब किसलिए कोई शरीर के दु:खी होने पर दु:खी होगा!

शरीर तो आत्मा का साधन है, एक मकान है जिसमें थोडी देर के लिए मै आ गया हूँ। यह मैं नहीं हूँ।

आपके पास मोटर हो। आप उसमे बैठे हो तो आप सदा यह कहते हैं कि यह मेरी मोटर है। यह तो कभी नहीं कहते कि 'मैं मोटर हूँ।'

यही अवस्था इस शरीर की है। आप इस शरीर में बैठे हैं परन्तु आप शरीर नहीं है। कई लोग कहते हैं मुझे बुखार हो गया है। मै आश्चर्य से सोचता हूँ कि इसे ज्वर कैसे हो गया है? ज्वर तो शरीर

को हुआ है। यह बोलनेवाला शरीर नहीं, आत्मा है, और आत्मा को कभी ज्वर होता नहीं। वह कभी गलता नहीं, डूबता नहीं, जलता नहीं, सड़ता नहीं, वह बच्चा नहीं, बूढा नहीं, वह कभी पैदा नहीं होता, मरता नही।

छोटा-सा बच्चा उत्पन्न होता है, बड़ा होता है, युवा होता है, बूढ़ा होने लगता है। उसका शरीर वृद्ध हो जाता है। वह रुग्ण होता है और एक दिन समाप्त हो जाता है। लोग उसे जला देते है या दबा देते है। परन्तु इन सब अवस्थाओं में आत्मा ज्यो-का-त्यो रहता है। वह बच्चा नही, बूढा नही, जवान नही, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, सदा आत्मा है। शरीर के समाप्त होने पर वह समाप्त नही होता। शरीर के रोगी होने पर वह रोगी नहीं होता।

आपकी मोटर खराब हो जाय तो आप क्या करते हैं? किसी वर्कशॉप में भेज देते है कि भाई! जाओ इसकी मरम्मत करा लाओ। ठीक हो जाय तो फिर इसको चलाने लगते हैं। बिल्कुल ही खराब हो जाय, किसी भी काम की न रहे तो उसे कबाड़ी के पास भेज देते है। यही दशा इस शरीर की है। यह रोगी हो तो इसकी चिकित्सा कर दी जाती है। बिल्कुल बिगड जाय तो इसे कबाडस्तान मे भेज देते हैं जिसका नाम श्मशान है। नई मोटर खरीद लेते हैं, नया शरीर धारण कर लेते है।

मृत्यु कोई भयानक वस्तु नही, हौआ नहीं। इससे डरने की आवश्यकता नही। वह बिल्कुल ऐसे ही है जैसें अपनी पुरानी, जीर्ण, खड़खड़ और व्यर्थ मोटर की बजाय एक 'ब्राण्ड न्यू', नये मॉडल की मोटर खरीदी हो।

परन्तु यह नई मोटर मिलेगी उस अवस्था मे जब पहली मोटर में बैठकर अच्छी कमाई की हो। कमाई ही नहीं की, मोटर का मूल्य देने के लिए पल्ले मे पूरे पैसे ही नही, तब मोटर कैसे मिलेगी? यदि जेब में पैसे केवल इतने है कि एक गधा खरीद सको, तब गधा ही तो मिलेगा! उसपर चढ़कर घूमते फिरना। गधा मिलने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का नहीं, गधे का शरीर मिलेगा। अच्छी कमाई की है तो अधिक अच्छी मोटर मिल जायेगी, वायुयान मिल जायेगा, घोड़ा-

गाडी, बैलगाड़ी मिल जायेगी। जैसा कर्म किया है, वैसा फल मिलेगा। इस कर्म और फल के सम्बन्ध मे अभी कुछ नही कहता। इसे अभी छोड़िये परन्तु यह निश्चित बात है कि इस मोटर को छोड़ने के पश्चात् कोई-न-कोई सवारी मिलेगी अवश्य। इस शरीर को छोडने के पश्चात् कोई-न-कोई शरीर मिलेगा अवश्य। बृहदारण्यक-उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर कहा है—

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः।

—बृह० ४।४।१३॥

भय के इस घने जंगल में, इस संसार में जहाँ चहुँ ओर भय है, पग-पग पर भय है और जिसमें प्रवेश करनेवाले को कुछ पता नही लगता कि क्या होनेवाला है। इस संसार में जब बच्चा पहली बार आता है, पहली बार आपत्तियों से भरपूर इस विशाल वन को देखता है तो वह रोता है, प्रत्येक बच्चा रोता है।

मेरे सम्बन्ध में कहते है कि मैं उस समय भी रोया नहीं, आँखें खोलीं तो हँस रहा था। हमारे चीफ जस्टिस मेहरचन्द जी महाजन हैं न, शायद इन्होंने भी पहली बार आँखे खोलीं तो हँस रहे थे। ऐसे सज्जन को हँसना ही चाहिये। योग की सिद्धियों में सबसे बडी सिद्धि यह है कि योगी सदा प्रसन्न रहता है।

जो प्रसन्न रहता है उसका मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है और उसकी समाधि लग जाती है। जिसके हृदय में प्रभु के प्यार का नशा है, उसके मुख-मण्डल पर सदा ही प्रसन्नता खेलती है।

दुःख, कष्ट-क्लेश तो इस ससार में अनिवार्य है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने-अपने समय पर आते हैं। अज्ञानी इन्हें रोकर भोगता है और ज्ञानी हँसकर भोगता है। भोगना दोनो को पड़ता है। परन्तु पुण्य, दान, तीर्थ, जप-तप, योग-साधन—सबका लाभ यह है कि जो इनके मार्ग पर चलता है वह इन दुःखों और कष्टों को सहन करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। महर्षि दयानन्द ने उपासना और प्रार्थना का लाभ बताते हुए कहा—"उपासना का लाभ यह है कि पहाड़-जैसे दुःख आयें, तो भी उपासना करनेवाला व्यक्ति घबराता नहीं, उन्हे सहन कर लेता है।" और यह संसार है कि इसमे सुख और दुःख तो

हैं ही। जो कर्म हम कर चुके उनका फल भोगना आवश्यक है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अच्छे और बुरे दोनों ही कर्मो का फल भोगे बिना छुटकारा नही। दुःख सबके लिए आते है। जिसने वास्तविकता को जान लिया है, प्रभु का प्यार अपने हृदय मे जगा लिया है और जो उपासना के मार्ग पर चलता है उसके लिए भी दुःख आते है, परन्तु उन्हें वह उसी प्रकार सहन करता है जैसे वर्षा के समय किसी ने वाटरप्रूफ कोट पहन रक्खा हो। पानी उसपर भी गिरता है परन्तु उसे गीला नही करता। इसलिए उपनिषद् ने कहा—

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥

—बृह० ४। ४। १३॥

जिसका आत्मा जाना गया है, जिसने अपनी आत्मा को जान लिया है, जिसने समझ लिया है कि मै क्या हूँ, वह संसार के संकटों से भरे इस घने जंगल में प्रविष्ट होकर भी सदा प्रसन्न रहता है। वह संसार को बनानेवाला, सबको बनानेवाला बन जाता है। संसार उसका हो जाता है। वह स्वय एक संसार बन जाता है।

और तब इसके आगे उपनिषद् के ऋषि ने कहा—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः।

—बृह० ४। ४। १४॥

जैसे भी हो इस आत्मा को जान लो। इस जीवन में ही जान लो। यदि नहीं जाना तो बहुत बडा विनाश हो जायेगा।

कैसे हो जायेगा यह विनाश ? हम नहीं जानते कि इस ससार में कुल कितने प्रकार के प्राणी है। कुछ लोग कहते हैं कि चौरासी लाख योनियाँ है। मैने तो कभी इन्हें गिना नहीं परन्तु जो लोग चौरासी लाख योनियाँ कहते हैं, उन्होंने एक कहानी बना रक्खी है। पहले भी कई बार यह कहानी सुनाई। आज भी सुनिये। कहानी यह है—

एक बहुत बडा दुर्ग है। उसमे चौरासी लाख दरवाजे हैं। सब-के-सब बन्द है, केवल एक द्वार खुला है। एक अन्धा व्यक्ति किले में पहुँच गया। उसे खुजली की बीमारी थी। बेचारा दुर्ग (किले) से बाहर

जाने का प्रयत्न करता था परन्तु उसे खुला दरवाज़ा नही मिलता था। दुःखी होकर उसने पुकारा—"कोइ है जो मुझपर कृपा करे ? मैं यहाँ तंग आ गया हूँ, मुझे द्वार नही मिलता, मै देख नहीं सकता।" एक व्यक्ति को दया आ गई। उसने उसका हाथ पकडकर कहा—"इधर आओ सूरदास जी ! अपना हाथ इस दीवार पर रख लो और चलते जाओ। यहाँ चौरासी लाख दरवाजे हैं, केवल एक द्वार खुला है। तुम दीवार को टटोलते हुए चलो, बन्द द्वारों से आगे बढ जाओ। खुला द्वार आयेगा तो बाहर चले जाना।" सूरदास ने ऐसा ही किया। दुर्ग की दीवार को टटोलता हुआ चलता गया, चलता गया। परन्तु उसे थी खुजली की बीमारी। खुला द्वार निकट आया तो उसे खुजली होने लगी। दीवार से हाथ हटाकर वह खुजाता हुआ आगे बढ गया। खुला द्वार पीछे रह गया। आगे प्रत्येक द्वार बन्द था। वह फिर चलता गया, चलता गया। एक के पश्चात् दूसरे बन्द द्वार को टटोलते हुए आगे बढता गया। चलते-चलते फिर खुले द्वार के पास पहुँचा तो फिर खुजली होने लगी। फिर खुला द्वार पीछे रह गया और वह चलता जाता है, चलता जाता है।

यह केवल कहानी है, परन्तु हम भी तो ऐसा ही करते हैं। चौरासी लाख योनियों के बन्द द्वारों से निकलकर मनुष्य-योनि के खुले द्वार के पास पहुँचते हैं तो हमें इच्छाओं की, बुराइयों की, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार की, ईर्ष्या और द्वेष की खुजली होने लगती है। इस खुजाने में स्वाद तो आता है परन्तु खुला दरवाजा निकल जाता है। मानव-जीवन का यह द्वार ही खुला है। इसी मे हम आत्मा को जान सकते है, स्वतन्त्रता से कर्म कर सकते है। शेप सब तो भोग-योनियाँ हैं। यदि इस मानव-जीवन में भी आत्मा को नहीं जाना तो इससे बडा विनाश और क्या हो सकता है ? इसलिए उपनिषद् के ऋषि ने कहा, "इस जीवन मे यदि आत्मा को नहीं जाना तो बहुत बडा विनाश होगा।" इसीलिए प्रजापति ने भी कहा—इसी जीवन मे जान लो, नही तो महाविनाश विद्यमान है।

उपनिषद् मे कथा आती है कि प्रजापति के तीन सन्ताने थी। तीन प्रकार की प्रजा उत्पन्न की—देवता, मनुष्य और असुर। देवता

सदा देवता रहता है, असुर सदा असुर रहता है। परन्तु मनुष्य चाहे तो देवता भी बन सकता है। देवता प्रजापति के पास गये, पूछा—"हमें क्या करना है?" प्रजापति ने उत्तर दिया—" 'द' अर्थात् बुराइयों को दबाओ।" असुर गये। उन्होंने भी पूछा—"हमारा कर्त्तव्य क्या है?" प्रजापति ने कहा—" 'द' अर्थात् दया करो।" मनुष्य उनके पास गये; कर्त्तव्य पूछा तो प्रजापति ने उन्हें भी उत्तर दिया—" 'द' अर्थात् दान करो, दूसरों की सहायता करो।" तीनों ने प्रजापति का तात्पर्य समझ लिया। तीनों को प्रजापति ने कहा—"ऐसा करने से ही तुम आत्मा को जानोगे।" तीनों वापस आ गये।

परन्तु यह प्रजापति कौन है? यह हृदय ही प्रजापति है। यही मनुष्य को देवता भी बना देता है, असुर भी और मनुष्य भी। जैसा यह सोचता है, सोचकर जैसा यह करता है, वैसा ही मनुष्य बन जाता है—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति।

जैसे विचार, जैसे कर्म, वैसा ही मनुष्य बनता है, वैसा ही इसका संसार बनता है।

इस दिल की बदौलत रंज भी है, इस दिल की बदौलत राहत भी।
यह दुनिया जिसको कहते हैं, दोज़ख भी है और जन्नत भी॥

परन्तु असुर और देवता कहते किसे है? यदि कोई व्यक्ति दूसरों को सुख पहुँचाने का यत्न करता है तो वह देवता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे को दुःख पहुँचाने का प्रयत्न करता है तो वह असुर है, और यदि कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है कि दूसरे भी सुखी रहें और मैं भी सुखी रहूँ तो वह मनुष्य है। असुर और देवता में सीधा-सा अन्तर यह है कि असुर अपने प्राण बचाने के लिए दूसरों के प्राण छीन लेता है, देवता दूसरों के प्राण बचाने के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर देता है। जो लोग दूसरों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते है वे देवता हैं। जो लोग देश और जाति की रक्षा के लिए, उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शहीद होते है वे देवता है। जो वीर सैनिक देश की सीमाओं पर आक्रमण करनेवाले शत्रु को मुँह-तोड़ उत्तर देने के लिए आगे बढते हैं और शत्रु का सामुख्य करते हुए अपने जीवन का बलिदान कर देते है, मैं समझता हूँ कि वे सब-के-सब देवता हैं।

कभी एक सज्जन ने असुरों और देवताओं को दावत दी कि मेरे यहाँ आकर खाना खाओ। देवता आये, असुर भी आ गये। असुरों ने कहा—"देखो भाई! हम आ तो गए हैं परन्तु ऐसी दावतों में आकर हमें कष्ट बहुत होता है।"

निमन्त्रणदाता ने पूछा—"क्या कष्ट होता है आपको ?"

असुर बोले—"जिस दावत में देवता भी हों और हम भी, उसमें सदा देवताओं को पहले भोजन खिलाया जाता है, हमें बाद में। इस प्रकार हमारा अपमान होता है।"

सत्कारकर्ता ने कहा—"तो फिर आज ऐसा नहीं होगा। पहले आप ही भोजन कीजिये, देवता बाद में खा लेंगे। परन्तु एक शर्त है कि आपमें से प्रत्येक व्यक्ति के दोनों हाथों के साथ लम्बी-लम्बी लकड़ियाँ बाँध दी जायेंगी, इनके साथ ही आपको भोजन करना होगा।"

असुर बोले—"किसी भी विधि से खिलाओ। हमारे लिए यही बहुत है कि हमें देवताओं से पहले भोजन मिले।"

निमन्त्रणदाता ने सभी असुरों के बाहुओं के साथ लम्बी-लम्बी लकड़ियाँ बाँध दीं। असुर खाने के लिए बैठे। सामने रक्खी पत्तलों में खीर भी आ गई, हलवा भी, पूरी भी आ गई, कचौरी भी, रसगुल्ले भी, समोसे भी, श्रीखण्ड भी, इमरतियाँ भी, चटनी भी, चाट भी। असुरों ने देखा तो उनके मुँह में पानी भर आया।

सब-कुछ परोसा गया तो सत्कारकर्ता बोले—"अब आरम्भ कीजिये महाराज!"

असुरों ने खाना आरम्भ किया; परन्तु बाहुओं में बाँधी हुई थी लकड़ियाँ। हाथ मुँह के पास पहुँचता ही नहीं था। वे पूरी उठाकर मुँह की ओर फेंकते तो वह परे जा गिरती। हलवा उठाकर फेंकते तो वह कभी इधर जा गिरता, कभी उधर। दूसरी वस्तुओं की भी यही दशा होने लगी। हर ओर जैसे पलस्तर हो रहा था। कितना ही समय व्यतीत हो गया। एक भी ग्रास किसी असुर के मुख में नहीं गया। समय हो चुका तो सत्कारकर्ता बोले—"अब उठिये, आपका समय हो चुका। अब देवता खायेंगे। आप कुल्ला कर लीजिये।"

असुर बोले—"कुल्ला क्या खाक करें ! खाया तो कुछ है नहीं।"

तब देवता बैठे। उनके हाथों में भी लम्बी-लम्बी लकड़ियाँ बाँध दी गई। देवताओं ने यह अवस्था देखी तो आमने-सामने दो पंक्तियाँ बनाकर बैठ गये। आधे देवता इधर, आधे उनके सामने। भोजन परोसा गया तो इस पंक्ति के देवता ग्रास उठाते और सामने बैठे देवता के मुँह मे डाल देते। सामने की पंक्तिवाले देवता ग्रास उठाते तो इस पंक्तिवाले देवताओं के मुँह में डाल देते। सब-के-सब देवताओं ने पेट भरकर खाना खाया।

यह है असुर और देवताओं का अन्तर ! असुर केवल अपनी चिन्ता करता है, केवल अपने-आपको सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता है और दु.खी होता है। देवता दूसरों को खिलाते हैं और उनका अपना पेट भर जाता है।

उपनिषद् में एक और कथा भी आती है—

प्रजापति ने जब मनुष्यों, असुरों और देवताओं को 'द'—'द'—'द' का उपदेश दिया तो यह घोषणा भी की कि "हृदय-आकाश में जिस आत्मा का निवास है, जो पापों से पृथक् है, वृद्धावस्था और मृत्यु इसके लिए नही, भूख और प्यास इसके लिए नही। वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। इसकी खोज करनी चाहिए। जो इसको खोजकर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को पा लेता है और जो इसी जीवन मे ऐसा नही करता उसके लिए महानाश जाग उठता है।"

असुरो और देवताओ ने सोचा कि यह आत्मा क्या है ? कौन है यह जिसे इस जीवन में नही जाना तो महाविनाश हो जाता है ? दोनों ने अपना एक-एक प्रतिनिधि निश्चित किया। देवताओ ने इन्द्र को अपना प्रतिनिधि बनाया, असुरों ने विरोचन[1] को। दोनों से यह कहा गया—"जाओ प्रजापति के पास। पूछकर आओ कि आत्मा क्या है।"

दोनो प्रजापति के पास पहुँचे, पूछा—"वह आत्मा क्या है जिसे जाने बिना महाविनाश हो जाता है ?"

प्रजापति ने कहा—"मैं बताऊँगा अवश्य, परन्तु पहले तीस-तीस वर्ष तक ब्रह्मचारी बनकर मेरे आश्रम मे रहो, इसके पश्चात् पूछना।"

१ विरोचन प्रसिद्ध हरिभक्त प्रह्लाद के पुत्र तथा राजा बलि के पिताश्री थे।

इस युग के आदमी होते तो कहते—'प्रजापति जी ! इस आत्मा को रहने ही दो। इतना लम्बा व्रत कौन रक्खेगा ?' परन्तु ब्रह्मचर्य के विना आत्मा तो जाना नही जाता। इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के आश्रम में रहने लगे। दोनो ने तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण किये रक्खा। तीस वर्ष पश्चात् पूछा, "महाराज ! अब बताइये कि आत्मा क्या है ?"

प्रजापति ने कहा—"यह जो आँख में देखता है यही आत्मा है।"

दोनों ने सोचा—'आँख से शरीर देखता है। यह शरीर ही आत्मा है।' फिर भी दोनों ने पूछा—"महाराज ! यह जो पानी मे दृष्टि-गोचर होता है, दर्पण में दिखाई देता है इनमे कौन-सा आत्मा है ?"

प्रजापति बोले—"इनमें भी वही आत्मा है। और सुनो ! तुम दोनों पानी में अपने-आपको देखो। यदि कुछ समझ न आये तो मुझसे पूछ लेना।"

दोनो ने पास के तालाब में अपने-आपको देखा; बोले—"इसमें तो हम ही दिखाई देते है सिर से पाँव तक।"

प्रजापति ने कहा—"अब उत्तम वस्त्र और आभूपण पहनकर पानी में देखो।"

दोनों ने ऐसा ही किया; बोले, "जैसे हम सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने है उसी प्रकार हमारे प्रतिबिम्ब भी है।"

प्रजापति ने कहा—"जाग्रत अवस्था में जिसे तुम देखते हो यह आत्मा है, अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।"

दोनों वापस चल पड़े। विरोचन प्रसन्न था कि उसने आत्मा को जान लिया। उसने समझा कि जब शरीर ही आत्मा है तो इसे खिलाओ, इसे दृढ करो, इसकी मालिश करो, इसे विश्राम दो। यही आत्मा का कल्याण है। परन्तु इन्द्र चलता-चलता रुक गया। उसने सोचा—'हमने तो सुना था कि आत्मा मरता नही, वृद्ध नहीं होता, गलता नहीं, जलता नही, परन्तु यह शरीर तो मरता भी है, वृद्ध भी होता है, रोगी भी होता है, पानी में पड़ा रहे तो गल भी जाता है, अग्नि में डाल दो तो जल भी जाता है, तब यह आत्मा कैसे हो सकता है ?'

और वापस जाने की बजाय वह फिर प्रजापति के आश्रम में पहुँचा और बोला—"महाराज ! आपने कहा कि यह शरीर आत्मा है परन्तु आत्मा तो मरता नही, उत्पन्न नही होता, रोगी या वृद्ध नहीं होता। यह शरीर उत्पन्न होता है, बूढा होता, बीमार होता और मरता भी है, फिर यह आत्मा कैसे हो सकता है ?"

प्रजापति ने कहा—"मैने यह कब बताया कि यह शरीर आत्मा है ? मैंने तो कहा था कि जो देखता है, वह आत्मा है। परन्तु यदि तुम आत्मा को जानना चाहते हो तो तुम्हे तीस वर्ष तक और ब्रह्मचारी बनकर रहना होगा।"

इन्द्र तीस वर्ष तक और भी ब्रह्मचारी बनकर वहाँ रहा। इसके पश्चात् प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में कुछ बताया; वह मै भी आपको बताऊँगा। अभी इन कथाओ के द्वारा मै केवल यह बताना चाहता हूँ कि आत्मा साधारण नहीं बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। विरोचन की भाँति आज भी कई लोग समझते है कि शरीर ही आत्मा है। इसके सुख के लिए, इसके आराम के लिए और इसके पालन-पोषण के लिए वे प्रत्येक कार्य करने को उद्यत रहते हैं। मैं शरीर की रक्षा के विरुद्ध नही। यह वह महल है जिसमें महाराज रहते हैं। यह वह मन्दिर है जिसमें देवता निवास करता है। इसकी रक्षा करनी चाहिए अवश्य, परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि इस महल का, इस मन्दिर का महत्त्व तबतक है जबतक यह महाराज, यह देवता इसके अन्दर विराजमान है। यह चला जाय तो इस महल का एक कौड़ी भी मूल्य नही रहता। मानव-शरीर की रक्षा अवश्य करनी चाहिए परन्तु इसलिए करनी चाहिए कि इसमें यह देवता रहता है, यह आत्मा रहता है जिसे जाने बिना कभी कल्याण नहीं होता; और इसलिए शरीर-रक्षा करनी चाहिए कि मानव-जीवन में ही आत्मा और परमात्मा के दर्शन हो सकते है। इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है निःसन्देह, परन्तु जो परिश्रम करते हैं उन्हें सफलता भी मिलती है। जो अन्वेषण ही न करें उन्हें क्या मिलेगा ?

जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।
मै बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ ॥

अब किनारे बैठने से समुद्र का मोती मिलता नही; सीपियाँ मिलती हैं, कौडियाँ मिलती है, मोती मिलते नही। मोती की इच्छा हो तो गहरे पानी में जाये बिना काम बनेगा नही।

और जिन्होंने इस गहरे सागर मे गोता लगाया, जिन्होंने खोज की, वे बताते है कि यह शरीर जिसे हम देखते हैं वस्तुत: पाँच कोशों का समूह है। सबसे बाहर है अन्नमय कोश, उसके अन्दर है प्राणमय कोश, उसके अन्दर है मनोमय कोश, उसके भी अन्दर है विज्ञानमय कोश और सबसे अन्त में, सबके अन्दर है आनन्दमय कोश।

बात योग से सम्बन्ध रखती है।

अन्नमय कोश है यह ठोस शरीर जो अन्न से बनता है, अन्न से उत्पन्न होता है, अन्न से बढता है। अन्न से तात्पर्य केवल अन्न नहीं, केवल फल, सब्जी, खाँड, दूध और खाने की अन्य वस्तुएँ नहीं। उपनिषदों के अनुसार जल भी अन्न है, वायु भी अन्न है, स्त्री के लिए पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री अन्न है। प्रत्येक वह वस्तु अन्न है जिससे शरीर को सुख मिलता है, शक्ति मिलती है। पाँच तत्त्व हैं—आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथिवी—इनके मिलने से शरीर बनता है। परन्तु लो जी, साढे नौ तो हो गये। शेष कल।

ओम् तत् सत्!

ग्यारहवाँ दिन

ओम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

ओ३म्...

मेरी प्यारी माताओ तथा सज्जनो!

दस दिन से हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे है कि मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना क्या है। यह योजना अन्यत्र मिलती नही। अन्यत्र मनुष्य को मुसलमान बनाने की योजना है, ईसाई बनाने की योजना है; बौद्ध, जैनी अथवा ऐसा ही कुछ और बनाने की योजना

है। मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना केवल वेद में है अथवा उन ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों और उपनिषदों में है जो वेद को आधार बनाकर लिखे गये। इस योजना की बात कहते हुए मैंने मनुष्य के शरीर की चर्चा की। मनुष्य का यह शरीर बहुत आवश्यक है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह देवताओं की नगरी है परन्तु इसका बड़प्पन तभी तक है, जबतक आत्मा इसके अन्दर है, क्योंकि मनुष्य शरीर नहीं वास्तव में आत्मा है। वह शरीरी है, शरीर में रहनेवाला है, शरीर को चलानेवाला, उसे जीवन देनेवाला है। शरीर उसका साधन है, वह स्वय शरीर नहीं है। यदि वह केवल शरीर होता तो फिर इतने झझट की आवश्यकता नही थी। शरीर उत्पन्न होता है, बडा होता है, कुछ वर्ष रहता है, फिर समाप्त हो जाता है। इसके लिए इन मकानों, इन योजनाओं, इन लम्बे-चौड़े दर्शनों, सिद्धान्तों की आवश्यकता है नही। कल मैंने पाश्चात्य लेखक कार्लाइल की चर्चा की। उसने इन सिद्धान्तों से तग आकर कहा—"सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य सोचता है कि मै क्या हूँ। इससे अधिक लाभ की बात यह है कि मनुष्य के कर्त्तव्य को समझा जाय।" कार्लाइल की यह बात सुनने में तो अच्छी लगती है, परन्तु वस्तुत है ग़लत। यदि यही पता न हो कि मनुष्य क्या है तो उसके कर्तव्य का निर्णय कैसे होगा? आप कह सकते हैं कि पिता का कर्तव्य यह है, बेटे का कर्तव्य यह है, भाई का कर्तव्य यह है, बहन का कर्तव्य यह है। आप कह सकते है कि राजा और प्रजा का कर्तव्य क्या है। मन्त्री और प्रधानमन्त्री का कर्तव्य क्या है। मन्त्री और प्रधान का कर्तव्य क्या है। परन्तु यह पिता, बेटा, भाई, बहन, राजा, प्रजा, मन्त्री तो तभी तक है, जबतक आत्मा अन्दर बैठा है। आत्मा चला जाय तो ये सब बराबर है, मिट्टी का ढेर हैं। तब इनका कर्तव्य क्या है? इस आत्मा के कारण ही यह शरीर एक छोटी-सी बूंद से बढकर पाँच फीट, छह फ़ीट, साढे छह फीट का मनुष्य बन जाता है। एक व्यक्ति मैने देखा जो सात फीट लम्बा था। मैने समझा नीचे कुर्सी रखकर उसपर खड़ा है। और फिर शराब पीने से नशा हो जाता है न! परन्तु कब होता है यह नशा? जब आत्मा शरीर के अन्दर हो। आत्मा न रहे तो आप इस शरीर का

मुँह खोलकर एक गैलन शराब इसमें डाल दीजिये, इसे कोई नशा नही होगा, इसपर कोई प्रभाव नही होगा, क्योंकि यह शरीर केवल शरीर है, मनुष्य नहीं है।

लगभग दो अरब वर्ष पहले यह ससार बना, तब से आजतक खरबों लोगों ने इस पृथिवी पर जन्म लिया, खरबों लोग इस दुनिया से चले गये; परन्तु किसने जन्म लिया और कौन चला गया ? केवल खरबों शरीर, क्योंकि यह शरीर ही उत्पन्न होता और समाप्त होता है। शरीर की यह मृत्यु कोई भयानक बात नही। यह भगवान् की कृपा है। यदि इन दो अरब वर्षों में लोग पैदा ही होते रहते और मरते नही तो सोचकर देखिये कि इस समय इस संसार की अवस्था क्या होती ? आज संसार की जनसंख्या लगभग तीन अरब है और हर ओर हाहाकार मच रहा है कि जनसख्या बहुत बढ गई है। इसे रोका नही गया और यह जनसख्या दुगुनी या तिगुनी हो गई तो संसार में बहुत भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। परन्तु यदि दो अरब वर्षों में मरनेवाले मरते नही तो इस समय संसार की जनसख्या तीन अरब नहीं, शायद हजार अरब हो जाती। इस पृथिवी पर मनुष्यों के रहने और सोने का तो एक ओर, खड़े होने का स्थान भी न मिलता। भगवान् ने बहुत कृपा की कि जन्म और मृत्यु दोनों को उत्पन्न किया परन्तु जैसा मैंने निवेदन किया यह जन्म शरोर का होता है, मृत्यु भी शरीर की होती है। जिसको यह शरीर मिलता है, जिसके कारण यह कार्य करता है, बडा होता है और जिसके चले जाने से यह समाप्त हो जाता है उसका न कभी जन्म होता है और न मृत्यु होती है।

जो लोग ऐसा नही मानते और समझते हैं कि शरीर की मृत्यु होने से आत्मा भी मर जाती है, वे सोचकर देखें कि एक बच्चा एक करोड़पति के घर में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही करोड़-पति बन जाता है। उसने कोई काम नहीं किया, कोई व्यापार नहीं किया, सट्टा नही किया। ससार में आँखे खोलते ही वह करोड़ो रुपयो का स्वामी हो जाता है। एक बच्चा एक भिखारी के घर में पैदा होता है। वह जन्म लेते ही दीनता और निर्धनता का शिकार होने लगता है। उसने भी कोई काम नहीं किया, कहीं घाटा नही डाला, कहीं

रुपया नष्ट नही किया, फिर भी वह भिखारी बन गया है। ऐसा क्यों होता है? यह अन्तर क्यो है? यदि आप परमात्मा को मानते हैं और आत्मा को नही मानते तो आपको कहना पड़ेगा कि भगवान् बहुत अन्यायी है। यह क्रूरता का खेल खेलता है, किसी को बिना कारण धनिक बना देता है, किसी को निर्धन। एक को सुन्दर बना देता है, दूसरे को कुरूप। एक को स्वस्थ और शक्तिशाली बना देता है, दूसरे को रोगी और निर्बल। यदि आप परमात्मा को भी नहीं मानते तो फिर बताइये कि ऐसा क्यो होता है? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि इस शरीर में कोई रहता है और यह रहनेवाला शरीर की मृत्यु से मरता नहीं; अपने कर्मों के अनुसार फिर जन्म लेता है। वह यदि धनिक के घर जन्म लेता है तो अपने कर्मों के कारण, और गरीब के घर उत्पन्न होता है तो अपने कर्मों के कारण। उसे अच्छा रंग-रूप, उत्तम स्वास्थ्य, उत्तम शक्ति मिलती है तो उसके अपने कर्मों के कारण, इसके विरुद्ध अन्य वस्तुएँ मिलती है तो कर्मों के कारण। वह शरीर से काम लेता है अवश्य, इसके द्वारा कर्म तो करता है परन्तु वह शरीर नही है। वह चला जाय तो शरीर व्यर्थ हो जाता है। यह शरीर आपके बेटे का हो, पति का, पत्नी का, बहन, भाई, पिता अथवा किसी दूसरे प्रियजन का, इसके अन्दर रहनेवाला चला जाता है तो आप कहते है—"ले जाओ इसे श्मशान-भूमि में, जला दो इसे, दबा दो इसे।"

मै तिब्बत गया तो देखा कि बारह सहस्र फीट की ऊँचाई के पश्चात् कोई वृक्ष नही होता। तिब्बत की औसत ऊँचाई है पन्द्रह सहस्र फ़ीट। वहाँ कोई वृक्ष नहीं, कोई पौधा नही। आश्चर्य से मैने सोचा कि यहाँ के लोग मरनेवालो का अन्तिम संस्कार कैसे करते होंगे? लकड़ी नही, कोयला नही, तेल भी नही, फिर उन्हें जलाते कैसे होगे? मैने अपने पथ-प्रदर्शक कीचखम्बा से पूछा। उसने कहा—"आगे चलकर बताऊँगा।" चलते-चलते रेत का एक टीला-सा आया। उसके ऊपर पत्थर का एक कमरा बना था। कीचखम्बा ने बताया—"यह एक स्थान है जहाँ मरनेवालो का अन्तिम संस्कार होता है। इसको पेरी कहते है।" मैने कहा—"परन्तु यहाँ लकड़ी तो है नही,

संस्कार कैसे करते हैं ?" वह बोला—"पाँच-पाँच, सात-सात, कभी-कभी बारह-बारह मील की दूरी से लोग अपने मरे हुए सम्बन्धी को यहाँ ले आते है। इस कमरे में रहते हैं तीन पुजारी। इनके पास बड़ी-बड़ी और तेज तलवारें हैं। इन तलवारो से वे लाश के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं और इस टीले पर फेंक देते हैं। तब शंख बजाते है। शंख की ध्वनि सुनकर बड़े-बड़े पक्षी आते है। वे इन टुकड़ों को नोच-नोचकर खा जाते हैं।" और यह सब-कुछ सम्बन्धियों के समक्ष होता है जिन्हें मरनेवाला बहुत प्रिय था। मैंने यह सब-कुछ सुना तो मन-ही-मन कहा—'भगवान्, मुझे तो यहाँ मारियो मत ! इस विधि से मरना तो मुझे अच्छा नही लगता। दिल्ली में मारियो ताकि संस्कार तो कर दें।' परन्तु यह तो विनोद की बात है। इस शरीर में रहने-वाला जब चला जाय तो आप शरीर को जलाइये, दबाइये, पानी में बहाइये अथवा टुकड़े-टुकड़े करके पक्षियों के समक्ष डाल दीजिये, शरीर के लिए सब बराबर हैं। इस शरीर का यदि कोई मूल्य है तो तभी तक है, जबतक आत्मा इसके अन्दर है।

इस आत्मा के सम्बन्ध में महाराज जनक ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा—"यह आत्मा क्या है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"प्राणों के भीतर, हृदय के अन्दर यह जगमगाता हुआ ज्योति-पुरुष है, यही आत्मा है। प्राणो से, इन्द्रियों से ढका हुआ, सबके अन्दर निवास करनेवाला यह आत्मा ही ऐसा है जिसे जानने से कल्याण होता है।"

और याज्ञवल्क्य जी ने अपनी पत्नी गार्गी को भी कहा—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि, अन्तवदेवास्य तद् भवति।

—बृह० ३।८।१०॥

"सुनो गार्गी ! सुनो गार्गी ! जो कोई भी इस संसार में उस अक्षर—अविनाशी आत्मा को जाने बिना यज्ञ करता है, सहस्रों वर्ष तक तप करता है, उसका यह सब किया हुआ नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसने आत्मा को नही जाना।"

याज्ञवल्क्य ने यह बात कही तो क्यों ? इसलिए कि आत्मा को

जाने बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं बन सकता। यदि बन सकता तो ये रूसवाले, अमेरिकावाले, यूरोपवाले विज्ञान के क्षेत्र में इतने आगे बढ़े होने पर भी अशान्ति और असन्तोष का शिकार क्यों होते? ये सब लोग दु.ख को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति करता है। दु:ख आए, ऐसा कोई नहीं चाहता परन्तु फिर भी दु:ख आते है, कष्ट आते है, अशान्ति आती है। क्यों आती है? इसलिए कि जानने की वास्तविक वस्तु आत्मा है, उसे जाने बिना मनुष्य का कल्याण है नहीं और आज का प्रकृति का उपासक संसार इस आत्मा को जानना नहीं चाहता, उसे भूल बैठा है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् के ऋषि ने कहा—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

—श्वेता० ६। २०॥

'जब इस संसार के लोग मृगछाला की भाँति, कपड़े या चटाई की भाँति इस आकाश को लपेटकर अपनी बग़ल में दबा लेंगे, तब शायद आत्मा को जाने बिना दु:ख का अन्त हो जायेगा।" उससे पूर्व तो हो नहीं सकता।

परन्तु इस आकाश को मृगछाला या कपड़े की भाँति लपेटकर बगल में दबायेगा कौन? प्रकृति के पाँच तत्त्वों में वह सबसे सूक्ष्म है। करोड़ों खरब मील उसकी लम्बाई है। इतनी ही चौड़ाई और ऊँचाई भी। शायद इससे भी अरबों गुणा अधिक है। चूंकि संसार की बडी-से-बड़ी दूरबीन भी इस अन्तरिक्ष के अन्त को देख नहीं पाती, तब इसे बगल में लपेटकर दबायेगा कौन? स्पष्ट है कि ऐसा हो नहीं सकता। इसलिए दु ख के अन्त की सीधी-सी विधि यह है कि मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बने, और मनुष्य को मनुष्य बनना हो तो आवश्यक है कि वह आत्मा को जाने।

कल मैंने आत्मा की बात शुरू की तो समय हो गया। इस शरीर में पाँच कोश हैं—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। इस आनन्दमय कोश में वह प्रियतम रहता है, जिसे संसार खोजता फिरता है और जिसे जाने

बिना कल्याण नहीं हो सकता।

अन्नमय कोश यह स्थूल शरीर है। अन्न से यह बनता है, अन्न से चलता है, अन्न से बढ़ता है। प्रत्येक वह वस्तु जिससे शरीर बनता है, जिससे इसे शक्ति प्राप्त होती है, जिसके कारण वह चलता-फिरता, खाता-पीता है, मर्यादा से सोता, मर्यादा से जागता, सात्त्विक शक्ति से भरपूर होता है—ये सब वस्तुएँ अन्न हैं। इस शरीर का ध्यान रखना और इसे स्वस्थ रखना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना कोई काम होता नहीं। कहा है न—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

चार वस्तुओं के लिए मनुष्य इस ससार में आता है—धर्म करने के लिए, धन-सम्पत्ति सग्रह करने के लिए, अपनी इच्छाएँ पूरी करने के लिए और अन्त में मुक्ति प्राप्त करने के लिए। चारों वस्तुओं को प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन एक स्वस्थ शरीर है। रोगी और निर्बल व्यक्ति के लिए इन वस्तुओं को प्राप्त करना सम्भव नहीं।

जिसमें रोग नहीं, निर्बलता नहीं, ऐसा मानव-शरीर ही उत्तम अन्नमय कोश है। इसके अन्दर दूसरे कोश हैं जिनमें परमानन्द से भरपूर वह जगमगाती हुई ज्योति रहती है। परन्तु हमें तो इस अन्नमय कोश का भी पूरा ज्ञान नहीं। यह कोश बना है अन्न का और हमने खाने-पीने का ही प्रबन्ध बिगाड रक्खा है। चाट सामने आ गई तो खा ली; बाद में दवाइयाँ खाते फिरे। पूरियाँ सामने आईं तो खा ली; बाद में चूर्ण खाते फिरे। यह तो अन्नमय कोश को ठीक प्रकार से अन्न देना नहीं। इस कोश को ठीक रखना हो तो आहार, खाना-पीना, ठीक होना चाहिए। आयुर्वेद-शास्त्र कहता है कि इस शरीर में चार वस्तुएँ है, चारों ठीक रहे तो शरीर ठीक रहता है। पहली वस्तु है त्रिदोष—वात, पित्त और कफ। दूसरी वस्तु है अग्नि। तीसरी वस्तु है धातु—रक्त, चर्बी, हड्डी, वीर्य आदि। चौथी वस्तु है मल जिसका शरीर में बनना आवश्यक है और बनने के पश्चात् शरीर से बाहर निकलना भी आवश्यक है। हमारे शास्त्र कहते है—

समदोषाः समग्निश्च समधातु मलक्रिया।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

जिसमें वात, पित्त और कफ ठीक अवस्था में है, जिसके अन्दर विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ ठीक अवस्था में है, जिसके धातु ठीक अवस्था मे हैं, जिसे मलावरोध (कब्ज) या पेचिश आदि से दु:खी नहीं होना पड़ता और जिसकी आत्मा प्रसन्न है, इन्द्रियाँ प्रसन्न है, वही व्यक्ति स्वस्थ है।

अब आप स्वय देखिये कि आप स्वस्थ है या नही ? आपका यह अन्नमय कोश ठीक अवस्था मे है या नही ? जो व्यक्ति स्वस्थ है, जिसका मन प्रसन्न है, जिसकी इन्द्रियाँ प्रसन्न है, जिसकी आत्मा में प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाली निर्मलता है, वह बहुत देर तक जी सकता है।

मैंने पिछले दिनों एक प्राचीन ग्रन्थ में पढा कि सतयुग में मनुष्य की साधारण आयु चार सौ वर्ष थी, त्रेता में तीन सौ वर्ष थी, द्वापर में दो सौ और अब कलियुग मे एक सौ वर्ष रह गई है। प्रतीत होता है कि शायद कोई पाँचवाँ युग शुरू हो रहा है, क्योंकि अब तो लोगों की साधारण आयु सौ वर्ष भी नही रही। कुछ लोग सौ वर्ष जीते है, शेष पहले ही चले जाते हैं। कुछ लोग कहते है कि यह दो सौ, तीन सौ, चार सौ वर्ष की आयु तो केवल गप्प है। इतनी देर कोई जो नहीं सकता। परन्तु यह तो अपने ग्रन्थों को और अपने इतिहास को न जानने का परिणाम है।

महर्षि अग्निवेश और चरक ने लिखा है कि—अब से पूर्व के लोग ठीक प्रकार के रसायनों का प्रयोग करके एक सहस्र वर्ष तक जीवित रहते थे और उन्हें वृद्धावस्था, निर्बलता और बीमारी जैसा कोई भी कष्ट नही होता था।

और फिर महाभारत में तो स्पष्ट लिखा है कि भगवान् कृष्ण ने जब अपना शरीर-त्याग किया था तो उनकी आयु १२५ वर्ष थी। द्रोणाचार्य जब कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध कर रहे थे तो उनकी अवस्था चार सौ वर्ष की थी। भीष्म पितामह जब शरशय्या पर सोये तो उनकी आयु १६० वर्ष थी। जिन लोगो को ये बाते गलत लगती हैं और जो समझते है कि ऐसी बातें हो ही नही सकतीं, उन्हे महर्षि दयानन्द की पुस्तक 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' देखनी चाहिए जहाँ

महर्षि ने यजुर्वेद के एक मन्त्र का अर्थ करते हुए इस बात को सत्य कहा है। यजुर्वेद का मन्त्र है—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥

—यजु० ३। ६२॥

महर्षि इसका अर्थ करते हुए कहते हैं—"इस मन्त्र में यह उपदेश है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य और अन्य नियमो का पालन करके अपनी आयु को तीन गुणा और चार गुणा भी कर सकता है, अर्थात् तीन सौ, चार सौ वर्ष तक सुख से जी सकता है।"

यह है वेद का उपदेश। मनुष्य इस अन्नमय कोश की रक्षा करे तो बहुत देर तक इससे काम ले सकता है। आप पूछेगे कैसे ले सकता है? उसका साधन क्या है? तो दूसरे साधनों के अतिरिक्त 'गोपथ-ब्राह्मण' मे एक बहुत सीधा और सरल साधन बताया है। वह यह कि जो व्यक्ति नियम के साथ दिन-रात में केवल दो बार खाता है और थोडा खाता है वह दीर्घायु प्राप्त करता है।

परन्तु आजकल किसी से दिन मे केवल दो बार खाने की बात करके तो देखो। लोग प्रातः उठते हैं तो चाय पीते है, फिर नाश्ता करते है, तब दोपहर को लंच करते है, फिर शाम को चाय पीते हैं, तब रात का खाना खाते है और फिर सोने से पहले भी तो कुछ खाना हुआ न! उसे 'सपर' कहते है और बीच-बीच मे स्नैक्स (Snacks) तो चलते ही रहते है। अब बताओ, आयु बेचारी क्या करे और स्वास्थ्य क्या करे? और फिर अब तो डॉक्टरों ने भी कहना शुरू कर दिया है कि दिन मे थोड़ा-थोड़ा करके बहुत बार खाओ। हर समय खाना ही है तो फिर मनुष्य और पशु मे अन्तर क्या रह गया?

उपनिषद् में एक कथा आती है कि प्रजापति ने सृष्टि बनाई तो मनुष्य और पशु सब उनके पास गए। पशुओं ने पूछा—"आपने हमें बना तो दिया परन्तु यह तो बताया नही कि हमें दिन मे कितनी बार खाना चाहिए?" प्रजापति ने कहा—"दिन में, रात मे, जब तुम्हारी इच्छा हो, उतनी ही बार खाओ, तुम्हारे लिए कोई रुकावट नही।" मनुष्यों ने सुना तो बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने समझा, हमे भी यही

आदेश मिलेगा। आगे बढकर उन्होने पूछा—"और हम कितनी बार खाये प्रजापति ?" प्रजापति बोले—"तुम मनुष्य हो, तुम चौबीस घण्टों में केवल दो बार खाओ ।" मनुष्यो ने सुना तो बड़े उदास हुए । कुछ लोगों ने प्रजापति की बात मानी, दूसरो ने नही । मन-ही-मन उन्होंने कहा—'प्रजापति तो बूढे हो गए है । इस बात का निर्णय हम करेंगे कि हमें कितनी बार खाना है ।' प्रतीत होता है ऐसा सोचनेवाले सब लोग इस युग में उत्पन्न हो गए है । प्रभात से रात तक खाते ही रहते हैं । शायद रात को स्वप्न भी खाने-पीने के देखते है । आप गाडी में यात्रा कोजिये । प्रातः हो, दोपहर हो, शाम हो या रात के दो बजे हों, इधर गाडी स्टेशन पर पहुँचती है उधर आवाजें आने लगती हैं—"ताजा पूरी, ताजा हलवा, हापुड के पापड़, गाजियाबाद के समोसे ।" अब आप खाना ही चाहें तो मै रोकनेवाला कौन हूँ ? परन्तु हँसी की एक बात मै कई लोगों को सुनाता हूँ, आप भी सुनिये !

भगवान् मनुष्य को बनाता है न, तो उसका राशन भी निश्चित कर देता है । यह राशन आप थोडा-थोड़ा करके अधिक देर खाओगे तो अधिक समय तक जियोगे । जल्दी-जल्दी अधिक खाओगे तो राशन समाप्त होते ही टिकट कट जायेगा । इसलिए थोड़ा खाओ । बहुत खाना स्वास्थ्य का नही अपितु रोग का कारण बन जाता है । मैंने पहले भी इस कथा में आयुर्वेद-शास्त्र का वह नियम आपके समक्ष रक्खा जो मनुष्य को स्वस्थ रखता है; आज भी उसकी पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ, नियम है—

पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात् ।

जो व्यक्ति अपनी प्रकृति को समझने के पश्चात् उसके अनुसार जीने के लिए खाता है, खाने के लिए नहीं जीता है; जो खाये हुए को पचाता है; व्यायाम और परिश्रम से इस अन्नमय कोश को मोटा और रोगी नही होने देता; और पुरुष हो तो स्त्रियों के सम्बन्ध में, स्त्री हो तो पुरुष के सम्बन्ध में जिसने अपने पर काबू पा लिया है, ऐसा व्यक्ति कभी रोगी नही होता ।

जो व्यक्ति इस सीधे-से नियम को भूलता हे, वह आज नही तो कल, रोगी होगा अवश्य । मैं जब 'आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा' का

प्रधान था तो एक उपदेशक थे हमारे। हम उन्हे 'भगौन' कहते थे। उन्हे खीर खाने का बहुत शौक था। एक बार हम मुलतान गए। मुलतान के लोग अतिथि-सत्कार बहुत करते थे। खाना परोसा गया तो खीर सामने आई। मैंने देखा कि खीर को देखते ही भगौन जी की आँखें चमक उठी है। धीरे-से मैने खीर का वह कटोरा भी जो मेरी थाली मे था, भगौन जी के सामने रख दिया। भगौन जी पहले तो 'न-न' करते रहे, फिर दोनो कटोरों को अपने सामने रखकर बैठ गये। मेरे साथ बैठे थे श्री भगतराम जी शास्त्री। मैने उन्हे संकेत किया तो उन्होने भी अपनी खीर भगौन जी को दे दी। भगौन जी तीनों कटोरे खा गये। वे खीर मे लाल मिर्चें मिलाकर खाते थे। उस दिन भी उन्होंने ऐसा किया। शाम को उनके भजन होनेवाले थे। समय आया तो भगौन जी अदृश्य। पता लगा कि दोपहर से उन्हे जुलाब लगे हैं। वे अपने बिस्तर से बाथरूम तक जाते है, बाथरूम से बिस्तर तक। तीसरी बात उनसे होती नहीं। अब ऐसा खाने का लाभ क्या हुआ? खाओ अवश्य। अन्न के बिना यह अन्नमय कोश रहता नहीं, परन्तु ठीक वस्तु खाओ, थोड़ी खाओ, खाने के पश्चात् उसे परिश्रम और व्यायाम से पचाओ। पचने से जो शक्ति बनती है उसकी रक्षा करो।

आप लोग इस बडे शहर में रहते है। यहाँ इस बात की ओर ध्यान देने की अधिक आवश्यकता है; क्योकि नगर, जहाँ सभ्यता और संस्कृति, शिक्षा और राजनीति के अड्डे है वहाँ बीमारियों के अड्डे भी हैं। एक बार हिमालय के कुछ ऋषि नगरों मे प्रचार करने के लिए आये। वापस गए तो इन्द्र को मिले। इन्द्र ने देखा, उनके शरीर निर्बल हो गये थे। मुखमण्डल का रग उड़ गया था। इन्द्र ने कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"हम नगरों में प्रचार करने गये थे, वहाँ यही हाल होता है।" मै यह नहीं कहता कि नगरो में रहनेवाले सदा ही बीमार रहते हैं, परन्तु जो लोग शहरो में निवास करते है उनके लिए आवश्यक है कि वे अपने शरीर का अधिक ध्यान रक्खे। यहाँ बीमार होने की सम्भावना अधिक है।

परन्तु मै जब बार-बार कहता हूँ कि थोडा खाओ तो इसका यह अर्थ नही कि एकदम से खाना-पीना बन्द ही कर दो। महीने या पन्द्रह

दिन में एक व्रत रख लेना उत्तम है परन्तु बिना कारण लम्बे-लम्बे व्रत रखकर शरीर को निर्बल करने का प्रयत्न करना ठीक नहीं। अब तो ऐसे लोग कम हो गये हैं, पहले बहुत होते थे जो एक भुजा को ऊपर करके वर्षों ऊपर रखते थे। परिणाम यह होता था कि बाहु सूखकर व्यर्थ हो जाता था। देखनेवाले उन्हें देखते, तपस्वी और महात्मा कहते। परन्तु यह न तो तप है, न महात्मापन है। यह तो भगवान् के दिये शरीर को व्यर्थ बनाकर दूसरो के लिए बोझ बनना है। जिसका एक हाथ व्यर्थ हो गया स्पष्ट है कि वह एक हाथ से सब कार्य नही कर सकता, दूसरो के लिए आपत्ति बनता है। एक महात्माजी मैंने देखे। वे अपने हाथ से खाना नही खाते थे। दूसरों को उनके मुँह में ग्रास डालने पड़ते थे। उन्हे प्यास लगे तो दूसरों को गिलास उठाकर उनके होठों से लगाना पड़ता था। कई लोग उनके सम्बन्ध में कहते थे—"कितने बड़े महात्मा है ये!" मैंने उन्हे देखा तो सोचा, 'कितने ग़लत महात्मा है ये! दोनों हाथ अच्छे-भले विद्यमान है, फिर भी ये दूसरो के लिए आपत्ति बन गये है।' यह तप नहीं है, तप का पाखड है केवल।

ऐसे ही एक महात्मा एक बार हमारे गाँव में आये। मै तब बच्चा था। लोग उन्हें 'पवन-आहारी बाबा' कहते थे। गाँव से बाहर एक उद्यान मे वे ठहरे थे। मै उन्हें देखने गया। देखा कि जो लोग उनका दर्शन करने को जाते हैं वे अपने साथ कितने ही फल, मिठाइयाँ, बादाम, मेवा और दूसरी वस्तुएँ लिये जाते है, उन बाबाजी को देखकर उनकी कुटिया से बाहर आ जाते है। मैंने आश्चर्य के साथ सोचा कि यदि बाबाजी पवन-आहारी हैं, हवा खाकर जीवित रहते है तो उन वस्तुओं का क्या करते हैं जिनसे पूरे एक मुहल्ले का पेट भर सकता है? आज-तक इसका उत्तर मुझे मिला नही। सचाई यह है कि थोड़ा खाना चाहिए अवश्य, परन्तु अन्न को बिल्कुल छोड देने का प्रयत्न करना या बिल्कुल छोड़ देने का दिखावा करना ठीक नही। यह अन्नमय कोश है, अन्न के बिना रहता नही। इसलिए व्रत भी रखना हो तो मर्यादा में रहकर रखना चाहिए। किसी उत्तम उद्देश्य को सामने रखकर रखना चाहिए। ये माताएँ और बहने करवाचौथ का व्रत रखती हैं, इसलिए कि पति

की आयु लम्बी हो। यह उत्तम उद्देश्य है। यदि आप इसलिए व्रत रखते है कि आपका स्वास्थ्य उत्तम रहे, पन्द्रह दिन या मास मे एक बार शरीर मे जो पाचन करने की मशीन है उसे पूर्ण विश्राम मिल जाय तो यह भी उत्तम उद्देश्य है। यदि आप एक सप्ताह में एक बार इसलिए व्रत रखते है कि इस प्रकार जो पैसे बचे उन्हें देश की रक्षा के फ़ण्ड मे दे देगे तो यह भी अच्छा उद्देश्य है।

देश पर आपत्ति हो तो उसके लिए तप करना उचित है। कई लोग सिगरेट पीते है। मै आजतक समझ नही सका कि सिगरेट पीने से उन्हे मिलता क्या है ? पेट भरता नहीं, मुँह कडवा होता है, दूसरों के लिए बदबू फैलती है, अपने लिए रोग उत्पन्न होते है, स्वास्थ्य नष्ट होता है, आयु घटती है। ऐसी वस्तु को आखिर पीना क्यों ? आज देश पर सकट है तो बुद्धिमत्ता की बात यह है कि सिगरेट पीना छोड़ दीजिये और जो पैसा बचे वह देश की रक्षा के लिए दे दीजिये।

परन्तु जब मै सिगरेट छोड़ने या ऐसी दूसरी फ़ालतू वस्तुएँ छोड़ने और मास या पन्द्रह दिन में एक व्रत रखने की बात कहता हूँ तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि आप उस व्यक्ति की भाँति कंजूस बन जायँ जिसका लोटा कुएँ में गिर गया था। उस व्यक्ति का लोटा प्रयत्न करने पर भी बाहर नही निकला तो उसने कहा—"कुएँ से नहीं निकलता तो न निकले, मै पेट से निकाल लूँगा।" और पेट से लोटा निकालने के लिए उसने हर दूसरे दिन व्रत रखना शुरू कर दिया। ऐसा नहीं करना आप। यह अन्नमय कोश है। इसकी रक्षा करना आवश्यक है। यह आठ चक्रो और नौ द्वारों वाली देवताओं की नगरी है जिसके प्रत्येक द्वार पर देवता बैठे हैं। इसी के अन्दर सोने की भाँति चमकता हुआ वह ज्ञानमय कोश है जिसमे ज्योति से भरपूर स्वर्ग है जहाँ परमानन्द, परमशक्ति, परमशान्ति से भरपूर परमब्रह्म के दर्शन होते है। परन्तु देखो जी, समय हो गया। अब शेष बात कल।

ओ३म् शम् !

·बारहवाँ दिन

ओम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।।

प्यारी माताओ और सज्जनो !

कल मैंने बताया कि मनुष्य पाँच कोशो का समूह है। एक के भीतर एक, पाँच कोश है हमारे भीतर। एक के पश्चात् एक कोश को प्राप्त करना पडता है। तब वह अन्तिम कोश आता है जहाँ परमानन्द से भरपूर परमेश्वर चमकते हुए स्वर्ग की भाँति दृष्टिगोचर होता है, मिलता है। विद्यमान वह प्रत्येक स्थान पर है परन्तु उसके दर्शन उस पाँचवे कोश में होते है। इन पाँचों कोशो में सबसे पहला और बाहर का है अन्नमय कोश—यह मानव-शरीर। इसकी रक्षा करनी चाहिये, इसे खिलाना चाहिये, पिलाना चाहिये। अधिक सर्दी हो, गर्मी हो, वर्षा हो, तो इसे बचाना चाहिए। सत्ययुग मे मनुष्य की अवस्था चार सौ वर्ष थी, त्रेता मे तीन सौ रह गई, द्वापर में दो सौ, कलियुग में एक सौ। अब इससे भी कम रही जाती है तो इसलिए कि खाने-पीने का ढग बदल गया है। या तो दिन में छह-छह बार खाते है (जबकि आयुर्वेद-शास्त्र कहता है कि जो व्यक्ति केवल दो बार खाये उसकी आयु लम्बी होती है) या फिर व्यर्थ के और अनुचित व्रत रखना शुरू कर देते है (जबकि व्रत शरीर को स्वस्थ रखने के लिए या आध्यात्मिक शक्ति के लिए रखना चाहिए, शरीर को निर्बल करने के लिए नहीं)।

परन्तु यह अन्नमय कोश—यह मानव-शरीर केवल खाने-पीने के लिए नही। यह देवभूमि है। यह ऋषियों की तपोभूमि है। इसमें सोने की भाँति चमकता हुआ वह कोश है जिसमें ज्योति से भरपूर स्वर्ग जगमगाता है। आठ चक्र है इसमें, नौ द्वार है। यह देवताओं की नगरी है। इसके प्रत्येक द्वार पर एक-एक देवता पहरा देता है। नौ द्वार हैं - दो आँखे, दो कान, नासिका के दो छिद्र, एक मुँह, मल और मूत्र के दो मार्ग। आठ चक्र हैं—मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहद चक्र, हंस चक्र, विशुद्धि चक्र, आज्ञा चक्र,

और सहस्रार चक्र जिसे दशम द्वार भी कहते है। ये सब इस शरीर के भीतर विभिन्न अंग हैं।

ऐसी है यह नगरी। यह घृणा करने की नही, अपितु सँभालकर रखने की वस्तु हैं। यही वह मन्दिर है जिसमे उस प्रीतम प्यारे प्रभु परमेश्वर के दर्शन होते है। योगशास्त्र ने ये आठ चक्र बताये तो इसलिए कि शरीर के विभिन्न अंगों पर ध्यान करने से विभिन्न आनन्द मिलते है। नाक की नोक पर ध्यान जमाइये तो कुछ दिनों के पश्चात् एक विचित्र प्रकार की भीनी-भीनी और मन-मोहिनी सुगन्ध आने लगती है। यह सुगन्ध संसार के किसी पुष्प मे, किसी इत्र में, किसी सेण्ट में है नहीं। जिह्वा की नोक पर ध्यान जमाइये तो कुछ दिनों के पश्चात् एक विचित्र प्रकार का अत्यधिक स्वादिष्ट रस जिह्वा पर आने लगता है। यह रस, यह स्वाद संसार के किसी भी पदार्थ मे है नहीं। स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट खाना भी इसके सामने तुच्छ प्रतीत होता है। कान मे ध्यान लगाइये तो कुछ दिनों पश्चात् एक विचित्र प्रकार की सुरीली और मीठी ध्वनियाँ आने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई प्रकार के बाजे बज रहे है। परन्तु उनमें कोई भी इस संसार का बाजा नही, किसी अन्य ससार के, किसी और प्रकार के वाद्य हैं वे, एक और प्रकार का सगीत। इसी को अनहद शब्द या अनहद नाद भी कहते है। इस प्रकार शरीर के विभिन्न अगों पर, विभिन्न चक्रों पर विभिन्न प्रकार के अनुभव होते है। यह शरीर केवल खाने-पीने की वस्तु नही, एक और काम भी आता है जो इसका वास्तविक काम है। इन आठ चक्रों का भेदन करके ही मनुष्य उस परम प्यारे प्रीतम का दर्शन करता है। एक के पश्चात् दूसरे कोश से गुजरकर उस आनन्दमय कोश मे पहुँचता है जहाँ ज्योति से भरपूर, चमकता, जगमगाता हुआ स्वर्ग विद्यमान है। इन सभी चक्रो व कोशों का आधार अन्नमय कोश—मानव-शरीर है।

अपने प्रीतम प्यारे के लिए हमे एक मन्दिर चाहिए। अपने देवता के लिए, जिसमे इतना महान् देवता रहे, जिसमें देवो का महादेव सामने आकर दर्शन दे, वह मन्दिर महान् होना चाहिए न? इस महान् मन्दिर की आधारशिला भी दृढ होनी चाहिए—जितना बडा

भवन उतनी ही दृढ नीव। यह शरीर—अन्नमय-कोश इस मन्दिर की नीव है। जिसकी यह आधारशिला ही ठीक नहीं, यह अन्नमय कोश ठीक नहीं, उसे न भजन का स्वाद आता है, न भोजन का। लोक और परलोक दोनों से गया वह। बैठ गया भजन में, अब कभी कमर दर्द करती है, कभी घुटने दुखते है, कभी खाँसी आने लगती है तो ऐसा व्यक्ति भजन कैसे करेगा ? इसीलिए मै बार-बार कहता हूँ कि इस शरीर को, इस अन्नमय कोश को दृढ़ बनाओ, स्वस्थ बनाओ। केवल इसलिए नही कि तुम देर तक जी सको, अपितु इसलिए भी कि अपने प्रभु के दर्शन कर सको।

हठयोग के कुछ साधन हैं, जिनसे यह शरीर स्वस्थ रहता है। मै जब लाहौर मे था तो हठयोग के इन साधनो को करता रहा। धोती, नेती, बस्ती आदि उपाय मैंने अपनाये। इक्कीस हाथ लम्बा, कुछ अगुल चौड़ा कपड़ा दूध में भिगोकर निगल जाता और फिर उसे धीरे-धीरे मुँह के रास्ते बाहर निकालता था। ऐसे कई अन्य उपाय भी करता था। इनसे शरीर को कुछ लाभ होता है अवश्य, परन्तु इन्हे गलत विधि से किया जाय या इनमे कुछ कमी रह जाय तो शरीर को हानि होती है। कई बार ऐसे रोग चिमट जाते है जो किसी भी प्रकार ठीक नही होते। इसलिए यह जानते हुए भी कि हठयोग के साधनों से शरीर को लाभ पहुँचता है, मैं आपसे कहता हूँ कि आप इस झंझट में मत पडिये। इसकी बजाय सरल मार्ग अपनाइये। और सरल मार्ग यह कि थोड़ा खाइये, अच्छा खाइये, दिन-भर में केवल दो बार खाइये। कभी-कभी व्रत रखिये, पेट को विश्राम लेने दीजिये। थोडा-बहुत व्यायाम कीजिये और प्रसन्न रहिये। हमारे ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते है कि जो व्यक्ति थोड़ा खाता है, जो ऋतु-परिवर्तन मे सामवेद गाता है और जो प्रतिदिन श्रद्धा के साथ यज्ञ करता है, उसकी आयु दीर्घ हो जाती है। सौ वर्ष मृत्यु उसके निकट नही आती।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अठारहवे सूक्त का चौथा मन्त्र है—

शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन।

सुनो ऐ मनुष्यो ! तुममें से प्रत्येक मनुष्य सौ वर्ष तक जिये। इससे भी अधिक जिये। परन्तु यदि सौ वर्ष से पूर्व मृत्यु आये तो उसके सामने

पर्वत खड़े कर दो। उसका मार्ग रोक दो, ताकि वह तुम्हारे पास न आ सके।

परन्तु मार्ग रोकने की विधि क्या है ? छान्दोग्य उपनिषद् में ऐतरेय महिदास की कथा आती है। वैद्य ने कहा कि उसका जीवन अधिक-से-अधिक दस-पन्द्रह दिन और है, इसके पश्चात् वह जियेगा नही।

ऐतरेय महिदास ने यह बात सुनी तो एक यज्ञ आरम्भ कर दिया जो ११४ वर्ष में पूरा होता है। यज्ञ को शुरू करते हुए उसने घोषणा की--"जबतक मैं श्रद्धा और विश्वास के साथ यज्ञ करता हूँ, तबतक मृत्यु मेरे निकट नहीं आ सकती।"

यह है सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक समय तक स्वस्थ रहकर जीने का मार्ग। दृढ सकल्प करो कि हमे मरना नहीं। उत्साह के साथ, वीरता के साथ जियो। स्मरण रक्खो ! वीर जीवन में केवल एक बार मरता है, कायर जीता रहे तो पग-पग पर मरता है। हर समय निराशा को अपने गले का हार बनाये रखना, निराशा की बाते करना, निराशा-वाद को अपना सिद्धान्त बना लेना—यह जीने का मार्ग नहीं। ऐसा व्यक्ति जीता हुआ भी मृतक है।

एक और वेद-मन्त्र है—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत ।

—ऋ० १० । १८ । २ ॥

इसका अर्थ है कि सौ वर्ष तक मृत्यु को पीछे धकेलते हुए आगे बढते जाओ। यह है आत्मविश्वास की, आशावाद की बात।

कुछ भाई कहते है कि आप बार-बार आयु को बढाने की बात कहते है, मृत्यु को काटने की बात भी, परन्तु मृत्यु तो प्रत्येक व्यक्ति की निश्चित है, उसे टाल कौन सकता है ? देखिये, इस रहस्य को समझने का प्रयत्न कीजिये। योग-दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व तीन बातें निश्चित हो जाती हैं—यह कि उसे कौन-कौन-से कर्मो का फल भोगना है, यह कि उसे मनुष्य, पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष आदि कौन-से शरीर में इस कर्म का फल भोगना है; और यह कि इसकी आयु क्या है। परन्तु यह आयु दिनो, सप्ताहों, मासों या वर्षो में नहीं अपितु श्वासों पर निर्भर होती है। आप ये श्वास

पच्चीस वर्ष में लें, पचास वर्ष में, सौ वर्ष में या इससे भी अधिक वर्षों में—यह जीनेवाले पर निर्भर है। आप सात्त्विक जीवन-यापन करें, सात्त्विक विचार अपनाएँ; काम, क्रोध, अहंकार आदि से दूर रहें तो आपकी साँस धीरे चलेगी और आपकी आयु लम्बी हो जायेगी। इसके विरुद्ध रजोगुण से भरपूर भोजन खाइये, तमोगुणी या रजोगुणी विचारों को अपनाइये, अपने जीवन को तमोगुण या रजोगुण से भर दीजिये, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि का अपना स्वभाव बना लीजिये तो श्वास तेजी से चलेगा, आयु कम हो जायेगी।

अब बताइये कि श्वास को धीरे चलाना या तेज़ चलाना आपके वश में है या नहीं?

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मृत्यु को पहले बुलाना या बाद में बुलाना आपके वश में है। आप चाहें तो आयु को बढ़ा सकते हैं, चाहें तो घटा भी सकते हैं।

परन्तु ज्ञात होता है कि यह अन्नमय कोश—यह शरीर मुझे और आपको छोड़ता नहीं।

आर्यसमाज हनुमान रोड में मैं इसी की बात कहता रहा। अब आर्यसमाज अनारकली रीडिंग रोड में भी इसी की बात कह रहा हूँ। इसलिए इसके सम्बन्ध में इतना-कुछ मैंने कहा और इसपर बल दिया कि यह अन्नमय कोश ही वह दुर्ग है जिसके अन्दर दूसरे सभी कोश रहते हैं और जिसके अन्दर भगवान् के दर्शन होते हैं। वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से इस अन्नमय कोश में, इस शरीर में इतना गन्धक है कि माचिस की बीस डिबियाँ बन सकें। इतनी चर्बी है कि साबुन की पच्चीस टिक्कियाँ बन जाएँ। इतना चूना है कि एक छोटे-से कमरे में सफेदी हो सके। इतना लोहा है कि दो इंच लम्बी पतली-सी कील बनाई जा सके। इसके अतिरिक्त थोड़ी-सी खाँड, कुछ नमक और छत्तीस सेर पानी भी है। इन सब वस्तुओं का कुल मूल्य पुराने समय में बारह आने था। अब इस महँगाई के कारण शायद दो रुपये होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इतना ही मूल्य है इस शरीर का।

परन्तु हमारे योगियों और ऋषियों के दृष्टिकोण से, भगवान् वेद के दृष्टिकोण से यह शरीर देवताओं की नगरी है, ऋषियों की तपो-

भूमि है। यह वह नाव है, जिसका आश्रय लेकर आत्मा संसार-रूपी इस समुद्र से पार उतर जाता है। इसलिए इस अन्नमय कोश का मैंने विशद वर्णन किया। परन्तु यह मानव-शरीर केवल खाने-पीने, स्वास्थ्य बनाने और आयु बढ़ाने के लिए तो है नहीं। इसका वास्तविक उद्देश्य है आत्मदर्शन। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा था—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते।
तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवदेवास्य तद् भवति॥
—बृह० ३।८।१०॥

सुनो गार्गी! सुनो गार्गी! जो मनुष्य इस अक्षर आत्मा को जाने बिना इस संसार में यज्ञ करता है या तप करता है, चाहे कई सहस्र वर्ष तक करे, उसका यह सब नष्ट होनेवाला है।

आगे चलकर उन्होंने फिर कहा—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं, न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
—बृह० ४।४।१४॥

यदि इस मानव-शरीर में, इस जीवन में उसे जान लिया तो ठीक है, नहीं तो महान् विनाश होता है।

परन्तु इस आत्मा को और इसके अन्दर विराजमान इस अक्षर-ब्रह्म को जाना कैसे जायेगा? कैसे देखना होगा उसे? इसके लिए अन्नमय कोश से आगे चलना होगा। अन्नमय कोश के अन्दर खोज करनी होगी। आगे बढ़े हम तो किस मुहल्ले में पहुँचते है? इसका नाम है प्राणमय कोश—श्वासों की नगरी। परन्तु प्राण का अर्थ केवल यह बाहर और अन्दर जानेवाला श्वास नहीं। प्राण पाँच है। इसके साथ-साथ पाँच उपप्राण भी हैं।

प्राण हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

प्राण यह श्वास है जो हर समय बाहर आता है, भीतर जाता है। फिर बाहर आता, फिर भीतर जाता है। अपान वह प्राण है जो नाभि से लेकर पाँव तक रहता है, शरीर के उस अंग को चलाता है। समान वह है जो नाभि से लेकर हृदय तक काम करता है। उदान वह है जो हृदय से ऊपर सिर तक काम करता है, और व्यान वह है जो शरीर के प्राण को बाहर के प्राण से मिलाये रखता है।

और पांच उपप्राण हैं—देवदत्त, कृकल, नाग, कूर्म, और धनञ्जय।

देवदत्त वह उपप्राण है, जिसके कारण हमें छींक आती है। कृकल वह उपप्राण है, जिसके कारण हमें उबासी या जम्हाई आती है। नाग वह उपप्राण है, जिसके कारण डकार आती है। कूर्म वह उपप्राण है, जिसके कारण दु:ख, चिन्ता या थकावट की अवस्था में हम लम्बी साँस लेते हैं और धनञ्जय वह उपप्राण है जो व्यान की भाँति बाहर और भीतर के प्राणों को परस्पर मिलाये रखता है।

ये दस प्राण हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्म प्राण भी है। इन ग्यारह के योग को हम प्राण कहते हैं। इस प्राण के कारण ही यह शरीर चलता है, देखता है, सुनता है, सूंघता है और दूसरे सभी काम करता है। यही वह शक्ति है जो इस शरीर को जीवित रखती है। यह न रहे तो अच्छा-भला शरीर लाश बन जाता है। कुछ दिनों के पश्चात् मिट्टी का ढेर हो जाता है। बहुत मूल्यवान् वस्तु है यह प्राण। इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् ने कहा—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।

—छान्दो० ५।१।१॥

प्राण ही सबसे बड़ा है, सबसे श्रेष्ठ है, सबसे अधिक मूल्यवाला है, शरीर की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

इस बात को समझना बहुत कठिन नहीं। तनिक सोचिये कि यदि थोड़ी देर के लिए भी आपको हवा न मिले तो आपकी क्या अवस्था होगी? परन्तु यह हवा भी तबतक कार्य करती है, जबतक शरीर में प्राण है। यह निकल जाय तो हवा नहीं आँधी भी चलती रहे, तूफ़ान आते रहे, लाश कभी जीवित होती नही।

आप कहेंगे, "यह तो सुन लिया आनन्द स्वामी! परन्तु यह प्राण है क्या?"

तो सुनो! जैसे यह अन्नमय कोश—यह शरीर है—इसका रूप है, रंग है, लम्बाई और चौड़ाई है, ठीक इसी प्रकार प्राणमय कोश का भी रंग-रूप और लम्बाई-चौड़ाई है। अन्तर केवल यह है कि अन्नमय कोश को हम बाहर की आँखों से देख सकते हैं, प्राणमय

कोश को इन आँखों से देख नहीं पाते। अन्नमय कोश स्थूल है, ठोस है और प्राणमय कोश सूक्ष्म है। परन्तु सूक्ष्म होने पर भी इसका रंग-रूप सब-कुछ है। यदि कभी इस प्राण को आप देख सकें तो पता चलेगा कि इसका रंग नीला है, हल्का नीला रंग। कभी-कभी वह नीलाहट प्रकाश के रूप में परिवर्तित हो जाती है। कई लोगों को हम देखते हैं कि उनके अन्दर से एक नीला-सा प्रकाश निकलता दिखाई देता है। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज की, कई दूसरे महात्माओं की तस्वीरें आपने देखी होंगी। मुखमण्डल पर प्रकाश का एक चक्र बना दिया जाता है। यह प्रकाश वस्तुतः प्राण का प्रकाश है। जैसे हम कभी-कभी चन्द्रमा के गिर्द हाला देखते है, ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति के गिर्द भी हाला विद्यमान रहता है, क्योंकि प्राण प्रकाशवाला है। कभी यह प्रकाश बढता है, कभी कम हो जाता है। इसका घटना और बढ़ना मनुष्य के जीवन पर निर्भर है, उसके मन की अवस्था पर निर्भर है।

उपनिषदों में प्राण के महत्त्व के सम्बन्ध में कई कथाएँ आती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् की ही एक कथा है कि एक बार प्राणों और इन्द्रियों में विवाद उत्पन्न हो गया कि शरीर में बड़ा कौन है। आँख ने कहा—"मैं बड़ी हूँ।" कान ने कहा—"मै बड़ा हूँ।" जिह्वा, नाक, मन, बुद्धि, सबने यह दावा किया। झगडा बढ़ा तो सबने कहा—"इस प्रकार निर्णय नहीं होगा। चलो प्रजापति के पास चलें, उनसे पूछें कि हममें कौन बड़ा है?" तो लो जी! गये वे सब प्रजापति के पास; बोले—"महाराज! एक प्रश्न का उत्तर हमें नहीं मिलता। हम सब-के-सब मनुष्य के शरीर में रहते है। परन्तु हममें बड़ा कौन है, इसका निर्णय हम कर नही पाते।"

प्रजापति ने कहा—"जिसके निकल जाने से यह शरीर कुरूप और व्यर्थ हो जाता है वही तुममें सबसे बड़ा है।"

सबने कहा—"यह तो सरल मार्ग है। हम सब निकलकर देखते हैं।"

तो सबसे पहले आँख निकल गई। शरीरवाला अन्धा हो गया। आँखों के बिना कुछ कुरूप भी लगा परन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ

हुआ नहीं। शरीर जीवित रहा; सब कार्य करता रहा। सूरदास भी तो संसार में जीते है! कई बड़े-बडे काम भी करते हैं। हमारे बिल्वामङ्गल जी ने तो सूरदास होने के पश्चात् ही अपने महाकाव्य की रचना की। आँख ने यह अवस्था देखी तो वापस आ गई; बोली—"नही, मेरे निकल जाने से यह शरीर व्यर्थ नहीं हुआ। मेरा अभिमान ग़लत था। मै सबसे बड़ी हूँ नहीं।"

तब कान ने कहा—"मै निकलता हूँ।"

सबने कहा—"अच्छी बात है, निकलो।"

परन्तु कान के निकल जाने से भी कुछ हुआ नहीं। ससार में बहरे लोग भी तो जीते हैं! बहरे होने के कारण उनका जीवन तो समाप्त नही हो जाता। कान भी निराश होकर वापस आ गया।

तब जिह्वा ने कहा—"मैं निकलती हूँ।"

निकली वह, परन्तु संसार में कई गूंगे भी तो होते है! गूंगे होने के कारण जीवन तो समाप्त नहीं हो जाता, जीवन तो चलता ही रहता है, इसलिए जिह्वा भी हारकर वापस आ गई।

तब बुद्धि ने कहा—"मैं जाती हूँ।"

चली गई वह। शरीर ऐसा हो गया जैसे एक छोटा-सा बच्चा हो। कद ठीक-ठाक था। मस्तिष्क नन्हे-से बच्चे का था। परन्तु बच्चे भी तो जीवित रहते हैं! यह शरीर भी जीवित रहा। कुरूप या व्यर्थ नहीं हुआ। और बुद्धि भी अपनी हार मानकर वापस आ गई। इस प्रकार एक-एक करके सब इन्द्रियाँ अन्दर से बाहर गईं और वापस आ गईं। अन्त में प्राण की बारी आई। उसने कहा—"अच्छा अब मैं बाहर जाता हूँ। देखता हूँ कि मेरे निकल जाने से क्या होता है।" सबने कहा—"निकलो।" परन्तु जैसे ही प्राण निकलने लगा वैसे ही सब-की-सब इन्द्रियों को ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका गला घुट चला है। तब चिल्लाकर उन्होंने कहा—"मत निकलो बाहर! तुम्हारे ही कारण तो हम जीवित हैं, कार्य करती हैं। हमने समझ लिया कि तुम्ही बड़े हो।"

यह है इस प्राण की महिमा! प्राण रहे तो आँख देखती है, कान सुनते है, जिह्वा बोलती है, स्वाद लेती है, नासिका सूंघती है, श्वास

लेती है; बुद्धि अपना कार्य करती है, मन अपना काम करता है। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना कार्य करती हैं। यह प्राण न रहे तो सब-कुछ न रहने के बराबर रह जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक और कथा आती है—

असुरों और देवताओं में एक बार झगड़ा हो गया और सच तो यह है कि यह देवासुर-संग्राम सदा जारी रहता है। शुभ और अशुभ वृत्तियों का युद्ध कभी समाप्त नहीं होता। आजकल की अवस्था ही देखिए। हम चीन को अपना मित्र कहते और मानते रहे। उसके विरुद्ध शत्रुता की कोई भी बात हमने नहीं की। "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का जयघोष लगाते रहे और चीनवाले इस प्रकार हमपर टूट पडे जैसे हमारे अतिरिक्त कोई उनका शत्रु है नही। कुछ भाइयों को शायद यह बात बुरी लगे परन्तु मेरा विचार है कि चीन के सम्बन्ध में हमसे गलती हुई कि-हमने तिब्बत को उसे सौंप दिया। तिब्बत चीन का नहीं, हमारा है। तिब्बतवालों के तीर्थ भारत में हैं। भारत के तीर्थ कैलास और मानसरोवर तिब्बत में हैं। हमारे शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि आरम्भ में मनुष्य की सृष्टि हुई तो त्रिविष्टप, अर्थात् तिब्बत में। वहाँ से आर्य लोग सीधे इस भारत में आये जहाँ उस समय घने जंगलों, मैदानों, नदियों और पर्वतों के अतिरिक्त कुछ था नही। कोई नगर नही था, ग्राम नहीं था, आबादी नही थी। आर्य लोगों ने इस देश को देखा तो यहाँ बसने लगे। परन्तु तिब्बत के साथ हमारा सम्बन्ध समाप्त नहीं हो गया। भारत में रहते हुए भी तिब्बत हमारे लिए तीर्थ-भूमि और पुण्य-भूमि रहा। ऐसे तिब्बत को चीन को सौंप देना या उसका प्रदेश मान लेना मेरे विचार में गलत था। हमारे लिए चीन के राक्षसी सकट को दूर करने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि हम तिब्बत को वापस लें, चीन की सेना को वहाँ से बाहर निकाल दे, वहाँ तक धकेल दें जहाँ चीन की वास्तविक सीमा आरम्भ होती है। जबतक ऐसा होगा नही, तबतक हमारे देश को शान्ति नहीं मिलेगी। मै समझता हूँ कि तिब्बत सदा से हमारा था, अब भी हमारा है। अठारह सहस्र फ़ीट की ऊँचाई पर मानसरोवर हमारा तीर्थ है। बाईस सहस्र फ़ीट की ऊँचाई पर कैलास हमारा

तीर्थ है। सारा तिब्बत उस आर्य जाति की जन्मभूमि है जिसने तिब्बत से नीचे उतरकर इस देश को आर्यवर्त का नाम दिया। यह तिब्बत हमारा है; तिब्बतियों का है। यदि हमने इसे चीन का भाग मान लिया तो निश्चित रूप से एक ग़लत बात की।

परन्तु मैं देवासुर-संग्राम की बात कह रहा था। यह संग्राम हुआ। देवता पंचशील के पक्षपाती थे। कोई गलत बात उन्होंने की नहीं। परन्तु असुर तो पंचशील के हामी नहीं थे। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति से देवताओं पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से बचने के लिए देवता कान के दुर्ग मे भागे। उन्होने समझा कि वे यहाँ सुरक्षित रहेंगे। परन्तु असुर लोग वहाँ भी घुस आये। इसलिए कान अच्छी बात भी सुनता है, बुरी भी सुनता है। जब कान-रूपी दुर्ग में रक्षा नहीं हुई तो देवता अपनी आँख के दुर्ग में भागे परन्तु असुर वहाँ भी घुस आये। इसलिए आँख अच्छी बात भी देखती है, बुरी भी देखती है। तब वे नाक के दुर्ग में घुस गए। असुरों ने वहाँ भी आक्रमण किया। अब नाक सुगन्ध भी सूंघती है, दुर्गन्ध भी। तब वे जिह्वा के दुर्ग में गए। वहाँ भी असुरों ने आक्रमण किया। इसलिए जिह्वा अच्छी बात भी कहती है, बुरी बात भी। एक-एक करके देवता शरीर के प्रत्येक दुर्ग में पहुँचे। प्रत्येक दुर्ग में असुरों ने उनपर आक्रमण किया। अन्त में वे प्राण के दुर्ग में प्रविष्ट हुए। असुरों ने यहाँ भी आक्रमण किया; परन्तु इस दुर्ग के द्वार को वे पार नही कर सके। इसलिए प्राण मे केवल उत्तम बातें ही होती हैं, बुरी बात कोई होती नहीं। सब दुर्गों में कम्यूनिस्टों की भाँति स्वार्थी लोग पहुँचे। प्राण के दुर्ग में वे पहुँच नहीं सके। यह वह दुर्ग है जिसका अपना कोई स्वार्थ नहीं, जो कभी दूषित नही होता। यह विद्यमान है तो केवल दूसरों के कल्याण के लिए। आप सोते हों, जागते हों, उठते हों, बैठते हों, चुप हो या बातें करते हों, यह प्राण हर समय अपना काम करता रहता है। अच्छा है कि यह प्राण किसी 'लेबर-यूनियन' का सदस्य नही बना। इसने कभी यह नही कहा कि इसे भी चौबीस घण्टे में दो या तीन घण्टे की छुट्टी चाहिये। यदि ऐसा होता तो इन दो-तीन घण्टों के समाप्त होने से बहुत पहले प्रत्येक व्यक्ति का 'राम नाम सत्' हो जाता। असुरों ने देखा कि इस दुर्ग में वे किसी को

उत्कोच (रिश्वत) नहीं दे सकते। किसी को विद्रोही नहीं बना सकते। वे बाहर ठहरे रहे। इसलिए यह दुर्ग आज भी पवित्र है, आज भी देवताओं के लिए सुरक्षित है।

यह उपनिषद् की कथा है। केवल समझाने के लिए कही गई है। इस कथा का सीधा-सा अर्थ यह है कि प्राण वह वस्तु है, जिसके द्वारा देवता, अर्थात् यह आत्मा अपने परमेश्वर को प्राप्त करता है। प्राण के द्वारा श्वास के साथ-साथ ओम् का जाप करने से मन एकाग्र होता है। ओम् परमात्मा का अपना नाम है। वेद से लेकर गीता तक, वेद से लेकर गुरु-ग्रन्थ तक इस ओम् की महिमा गाई गई है। करोड़ों वर्ष पहले जिस ओम् को वेद भगवान् ने परमात्मा का निज नाम कहा था, उसी को श्री गुरु नानकदेव जी महाराज ने एकोंकार के नाम से लोगों के समक्ष रक्खा, क्योंकि प्राण के द्वारा इस एकोंकार का जाप करने से मन को वह एकाग्रता और आत्मा को वह शान्ति मिलती है जो और किसी प्रकार मिलती नहीं। कैसे यह जाप किया जाय? जब प्राण अन्दर जाये तो 'ओ' कहो और बाहर आये तो 'म' कहो। इस प्रकार प्राण के द्वारा ओम् का जाप करने से मन की एकाग्रता प्राप्त होती है।

अब एक और कहानी सुनिये—

नारद मुनि गये महर्षि सनत्कुमार के पास; बोले—मैंने सब ग्रन्थ पढ़ डाले हैं—वेद, उपनिषद्, छन्द, ज्योतिष, गणित, परन्तु मुझे सन्तोष तो हुआ नहीं।"

सनत्कुमार बोले—"नारद! जो कुछ तुमने पढा है यह केवल नाम है। जहाँ तक नाम का विस्तार है वहीं तक तुम्हें संतोष मिलेगा, इससे आगे नहीं।"

नारद ने पूछा—"नाम से आगे क्या है?"

सनत्कुमार ने कहा—"वाणी। जहाँ तक वाणी का विस्तार है वहीं तक सन्तोष मिलेगा, उसके पश्चात् नहीं।"

नारद ने पूछा—"वाणी के पश्चात् क्या है?"

सनत्कुमार बोले—"संकल्प। जहाँ तक इस संकल्प का विस्तार है वहीं तक शान्ति मिलेगी, उसके पश्चात् नहीं।"

नारद ने पूछा—"संकल्प से आगे क्या है ?"

सनत्कुमार ने कहा—"मन ।"

ध्यानं निर्विषयं मनः ।

ऐसा मन जिसमें कोई विषय नहीं, कोई इच्छा नही ।"

नारद ने पूछा—"मन से आगे क्या है ?"

सनत्कुमार ने कहा—"चित्त ।"

इसके पश्चात् उन्होने ध्यान, ज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, सबका नाम लिया। सबके सम्बन्ध मे कहा—"जहाँ तक इनका विस्तार है वहीं तक सन्तोष मिलता है, उससे आगे नही ।" आशा के पश्चात् उन्होंने प्राण का नाम लिया और कहा—"सबको शक्ति देनेवाला यह प्राण है। इसके द्वारा मन को बाँधा जा सकता है। मन से संकल्पों को बाँधा जा सकता है, आशा को बाँधा जा सकता है ।"

यह प्राण ही सबसे बड़ा है।

परन्तु जिस प्रीतम को तुम खोज रहे हो वह इस प्राण में भी नही रहता। इससे आगे एक और मुहल्ले में, एक और वार्ड में रहता है जिसे मनोमय कोश कहते है। इस कोश मे पहुँचकर भी उस प्रीतम के दर्शन तो नहीं होते, दर्शन होने की आशा हो जाती है। प्राण चुम्बक है परन्तु जिस वस्तु को यह खींचता है वह मन है। इसीलिए प्राणमय कोश में प्रीतम मिलता नही; प्रीतम को मिलने का मार्ग अवश्य मिलता है और यह मार्ग ले-जाता है मन की ओर। इस मन के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों ने कहा—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मन से ही मनुष्य बाँधा भी जाता है और मुक्ति भी प्राप्त करता है।

इसीलिए मन को बहुत महान् कहा गया है। यह भी कहा गया है कि मन में ब्रह्म है। जो मन को ढूँढ लेता है, वश में कर लेता है उसे ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु मन को ढूंढना कैसे होगा ? इसे वश में करने की विधि क्या है ? इससे अधिक चंचल तो संसार मे कुछ है नहीं। अभी यहाँ है, अभी लन्दन पहुँच जाता है और सैकण्ड के करोड़वें

भाग में वापस भी आ जाता है। रूसवालों ने वह स्पुतनिक चलाया था न—एक रॉकेट जो ६६ मिनट में पृथिवी की परिक्रमा कर लेता था, परन्तु यह मन तो एक मिनट में सारी पृथिवी की परिक्रमा कर आता है, इससे भी कम समय में पृथिवी के चहुँ ओर घूम लेता है! इतना चचल है यह। तब इसका पता कैसे लगे कि यह है क्या? तब इसको वश में कैसे किया जाय?

परन्तु देखिये, यह मन या मनोमय कोश दो कोशों के मध्य है। इसके एक ओर प्राणमय कोश है, दूसरी ओर विज्ञानमय कोश। एक ओर यह प्राण जिसके बिना जीवन रहता नही, दूसरी ओर यह बुद्धि, जिससे जीवन चलता है। दोनों के मध्य है यह मनोमय कोश। दोनों की सहायता से ही मन वश में आता है। पहले प्राण की सहायता से पूरक, रेचक, कुम्भक, अन्तर्-कुम्भक, यह चार प्रकार का प्राणायाम है; प्राण को वश में करने का उपाय है। रेचक अर्थात् प्राण को अपनी इच्छा से बाहर निकालना। धीरे-धीरे पूरक, अर्थात् प्राण को अन्दर ले जाना; एकदम नहीं, धीरे-धीरे। कुम्भक, अर्थात् प्राण को अपने अन्दर रोकना, और अन्तर्-कुम्भक अर्थात् प्राण को इतनी देर तक अपने अन्दर रोके रखना जितनी देर तक वह रुक सके। यदि कोई व्यक्ति साढ़े पाँच मिनट तक प्राण को अपने अन्दर रोक सके तो उसका मन उसके वश में आ जाता है। साढ़े पाँच मिनट तक श्वास नहीं लेना, श्वास को बाहर नही निकालना—ऐसा हो जाय तो यह मन इस प्रकार आपके वश मे आ जायेगा जैसे सधा हुआ घोड़ा हो और उसकी लगाम आपके हाथ में हो। जिधर आप चलाना चाहें उधर वह चले, दूसरी ओर वह जाये नहीं। प्राण को वश में करो तो मन स्वयमेव वश में हो जायेगा। कमर और ग्रीवा (गर्दन) को सीधा करके, एक आसन में बैठकर साढ़े पाँच मिनट तक यदि आप यह अन्तर्-कुम्भक कर सकें तो आपका मन आपकी इच्छा के अनुकूल चलेगा। परन्तु देखिये, पहले ही दिन यह साढे पाँच मिनट का अन्तर्-कुम्भक मत कीजिये। पहले दिन आधा मिनट, फिर चालीस सैकण्ड, तब धीरे-धीरे इस कुम्भक को बढाइये; अन्यथा हानि होगी और आपके घरवाले कहेंगे—यह 'आनन्द स्वामी' तो पूरा 'दुःख स्वामी' है; हमारे लिए इसने संकट

उत्पन्न कर दिया है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी अनुभवी व्यक्ति से इस प्राणायाम को सीखिये। केवल सुन-सुनाकर या पुस्तक पढ़कर प्राणायाम मत शुरू कीजिये। प्राणायाम को ठीक विधि से किया जाय तो निश्चित रूप से लाभ होगा, हानि होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यही प्राणायाम यदि उल्टी विधि से किया जाय तो हानि भी हो सकती है। इसलिए आवश्यक है कि किसी अनुभवी व्यक्ति से प्राणायाम सीखिये। केवल पुस्तकों का सहारा लेकर प्राणायाम मत कीजिये। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि प्राणायाम तो केवल संन्यासियों के लिए है, गृहस्थियों के लिए नही। विश्वास रखिये, यह बात सरासर गलत है। भगवान् शिव गृहस्थ थे, भगवान् राम और भगवान् कृष्ण गृहस्थ थे। मदालसा गृहस्थिन थी। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज गृहस्थ थे। ये सब-के-सब महापुरुष महान् योगी थे। यदि ये महापुरुष प्राणायाम और योग के मार्ग पर चलने में सफल हुए तो निश्चितरूपेण दूसरे गृहस्थ भी सफल हो सकते है। और सच यह है कि गृहस्थ मे रहकर मनुष्य सही रूप में योग और प्राणायाम के मार्ग पर चल सकता है। गृहस्थ में रहकर ही उसे वह भोजन मिल सकता है, वह आराम मिल सकता है और वह रहन-सहन मिल सकता है जो योग और प्राणायाम में सफल होने के लिए आवश्यक है। जगल में रहनेवाले संन्यासी को ये साधन मिलते नही। परन्तु मन केवल प्राण के द्वारा नही, विज्ञान के द्वारा भी वश में आता है। हमारे शास्त्रों ने मन को विद्युत् की भाँति चचल कहा है, परन्तु वास्तविकता यह है कि मन की चंचलता के समक्ष विद्युत् की चचलता कोई अस्तित्व नहीं रखती। दोनों की चचलता में बहुत अन्तर है। परन्तु जैसे विद्युत् की चचलता को बुद्धि के द्वारा, ज्ञान और विज्ञान के द्वारा वश मे किया जा सकता है, वैसे ही मन की चचलता को भी वश मे किया जा सकता है। अब देखिये कि बुद्धि ने, विज्ञान से इस विद्युत् को बाँध रक्खा है। इस समय यह विद्युत् प्रकाश देती है, मेरी ध्वनि को अधिक ऊँचा करने, अधिक दूर तक ले-जाने का काम करती है। परन्तु इस बिजली से पंखे भी चलते है, गर्मी देनेवाले हीटर भी चलते हैं, रेलगाड़ियाँ भी चलती है, कई-कई मंजिल ऊँचे भवनों के 'लिफ्ट' भी चलते है। इससे

आग भी पैदा होती है, बर्फ़ भी पैदा होती है। इससे दूरभाष, दूरदर्शन और टेलीफ़ोन, टेलीविजन व रेडियो चलते है। इससे कारखाने भी चलते है, बड़ी-बड़ी मशीनें भी चलती है। यह है विज्ञान से विद्युत् को वश में करने का परिणाम। रणवीर एक बार अमेरिका गया। वापस आकर इसने कई बाते सुनाईं ; उनमें से एक यह भी थी कि वह एक होटल में गया तो द्वार के पास पहुँचते ही द्वार स्वय खुल गया। वह द्वार में प्रविष्ट हुआ तो द्वार स्वयमेव बन्द हो गया। यह सब-कुछ बिजली को वश में करने के कारण हुआ। और केवल यहीं क्यो? बिजली से सीढियाँ चलती हैं, सड़कें चलती हैं, और अब तो मैंने सुना है कि ऐसे दूरभाष बन रहे हैं जिन्हें आप जेब में डालकर घूम सकते है, जहाँ जी चाहे वहीं, जिससे बात करना चाहे बात कर सकते हैं। उसकी आवाज़ भी सुन सकते हैं, उसका चित्र भी देख सकते हैं। सोचकर देखिये कि यदि विद्युत् को ज्ञान और विज्ञान से वश में करके यह सब-कुछ हो सकता है तो मन को वश में करके क्या-कुछ हो सकता है, जो विद्युत् से सहस्रों और लक्षों नहीं, अरबों गुणा अधिक शक्तिशाली है।

परन्तु विद्युत् को वश में करना जितना सरल है, मन को वश में करना उतना सरल नहीं। यह बहुत चंचल है, बहुत शक्तिशाली है। इसे वश में करने के लिए ज्ञान और प्राण दोनों की आवश्यकता है। शायद, इसीलिए यह प्राणमय कोश और विज्ञानमय कोश दोनों के मध्य में है।

मन पंछी तब तक उड़े, विषय वासना माहिं।
ज्ञान-बाज की झपट में, जब तक आया नाहिं॥

एक ओर प्राण की साधना, दूसरी ओर बुद्धि की जागृति, दोनों इस मन को दोनों ओर से जकड़ते है तो मनरूपी पंछी कैद में आ जाता है। इसीलिए कहा है—

चले वातं चले चित्तम्।

यह चित्त, यह मन तभी तक चलता है, जबतक प्राण का वायु चलती है। प्राणायाम से प्राण-वायु को वश में कीजिये तो यह मन-महाराज जी हाथ-पाँव ढीले करके बैठ जायेंगे। इसलिए आवश्यक है कि प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश—तीनों को

एक-साथ देखो और इस आत्मा की खोज करो, जिसके सम्बन्ध में उपनिषद् के ऋषि ने कहा—

आत्मानं चेत् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।

—बृह० ४।४।१२॥

यह आत्मा ही जानने की वस्तु है जिसमें वह पुरुष, वह परमपिता परमात्मा, वह आनन्दस्वरूप प्रीतम रहता है। यदि उसको नही जाना तो किस इच्छा से, किस कामना से इस ससार में आगे बढ़ा जाता है ?

परन्तु स्मरण रखिये, इन तीनो कोशों के अन्दर भी परमात्मा मिलेगा नही। इन तीनों कोशों मे पहुँचने और इन्हे साधने के पश्चात् मनुष्य केवल मन तक ही पहुँचता है और कई लोग इस मन तक पहुँचने के पश्चात् ही रुक जाते हैं।

भगवान् बुद्ध थे न ? बहुत बड़े महात्मा, बहुत बडे महापुरुष थे। अपना घर उन्होंने त्याग दिया, राज्य त्याग दिया, पत्नी त्याग दी। छोटा-सा बच्चा त्याग दिया। बहुत बडा तप उन्होंने किया। अपना शरीर सुखा लिया। बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर लगे खोजने उस सचाई को जिसे वे जानना चाहते थे। अन्नमय कोश से वे प्राणमय कोश में पहुँचे, फिर मनोमय कोश में पहुँचे, तब ज्ञानमय कोश में भी पहुँचे। मन को वश में किया उन्होंने। मन की महाशक्ति को देखा परन्तु इससे आगे नहीं बढ सके। मन को ही सब-कुछ समझकर बैठ गये।

परन्तु यह मन तो पत्थर है मेरे भाई! यह जड़ प्रकृति है, यह आत्मा नहीं। इसकी शक्ति भी अपनी शक्ति नही। इसमें रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण तीनों हैं। परन्तु यह काम करता है उस समय जब आत्मा का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है। चन्द्रमा बहुत सुन्दर है, बहुत चमकता है। उसकी चमक से पृथिवी पर मनुष्यों, पशुओं, फलों, फूलों—सबको रस मिलता है। परन्तु यह चन्द्रमा चमकता है सूर्य के प्रकाश से; उसका अपना कोई प्रकाश नहीं। यही अवस्था इस मन की भी है। पिछले दिनों मैने आपको ऐनक की बात सुनाई थी। ऐनक नही देखती, आँख की पुतली नहीं देखती, उस पुतली के पीछे, मस्तिष्क के पिछले भाग में बना हुआ दृष्टिकेन्द्र नहीं देखता। इस दृष्टिकेन्द्र

के पीछे बैठी हुई मन की दृष्टि-तन्मात्रा नही देखती; इन सबके पीछे बैठा हुआ आत्मा देखता है। यह आत्मा न हो तो आप एक नही, पैंतीस सहस्र ऐनके लगा लीजिये, कुछ भी दिखाई नहीं देगा। मन की शक्ति महान् है परन्तु वस्तुतः यह शक्ति आत्मा की है।

तब आत्मा को खोजें तो किस प्रकार?

एक ही उपाय है कि पहले अपने मन को वश में करो—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—यजु० ३४।४॥

जिसके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब जाने जाते है, जिसके द्वारा प्रत्येक प्रकार के कर्म होते हैं, मेरा वह मन शिव संकल्पवाला, अच्छे कल्याणभरे विचारोंवाला हो।

और वस्तुतः जो व्यक्ति योग-साधन के द्वारा अपने मन को वश में कर लेता है, उसके लिए भूत, वर्तमान और भविष्यत् इस प्रकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं, जैसे हाथ की लकीरे हों। संन्यास लेने के पश्चात् जब मैं पहली बार गगोत्री गया तो वहाँ एक महात्मा को देखा जो साढ़े दस सहस्र फीट की ऊँचाई पर भी नगधड़ंग रहते हैं। शरीर पर भी एक वस्त्र, एक चादर तक भी नही लेते। गर्मी वहाँ कभी होती नहीं। सर्दियों में जब बर्फ़ पड़ती है और जगल, पहाड़, चोटियाँ, नदी-नाले बर्फ से ढक जाते है, तब भी वे वहीं रहते है, उसी अवस्था में। अवधूत श्री रामानन्द उनका नाम है। गगा के किनारे एक गुफा में वे रहते है। कभी मौज आये तो गुफा से बाहर आकर भी बैठते है परन्तु बोलते नंही, वर्षों से मौन हैं। मैं उनके पास जाता, उनके पास बैठ जाता। उन्हे देश-विदेश की बाते सुनाता। उन दिनों कोरिया का युद्ध हो रहा था। मै उसका वृत्तान्त सुनाता। देश के सम्बन्ध में बताता कि स्वराज्य मिल गया है, परन्तु लोग अभी बहुत दुःखी हैं। मैं बोलता रहता, वे सुनते रहते। एक दिन भी उन्होने कोई उत्तर नहीं दिया। कई दिन इसी प्रकार व्यतीत हो गये तो मैने सोचा—'यह विचित्र कौतुक है! मैं बोलता रहता हूँ, ये श्रीमान् उत्तर ही नहीं देते!' मन में संकल्प किया कि आज इन्हे बुलाकर ही रहूँगा। मै उनके पास गया

तो वे गुफ़ा के बाहर एक पत्थर पर बैठे थे। उसी के पास एक और पत्थर था। मैं उसके ऊपर वहीं नीचे बैठ गया। उन्हे नमस्ते की; तब कहा –"स्वामी जी ! मै इतने दिनों से आपको इतनी बाते सुनाता रहा हूँ, आप किसी का भी उत्तर नही देते, यह क्या करते है आप ?"

वे थोड़ा मुस्कराए, हाथ के संकेत से पूछा—"क्या चाहते हो तुम ?"

मैंने कहा—"महाराज ! आपसे बातें करना तो मुझे पत्थर से बाते करने जैसा प्रतीत होता है। आप भी नहीं बोलते, यह भी नही बोलता। मुझे यह भी पता नही लगता कि आप मेरी बात को सुन भी रहे है या नहीं।"

इस बार वे मुस्कराये; हाथ के सकेत से पूछा—"क्या पूछना चाहते हो ?"

मैंने कहा—"महाराज ! मैं इतनी दूर से आया हूँ। मेरे कल्याण के लिए कुछ कहिये, देश के कल्याण के लिए कुछ कहिये, ससार के कल्याण के लिए कुछ कहिये, में भी तो समझूँ कि आप क्या सोचते है।"

उन्होंने हाथ उठाकर सकेत दिया कि चुप रहो, और स्वय आँखें बन्द कर लीं। कोई पन्द्रह मिनट पश्चात् आँखे खोलीं तो जिह्वा भी खोली; बोले—"अब बताओ आनन्द स्वामी ! तुम क्या जानना चाहते हो ?"

मैंने आश्चर्य से कहा—"अपनी बात तो मैं बाद में कहूँगा, पहले यह बताइये कि आपको मेरा नाम कैसे पता लगा ? मैंने तो आपको यह नाम बताया नहीं, दूसरे लोगों को प्रायः इस नाम का पता नहीं, फिर आपने यह नाम कैसे जान लिया ?"

वे मुस्कराते हुए बोले—"इससे पूर्व तुम्हारा नाम खुशहालचन्द था कि नही ? तुम्हारे पिताजी का नाम मुन्शी गणेशदास था कि नही ? तुम्हारा जन्म जलालपुर जट्टाँ में हुआ कि नही और संन्यास लेने से पूर्व तुम एक पत्र निकालते थे या नही ?"

ये ही नही, कई दूसरी बातें भी उन्होंने बताईं जैसे वे मेरे सारे परिवार को वर्षों से जानते हो। मैंने हाथ जोड़कर कहा—"यह सब ठीक है परन्तु आपको यह पता कैसे लगा ?"

वे बोले—"मै जो इतने वर्षों से यहाँ बैठा हूँ तो क्या टक्करें मारने के लिए ? मन को साधने से बीते हुए, आज के और आनेवाले प्रत्येक युग का वृत्तान्त ज्ञात होता है। मैंने आँखें बन्द करके मन में देखा तो तुम्हारे सम्बन्ध में सब-कुछ ज्ञात हो गया।"

लो भाई ! अब सवा नौ बज गये। अब शेष बात कल होगी।

[तभी कई भाई पुकार उठे—"अभी सवा नौ नही बजे स्वामी जी ! पाँच मिनट शेष है।" स्वामीजी ने कहा—"परन्तु मैंने तो अपनी घडी के अनुसार कथा प्रारम्भ की थी, इसमे सवा नौ बज गये है।" कितने ही सज्जनो ने कहा—"नही स्वामीजी, आपकी घड़ी आगे है। अभी पाँच मिनट और कथा करनी होगी।" इन सज्जनों मे भारत के सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस श्री मेहरचन्द महाजन भी थे। उन्होंने भी जब कहा—"अभी पाँच मिनट शेष है।" तो स्वामीजी बहुत जोर से हँस उठे, बोले—"लो साहब ! अब तो सुप्रीम कोर्ट का निर्णय भी हो गया, इसको कौन टाल सकता है ! आप पाँच मिनट और भी कथा सुनिये" और वे बोले—]

स्वामी रामानन्द जी ने जब मुझे बताया कि योग-साधन के द्वारा मन को वश में करके मनुष्य भूत, वर्तमान और भविष्यत् की बात जान सकता है तो मुझे यह पवित्र वेदमन्त्र स्मरण आया जिसमें मन की शक्ति को बढ़ाने के पश्चात् कहा गया कि—"हे भगवान् ! मेरे इस मन को शिव-संकल्पवाला बना दो।" और फिर इस मन्त्र में ही नहीं, वेद में स्थान-स्थान पर ऐसी प्रार्थनाएँ आती हैं। गायत्री मन्त्र की महिमा क्या है ? यह कि उसमें प्रभु से प्रार्थना की गई है—

धियो यो नः प्रचोदयात् ।

हे स्वामिन् ! हमारी बुद्धि को अपने मार्ग पर ले चलो, उसे प्रेरणा दो, उसके नेता तुम बनो। ऐसी कितनी ही प्रार्थनाएँ वेद में आती हैं। सबमें बार-बार एक ही बात कही गई है कि "स्वामिन् ! मेरे मन को अपने मार्ग पर लें चलो।" क्यों यह बात कही गई ? इसलिए कि परमात्मा से नीचे यदि कोई सबसे बड़ी शक्ति है तो वह मन है। इसलिए ऋषियों ने मन को ब्रह्म ही कहा। मन से संसार बनता है, मन से संसार चलता है—

दिल ही की बदौलत रंज भी है, दिल ही की बदौलत राहत भी।
यह दुनिया जिसको कहते है, दोज़ख भी है और जन्नत भी ।।

जैसा चाहो, वैसा बना लो इस संसार को। इसे बनाना या बिगाड़ना तुम्हारे हाथ मे है। परन्तु जैसा मैने पहले कहा, यह मन बहुत शक्तिशाली होने पर भी एक जड़ पत्थर की भाँति है। यह आत्मा नही। इसके अन्दर वह प्रीतम कभी मिलता नही जिसकी हमें तलाश है। प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश, इन तीनों में आने के पश्चात् भी आत्मा नही मिलता, ईश्वर नही मिलता, केवल यह पता चलता है कि वह मिलेगा कैसे ?

आपको प्रधानमन्त्री से मिलना है। आप पहुँच गये उसकी कोठी पर। कोठी के बाहर एक चौकीदार खड़ा है। वहाँ प्रधानमन्त्री के पी० ए० भी खड़े है। आप उनसे कहते हैं कि मैं प्रधानमन्त्री से मिलने आया हूँ, उन्होंने मुझे समय दिया है।

चौकीदार या पी० एं० देखते है कि आपका नाम सचमुच मिलनेवालों की सूची में है। आपको एक कमरे के द्वार पर ले जाते है जिसके ऊपर चिक लटकी है। चिक उठाकर कहते हैं—"अन्दर चले जाइये, प्रधानमन्त्री जी अन्दर है।" परन्तु वे केवल चिक उठाते है स्वयं अन्दर नही जाते; अन्दर आपको पहुँचाते है। प्रधानमन्त्री से आप मिलते हैं।

यह मन भी आत्मा का चौकीदार या पी० ए० है। इसे वश में कीजिये तो यह चौकीदार आपके लिए चिक उठा देगा। इससे अधिक यह कुछ कर नही सकता। परन्तु यह चिक उठायेगा उस समय, जब यह आपकी बात माने; जब आपने पहले प्रधानमन्त्री से समय ले लिया हो; जब इस चौकीदार को ज्ञात हो कि ये सज्जन प्रधानमन्त्री से वस्तुत: मिलनेवाले है।

इसलिए पहले इस चौकीदार को वश में कीजिये।

परन्तु कैसे ? शिव संकल्प से, उत्तम विचारो से, ज्ञान से; क्योंकि जैसे विचार या संकल्प होगे, वैसे आपका संसार बनेगा—

कृतं लोके पुरुषोऽभिजायते यथाकारी यथाचारी तथा भवति ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पन्न किये हुए संसार को अपने सामने देखता है। जैसा वह सोचता है, जैसा वह करता है, वैसा ही उसका

संसार बन जाता है।

लो भाई ! अब ये पाँच मिनट भी पूरे हो गये। इसलिए शेष बात कल।

ओम् शम् !

तेरहवाँ दिन

[पूज्य श्री आनन्द स्वामी जी महाराज की कथा का यह तेरहवाँ दिन है। नौ दिन आर्यसमाज हनुमान रोड मे कथा करने के पश्चात् वे आर्यसमाज (अनारकली) रीडिंग रोड पर एक ही विषय पर कथा कर रहे थे ; विषय था 'मानव और मानवता'। पूज्य स्वामीजी ने तेरहवें दिन कथा आरम्भ करने से पूर्व एक ही धुन में 'ओ३म्' कहा। लगभग एक मिनट तक एक ही श्वास में ओम् कहने के पश्चात् उन्होंने अपनी कथा आरम्भ की—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और विज्ञानमय कोश की बात मैं कह रहा था। परन्तु मनोमय कोश में पहुँचने पर हमें अन्तःकरण-चतुष्टय के दर्शन होते है। अन्त.करण की चार मंजिलें है। ये चार मंज़िलें हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इस अन्तःकरण में ही वह प्रीतम मिलता है जिसकी हम तलाश कर रहे हैं। इससे पूर्व कि मैं यह बताऊँ कि अन्तःकरण क्या है, यह बताना ठीक होगा कि उस प्रीतम का निवासस्थान—रहने का स्थान कहाँ है। यह काफी कठिन बात है, परन्तु बहुत सरल भी। जिसने एम० ए० की परीक्षा पास नहीं की, उसके लिए यह सब-कुछ बहुत कठिन है ; जिसने पास कर ली वह कहता है, 'यह तो साधारण-सी बात है। इससे सरल क्या हो सकता है?' इसलिए मै पहले इस कठिन बात को खोलकर आपके सामने रखना चाहता हूँ। अथर्ववेद के दसवें काण्ड के दूसरे सूक्त मे तीन मन्त्र आते है जिनमें इस कठिन बात को बहुत सरल ढग से वर्णित किया गया है। पहला मन्त्र है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

इसका अर्थ यह है कि आठ चक्रों और नौ द्वारो वाली देवताओं की यह अयोध्या नगरी है । ऐसा नगर है जो किसी भी युद्ध मे जीता नही जा सकता । उसमें स्वर्ण की भाँति चमकता हुआ एक कोश है जो स्वर्ग की भाँति ज्योति से भरपूर है ।

दूसरा मन्त्र है—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

—अथर्व० १० । २ । ३२ ॥

उस ज्योति से भरपूर तीन धुरोंवाले, तीन चरणों या आश्रयों पर आधारित कोश में वह आत्मा है जिसे पूर्ण ज्ञानी जानने का प्रयत्न करते है । और तीसरा मन्त्र है—

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरावृतम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजितम् ॥

—अथर्व० १० । २ । ३३ ॥

इस तीव्र प्रकाश से भरपूर, अत्यन्त सुन्दर यश के तेज से देदीप्यमान, किसी से भी न जीती गई उस ब्रह्मपुरी में ब्रह्म विद्यमान है ।

इन तीनों मन्त्रो में कुछ शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

एक शब्द है 'हिरण्ययः कोशः'—सोने की भाँति चमकता हुआ कोश । अबतक हमने अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश की बात सुनी । परन्तु इन सबसे अलग 'हिरण्ययः कोशः'—सोने के कोश की बात है ।

एक और शब्द है 'स्वर्गः' बस, यह स्वर्गकोश दुःख से परे है । वहाँ सुख-ही-सुख है, स्वर्ग है, दु.ख नहीं ।

तब एक शब्द है 'ज्योतिषावृतः'—ज्योति से भरा हुआ ।

तब एक और शब्द है 'त्र्यरे प्रतिष्ठिते', अर्थात् तीन चरणों या आधारों पर स्थित ।

तब एक और शब्द है 'यशसावृतम्'—यश से घिरा हुआ ।

यह सब-कुछ क्या है ? दूसरी बात आरम्भ करने से पहले इनका

स्पष्टीकरण आपके सामने करना चाहता हूँ जिससे जो कठिन और 'बोर' करनेवाली बात है वह आपके समक्ष पहले आ जाय।

सबसे पूर्व सुनिए कि यह 'हिरण्यय: कोश.'—सोने की भाँति चमकता हुआ कोश है कहाँ ? इस मानव-शरीर में इसका स्थान कौन-सा है ? इसकी खोज करें तो कहाँ करे ? इसका पता कहाँ लगेगा ? इसके सम्बन्ध में उपनिषद् ने स्पष्ट रूप में महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में कहा—

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।

यह ज्योतिपुरुष, यह चमकती हुई दिव्य शक्ति प्राणो और हृदय के अन्दर निवास करती है। परन्तु यह हृदय कहाँ है ? हमारे शास्त्रों ने स्पष्ट रूप से कहा कि यह हृदय मस्तिष्क में निवास करता है। इस मस्तिष्क मे दो ग्लैण्ड=ग्रन्थियाँ हैं जिन्हें सेरीबेलम (Cerebellum) और सेरीब्रम (Cerebrum) कहते हैं। सेरीब्रम का सस्कृत नाम शिरो-ब्रह्म है। इन दोनों ग्रन्थियों में सब-का-सब ज्ञान पहुँचता है जो हमारी शिराओं के द्वारा रक्त के दबाव के कारण शरीर के विभिन्न अङ्गों से पेट, मेदे या फेफड़ों आदि के द्वारा जाता है। सारे शरीर का केन्द्र यही दो ग्रन्थियाँ है। सारे शरीर का 'हैड क्वार्टर' यहाँ है। लडाई नेफ़ा में हो या लद्दाख मे, जैसे उसकी सूचना सेना के प्रमुख कार्यालय में आती है, वैसे ही शरीर के सम्बन्ध में प्रत्येक सूचना इन ग्रन्थियों मे पहुँचती है। इन दोनों के मध्य मे एक छोटा-सा रिक्त स्थान है, जिसे 'हिरण्यय. कोश:' या स्वर्णमय कोश कहते हैं। इस स्थान पर एक गाढा पीले रंग का पानी-सा है। इसी को ब्रह्मरन्ध्र या ब्रह्मकोश भी कहते हैं।

अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश में एक के पश्चात् दूसरे में जाता हुआ जब ध्यान-योग से इस स्थान पर पहुँचता है तो इसे ज्ञात होता है कि 'मैं हूँ'। परन्तु जब वह इस स्थान को अधिक ध्यान से देखता है तो एक ज्योति प्रकट होती है। और अधिक ध्यान देने से देखता है तो यह ज्योति अधिक तीव्र होती जाती है और पिघले हुए स्वर्ण की भाँति चमकने लगती है। इस प्रकार एक के पश्चात् एक पाँच मंजिले तय करने के बाद पता लगता है कि

मैं नहीं, मेरे अतिरिक्त कुछ और भी है।

यह ब्रह्मरन्ध्र—मस्तिष्क की दोनों ग्रन्थियों के मध्य एक गुफा की भाँति है। बहुत बड़ी गुफा नहीं, अँगूठे के अग्रभाग जितना स्थान है, बहुत सूक्ष्म परन्तु फिर भी स्थूल, क्योंकि यह प्रकृति है, आत्मा नहीं है। इस ब्रह्मरन्ध्र के भीतर आत्मा रहता है।

एक भाई ने मुझसे पूछा—"क्या आत्मा का कोई वजन भी है?" किसी वैज्ञानिक के लेख में उसने पढ़ा था कि आत्मा का वजन आधी छटाँक के बराबर है। मैंने उसे भी बताया, आप भी सुनिये—यह विचार ग़लत है। आत्मा का कोई वजन नहीं। हो सकता है जिस वैज्ञानिक ने आत्मा का यह वज़न बताया वह पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं आदि का वजन ज्ञात करने में सफल हुआ हो, परन्तु ये इन्द्रियाँ और तन्मात्राएँ आत्मा तो नहीं है। आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसका कोई भी भार है नहीं।

मस्तिष्क की ये दोनों ग्रन्थियाँ आमने-सामने और आगे-पीछे हैं। इन्हें दाएँ और बाएँ रखकर देखिये। इनके मध्य में वह गुफा है, जिसमें अँगूठे के बराबर स्वर्णमय सूक्ष्म शरीर में आत्मा रहता है।

परन्तु इस गुफा में पहुँचना कैसे? इसका एक ही उपाय है। मनोमय कोश से होकर प्राण और ज्ञान में मन को बाँधकर, इसे वश में करके ही मनुष्य इस गुफा में पहुँचता है—

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
पारब्रह्म को पाइये, यही मन की परतीत॥

मन की सहायता के बिना यह परब्रह्म मिलता नहीं। मन की सहायता न हो सके तो उसके पास पहुँचना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है। परन्तु मन केवल एक साधन है। मन के अतिरिक्त ज्ञानमय कोश की भी सहायता चाहिए। इस ज्ञानमय कोश अथवा विज्ञानमय कोश के अधीन सब कर्मेन्द्रियाँ हैं। सभी कर्म मन के द्वारा होते है।

ये पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अन्दर जानेवाला तथा बाहर आनेवाला प्राण—इन सोलह वस्तुओं का नाम अन्त.करण-चतुष्टय है। इस अन्त:करण-चतुष्टय में

मन और बुद्धि का स्थान ऊपर है, चित्त और अहंकार का स्थान नीचे।

ये योग की गुप्त बातें है। प्राय: योगी लोग इन्हे किसी को बताते नहीं। मैं बताता हूँ तो इसलिए कि मेरा विश्वास है कि जो सचाई है वह सबको ज्ञात होनी चाहिये। कौन किस प्रकार उसका उपयोग करता है, यह उसकी इच्छा पर है, मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं।

कुछ वर्ष पूर्व मै आर्यसमाज हनुमान रोड के उत्सव मे ऐसी ही बातें बता रहा था तो उत्तरकाशी के दो योगी महात्मा मुझे खोजते-खोजते वहाँ पहुँच गये। कथा के पश्चात् मुझे मिले, बोले—"आनन्द स्वामी ! यह तुम क्या कर रहे हो ? कोई बीस वर्ष हमारी सेवा करे तो हम ऐसी बातो को बताते है और तुम खुली सभा में सबके समक्ष इनको कह देते हो ?" मैने उन्हे कहा—"जो सत्य है उसे सबके सामने रखने मे हर्ज क्या है ?" वे बोले—"परन्तु अधिकारी-अनधिकारी को भी तो देखना चाहिये ?" मैने कहा—"आप लोगों के इस प्रकार करने से योगविद्या समाप्त होती जाती है। अधिकारी कौन है और कौन नही, यह मैं जानता नहीं। परन्तु मैं मोती बिखेरता हूँ तो इस विश्वास के साथ कि हंस ही मोती चुगता है, कौआ नही चुगता। जो हस हैं वे मेरी बातों से लाभ उठायेंगे; जो कौवे है उनके लिए ये बेकार हैं। वे सुनेंगे और चले जायेंगे। मै तो सबको अधिकारी समझता हूँ। इसलिए समझता हूँ कि इन बातो को छिपाना ठीक नही। किसी एक व्यक्ति के मन में भी इन बातों से लगन लग जाय तो मै अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।"

ऐसा मैने उन महात्माओं को कहा; परन्तु योग के इन रहस्यों को मै आपके समक्ष रखता हूँ तो इस मनोमय कोश और अन्त:करण-चतुष्टय की स्पष्ट तसवीर आपके सामने रखने के लिए।

यह मन अन्तत. है क्या ? हमारा मन है न, इसे इधर फेर दो या उधर फेर दो, यह हमारे वश में नही तो फिर किसके वश में है ?

परन्तु ये मन, बुद्धि और चित्त किस प्रकार उस प्रीतम को पाने में हमारे सहायक बन सकते है—यह बात अब मै आरम्भ करना चाहता हूँ। यह अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश किस प्रकार हमें लक्ष्य की ओर ले-जाने में सहायक हो सकते

हैं—यह बात आपसे कहना चाहता हूँ। इस क्रम में सबसे पहली बात यह सुनिये कि सब-के-सब कोश तीन गुणों वाले है। ये प्रकृति से बने है। इसलिए प्रकृति के तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम इनमें विद्यमान हैं। इनमें से प्रत्येक के तीन पहलू है।

अब देखिये, एक व्यापारी है, वस्त्रों की दुकान करता है। एक दिन प्रातः एक ग्रामीण उसकी दुकान पर आया। यह ग्रामीण भी ग्राम मे अपनी दुकान चलाता है। अपनी दुकान के लिए पाँच-छह सौ रुपये का कपडा खरीदा। स्वाभाविकरूपेण इस बात से दुकानदार को प्रसन्नता हुई कि प्रातःकाल ही इतना कपडा बिक गया। पर्याप्त लाभ भी हो गया। यह सात्त्विक भावना है। किसी को दुःख पहुँचाकर नहीं, सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी होना, दूसरे को लाभ पहुँचाकर अपने को लाभ पहुँचाना। परन्तु इसी दुकान के सामने एक और दुकान है। उसके स्वामी भी कपड़ा बेचते हैं। वे देखते हैं कि प्रातःकाल ही सामनेवाले दुकानदार ने पाँच-छह सौ रुपये का कपड़ा बेच लिया है। इनको अपनी कोई हानि नहीं, परन्तु दिल-ही-दिल में जल रहे है कि दूसरे दुकानदार को लाभ क्यों हुआ है? यह है राजसी भावना—रजोगुण से पैदा होनेवाला दुःख। जिसमें यह गुण है वह दूसरे के दुःख से सुखी और दूसरे के सुख से दुःखी होता है। परन्तु इस बाजार में एक भिखारी भी बैठा भीख माँग रहा है। इसके पास कोई दुकान नहीं, कपडा नही, फिर भी वह इस बात से दुःखी है कि यदि उसके पास रुपया होता, यदि वह भी दुकान ले सकता, यदि वह भी कपडा बेच सकता और यह ग्रामीण प्रातःकाल उसकी दुकान पर कपड़ा खरीदने आता तो कितना उत्तम होता! परन्तु ऐसा हुआ नही। इसलिए वह रोता है, दुःखी है। यह है तामसी भावना—तमोगुण से उत्पन्न होने-वाला दुःख या सुख। अब देखिये, बात एक है—कपडा खरीदा गया, परन्तु तीन व्यक्तियो पर इसका तीन प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रभाव हुआ।

और भी देखिये! रामदास के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। रामदास प्रसन्न हुए। उसका परिवार भी प्रसन्न है परन्तु उसके पडोस में एक और सज्जन हैं जो अत्यधिक दुःखी हो उठे हैं। उनका विवाह हुए

पन्द्रह वर्ष बीत गये; अभी तक सन्तान नहीं हुई। रामदास का विवाह दो वर्ष पूर्व हुआ और पुत्र भी हो गया। इस बात से उनका जी जल-जलकर राख हुआ जाता है। उनके निकट ही एक और सज्जन है। क्वारे है; विवाह अभी हुआ नही और सोच रहे है—'हमारा भी विवाह हुआ होता तो हमारे यहाँ भी पुत्र हो जाता!' यह सब-कुछ हुआ नही, इसलिए दु:खी हैं। 'पुत्र का जन्म' एक बात है परन्तु तीन स्थान पर इसका तीन प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रभाव हो रहा है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक बात में तीन गुण रहते हैं, तीन पहलू।

अब दूसरी बात सुनिये!

मन, बुद्धि और चित्त—सबमें जहाँ ये तीन गुण है, वहाँ एक ही इच्छा है कि सुख मिल जाय। सुख, चैन, आराम, शान्ति, सन्तोष, सब लोग यही चाहते हैं। सबका जी चाहता है कि काम थोडा हो, वेतन अधिक हो। परिश्रम थोड़ा करना पड़े अथवा बिल्कुल न करना पडे, लाभ बहुत हो। और हमारे आजकल के विद्यार्थी हैं न, उनमें कई ऐसे हैं जो चाहते है कि पढने के कष्ट से मुक्ति मिल जाय, घर बैठे डिग्री प्राप्त हो जाय।

परन्तु यह इच्छा प्रकृति के अनुकूल तो है नहीं भाई! इस ससार में कर्म का ही फल मिलता है। कर्म के बिना फल कभी मिलता नहीं। बुरे कर्म का उत्तम फल कभी मिलता नहीं। विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली परन्तु वह भी ऐसा नही कर सका कि आप लाल मिर्च का बीज बोयें और उससे आम उगने आरम्भ हो जायँ। हम यदि चाहते हैं सुख, चैन, शान्ति, सन्तोष, और काम करते हैं ऐसा जिसका परिणाम दु:ख और अशान्ति है तो मनचाहा फल मिलेगा कैसे?

तब उपाय क्या है?

केवल यह कि मन, बुद्धि और चित्त को दु:ख देनेवाली वस्तुओ से परे कर दो, सुख देनेवाली वस्तुओं की ओर ले चलो। जो ज़ंजीरें जन्म-जन्म के सस्कारो से बन गई है, उन्हें शनै:-शनै. हल्का करो, कम करो, तोड़ो और उस मार्ग की ओर बढ़ो जो वास्तव में आनन्द और सुख का मार्ग है।

ये शृङ्खलाएँ क्या है ? सबसे पहला पाश है मोह-ममता। बहुत दृढ पाश है यह---बहुत भयानक ! टूटता ही नही। कई लोगों को मैने देखा वे संसार से बहुत दु:खी है, संसार से परे हटना चाहते हैं परन्तु इस पाश को तोड़ नहीं पाते। एक बहुत अच्छे आर्य सज्जन है। एक दिन मुझसे बोले—"स्वामी जी ! आपने अच्छा किया कि घर-बार छोडकर सन्यासी हो गये। मेरा भी जी चाहता है कि ऐसा ही करूँ। यह संसार तो दु:खों का भण्डार है।" मैने कहा—"तो तुम भी छोड़ दो भाई ! मेरी भाँति संन्यासी हो जाओ।" परन्तु यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। छोड़ना चाहते है परन्तु छोड नही सकते।

एक कथा है कि नारद मुनि संसार के विभिन्न भागों को देखते हुए एक दिन नारायण के पास जा पहुँचे और बोले—"भगवन् ! मैं सारा संसार घूम आया हूँ। सर्वत्र दु:ख-ही-दु ख है, सुख तो कही देखा नहीं। आप यहाँ आनन्दस्वरूप बनकर आनन्द में मग्न हो और आपका संसार दु:ख भोग रहा है, यह तो कुछ अच्छी बात नहीं।"

नारायण बोले—"यह तो ठीक है, नारद जी, कि संसार के लोग दु:खी है परन्तु आपने यह भी सोचा कि क्यों दु:खी है ?"

नारद जी ने कहा—"सोचा तो बहुत नारायण महाराज ! परन्तु मुझे तो कोई कारण मिला नही। इसीलिए आपके पास आया हूँ—यह पूछने कि वे लोग दु खी क्यों है।"

नारायण बोले—"देखो मुनि जी ! ससार के लोग दो बातों से दु:खी है—एक तो मोह-ममता के कारण जिसे वे छोड़ नहीं पाते, दूसरे इसलिए कि वे उस भगवान् का भजन नही करते जो आनन्द का भण्डार है और जिसके अतिरिक्त आनन्द कहीं मिलता नहीं।"

लोग कहते हैं कि इन दो बातों को करे, परन्तु करते नहीं, केवल सोचते रहते है कि करेंगे। करौल बाग में एक सज्जन रहते थे। शायद अब भी रहते होंगे। पर्याप्त अवस्था के हो गये, पर्याप्त दु:खी भी थे। एक दिन मेरे पास आये; बोले—"आप गगोत्री जाते हो, इस बार जाओ तो मुझे भी साथ ले चलो।"

मैने कहा—"अवश्य ले चलूँगा। जाने से पूर्व आपको पत्र लिखूंगा, आप तैयार हो जाना।"

प्रस्थान करने से बहुत पहले मैंने उन्हें लिखा कि "मैं अमुक दिन देहली पहुँचूंगा। वहाँ से हरिद्वार, ऋषिकेश, उत्तरकाशी और गंगोत्री जाऊँगा, आप तैयार रहिये। साथ में कुछ गर्म वस्त्र ले लेना, एक कम्बल भी, एक टॉर्च भी और पेट को ठीक रखने की कुछ दवाई भी।"

मैं देहली आया तो वे मुझे मिले; बोले—"आपका पत्र मिल गया था, इसके लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं आपके साथ चलता अवश्य, परन्तु मेरे पुत्र का विवाह निश्चित हो गया है। कुछ ही दिन पश्चात् विवाह होनेवाला है, इसलिए इस वर्ष तो नहीं चल सकता, अगले वर्ष चलूँगा।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है, अगले वर्ष चलना।"

अगले वर्ष वे बोले—"स्वामी जी ! मैं चलता तो अवश्य परन्तु वह जो बहू रानी आई है न, इतनी अच्छी है, इतनी देवी कि उसकी बात मुझसे टाली नही जाती। वह कहती है कि पिता जी ! अभी-अभी मैं आई हूँ, अभी-अभी आप घर से चल दोगे तो लोग कहेंगे कि यह कैसी डायन आ गई है। आते ही श्वसुर को घर से निकाल दिया है। इसलिए इस वर्ष तो चल नहीं सकता, अगले वर्ष चलूँगा अवश्य।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है भाई ! अगले वर्ष चलना। गंगोत्री तो वहीं रहेगी, कहीं चली नहीं जायेगी।"

अगले वर्ष आर्यसमाज करौल बाग में मेरी कथा हो रही थी तो वे मुझे मिले; बोले—"एक दिन हमारे यहाँ भोजन करने के लिए आइये।"

मैंने कहा—"आऊँगा अवश्य। मैं तो भिखारी हूँ। कहीं-न-कहीं मुझे भिक्षा करनी है, तुम्हारे यहाँ खा लूँगा।"

उनके यहाँ पहुँचा तो वे एक छोटे-से बच्चे को मेरे पास ले आये। बहुत सुन्दर, गोरा-चिट्टा बच्चा था वह। बोले—"स्वामी जी ! यह मेरा पोता है। देखिये, कितना सुन्दर, कितना प्यारा ! हम दोनों का आपस में इतना प्यार है कि मै तो इसे चूम-चूमकर थकता नही।"

मैंने कहा—"यह तो बहुत अच्छी बात है। तुम्हारे पोता हो गया, अब तो गंगोत्री चलो।"

वे बोले—"अब आप ही देखिये स्वामी जी ! इसे छोड़कर जाऊँ कैसे ? अब तो कही जाने को जी चाहता ही नहीं ।"

यह है मोह-ममता का पाश ? मनुष्य इसे तोड़ना चाहता है परन्तु यह टूटता नही । ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः ।
अत्रा जहाम य असन्नशेवाः ये शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ।।

—ऋ० १० । ५३ । ८ ।।

फिसलने पत्थरों से भरी हुई संसार-रूपी यह नदी बहती चली जाती है, दौड रही है लगातार । उठो, कमर बाँधो, इसे पार करो । परन्तु ये पत्थर है बहुत फिसलनेवाले । इनसे बचने के लिए पहले इन बन्धनो को दूर करो, उन गठड़ियों को, उस बोझ को परे हटा दो जो तुम्हारा आगे बढना कठिन कर देंगे । इन गठड़ियों को उतारे बिना यह नदी पार नहीं होगी ।

और ये गठडियाँ क्या हैं ? ये बन्धन क्या हैं ? सबसे पहले यह मोह-ममता जो दिखाई देती नहीं, टूटती भी नही । परन्तु जबतक इसे छोडोगे नहीं, तबतक इस नदी को पार कैसे करोगे ? मैं यह नहीं कहता कि अपने बच्चों को, घर-बार को छोड़कर भाग जाओ अथवा देहली से दूर चले जाओ । देहली तो बहुत उत्तम नगर है । इतनी चमक-दमक है यहाँ, इतने उत्सव होते है, सभाएँ होती है, प्रत्येक वस्तु यहाँ मिलती है । लिपस्टिक भी मिल जाती है । गाँव में अथवा किसी जगल में यह सब-कुछ मिलेगा नहीं । परन्तु इतना तो करो कि जो शृङ्खलाएँ तुमने बाँध रक्खी है इन्हें थोड़ा ढीला करो, नर्म कर दो, हल्का कर दो—

तुलसी जग में यूँ रहो, ज्यूँ रसना मुख माँहि ।
खाती घी और तेल नित, फिर भी चिकनी नाँहि ।।

मुँह में यह जिह्वा है न, कितना ही घी इसे खिला दो, तेल पिला दो, फिर भी यह चिकनी नहीं होती । इस प्रकार संसार में रहो—कमल के पुष्प की भाँति जो पानी में रहता है और गीला नही होता । श्रीनगर में डल झील है न, वहाँ लाखों कमल खिलते हैं । पानी इनके पत्तों पर गिरता है जो बूंद-बूंद होकर मोती की भाँति चमकने लगता

है, पत्ते को गीला नहीं कर पाता—

ज्यूँ जल भीतर कमल है, जल में डूबत नांहि।
ज्ञानी जग में रहत भी, लिप्तमान हो नांहि॥

इस प्रकार रहो संसार में। काम करो, व्यवसाय करो, मोटर खरीदो, कोठियाँ बनाओ, वायुयान भी ले लो, पत्नी और बच्चों का पालन और पोषण भी करो, परन्तु इनमें फँस न जाओ।

कुछ माताएँ मन-ही-मन सोच रही है कि आनन्द स्वामी यह कैसी बात कहता है ? बच्चों का पालन-पोषण बिना मोह-ममता के कैसे हो सकता है ? मैं कहता हूँ हो सकता है। इस प्रकार जैसे नर्स करती है। एक बच्चा हुआ। पत्नी ने पति से कहा—"मैं बहुत निर्बल हूँ। किसी नर्स का प्रबन्ध कर दो जो बच्चे को पाले। मैं तो अपना दूध भी नहीं पिला सकती।" तो पति ने रख दी एक 'आया'। वह बच्चे को खिलाती, पिलाती, नहलाती, उसे प्यार करती, रात्रि के समय उसे अपने पास सुला भी लेती। अब बच्चा तो उसका है जो उसे प्यार करे। कुछ मास व्यतीत हुए तो माँ ने अपने बच्चे को प्यार करने के लिए अपने पास बुलाया। वह आया ही नहीं। वह तो नर्स को अपनी माँ समझता था। इसपर पत्नी ने अपने पति को कहा—"यह तो बुरी बात हो रही है। मेरा तो बच्चा ही मुझसे छिना जाता है। इस नर्स को निकालो !" पति ने नर्स को बुलाया। जितने मास उसने काम किया था उसका हिसाब किया; बोला—"तू बहुत अच्छी देवी है। बहुत अच्छी प्रकार तूने बच्चे का पालन-पोषण किया, परन्तु अब आवश्यकता नहीं। तू अपना वेतन ले और जा। जब फिर आवश्यकता होगी तो तुझे बुला लेंगे।" नर्स ने वेतन लिया, बच्चे को प्यार किया, चूमा और चली गई।

ऐसे करो बच्चों का पालन-पोषण, मोह-ममता में फँसे बिना, अपना कर्त्तव्य समझकर, फिर कोई कष्ट नहीं होगा। परन्तु जो लोग मोह-ममता में फँसते हैं, वे कर्त्तव्य की ओर तो ध्यान कम देते है, मोह अधिक करते हैं। बच्चा बीमार है। चाट खाना उसके लिए ठीक नही। अब कर्त्तव्य तो यह है कि वह रोये-धोये, कुछ भी करे, उसे चाट मत खाने दो। परन्तु बच्चा रोता है, चिल्लाता है—"मैं तो चाट

ही खाऊँगा।" मोह-ममता की मारी बच्चे का रोना देख नही सकती, चाट मँगवा देती है, बच्चा और अधिक रोगी हो जाता है।

लाहौर की एक घटना स्मरण आती है मुझे। एक घर में दो बच्चे थे। एक को सन्निपात ज्वर (मियादी बुखार) हो गया। पहले ग्यारह दिन में अवस्था सुधरी नहीं, दूसरे ग्यारह दिन में और खराब हो गई। ज्वर कम हुआ, फिर चढ़ा। अब बच्चा रोने लगा कि मै तो पेड़े खाऊँगा। माँ ने समझाया—"डॉक्टर ने तुझे केवल ग्लूकोज का पानी देने के लिए कहा है।" परन्तु बच्चा माना नहीं; रोने लगा। उसका रोना देखकर माँ के मन मे ममता जाग उठी। उसने पेड़े मँगवाये, बच्चे को पेड़े खिला दिये। दूसरे दिन बच्चा मर गया। अब यह ममता क्या हुई? यह तो शत्रुता हो गई। मोह-ममता के इस जाल से बाहर आओ! बच्चे के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूरा करो। सच्चा मार्ग यही है! मोह-ममता सीधा मार्ग है नही। मोह-ममता बच्चे को वापस नही लायेगी। कर्त्तव्य का पालन किया जाता तो शायद बच्चा बच जाता।

परन्तु केवल बच्चों की क्यों? कई प्रकार की मोह-ममता की जंजीरें हमने बाँध रक्खी हैं। धन-सम्पत्ति, पद, चौधरपन—ये सब पाश है। इन्ही के कारण झगड़े होते हैं। देश में, सभाओं में—सर्वत्र होते है। इन शृङ्खलाओ से हमने अपने-आपको जकड़ रक्खा है और समझते हैं कि लक्ष्य पर पहुँच जायेंगे। तो बताओ मेरे भाई! कैसे पहुँचोगे? पिछले दिनों उन लोगों की कहानी सुनाई थी न, जो काशी में रहते थे और नौका मे बैठकर प्रयागराज जाना चाहते थे। सबने भाँग पी रक्खी थी। बैठ गए नौका में, रातभर चप्पू चलाते रहे। प्रातः देखा कि नौका अब भी काशीजी के घाट पर है, क्योंकि जिस रस्सी के साथ नौका बँधी थी उसे किसी ने खोला ही नही था।

अरे भाई, लक्ष्य पर पहुँचना है तो मोह-ममता की इस रस्सी को खोलो! ये बन्धन तोड़ दो, अन्यथा मंजिल कभी मिलेगी नही। तुम चप्पू चलाते रहोगे और नौका काशीजी के घाट पर खड़ी रहेगी। एक रात नही, एक प्रात. नही, सैकड़ों प्रातः चप्पू चलाते रहो, मंज़िल कभी मिलेगी नही।

प्रायः लोग ऐसी बातें सुनते हैं तो मन में प्रभु-दर्शन की इच्छा जागती है। बैठ जाते हैं ध्यान लगाने के लिए, परन्तु मन लगता नहीं; लग भी जाय तो आगे नहीं बढता।

एक शिष्य की यही अवस्था हुई। गुरु ने उसे ध्यान लगाने की विधि बताई। शिष्य बैठा ध्यान में। कुछ-कुछ ध्यान लगा, पूरा लगा नहीं। उसने गुरुजी से कहा—"महाराज! आपकी बताई विधि के अनुसार ध्यान में बैठता हूँ परन्तु फिर भी पूरी तरह ध्यान लगता नहीं। इसका क्या कारण है?" गुरुजी ने कहा—"कल तू मेरे साथ घमने चलना, मार्ग में बताऊँगा कि इसका कारण क्या है।" दूसरे दिन शिष्य गुरुजी के साथ घूमने के लिए जाने लगा तो गुरु ने इससे पहले चेले के जूते में कुछ ककर डाल दिये। चेले ने जूता पहना और चल दिया।

परन्तु अभी थोडी ही दूर गया तो खडा हो गया। एक कंकर बहुत कष्ट दे रहा था; उसे निकाला, फिर आगे बढ़ा। गुरुजी इतनी देर में पर्याप्त आगे चले गये थे। परन्तु कुछ देर पश्चात शिष्य के जूते में दूसरा ककर चुभने लगा। वह फिर रुका, उस कंकर को भी निकाला। गुरुजी और आगे निकल गये। थोडी देर पश्चात् शिष्य को तीसरे ककर ने कष्ट देना शुरू किया। वह फिर रुका। गुरुजी ने आवाज देकर पूछा—"यह क्या करता है तू? बार-बार रुक जाता है, चलता क्यों नहीं?" शिष्य ने कहा—"गुरुजी! जूते में कंकर हैं, वे चलने नही देते।" गुरुजी ने कहा—"यही तेरे प्रश्न का उत्तर है। यदि जूते के ककर तुझे सड़क पर नहीं चलने देते तो तेरे मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार के जो ककर है वे तुझे ध्यान के मार्ग पर कैसे चलने देगे? इन कंकरों को निकाल दे तो चलना सरल हो जायेगा, तू अधिक तीव्र गति से लक्ष्य की ओर बढेगा।"

इस मस्तिष्क के भीतर जो गुफा है, जो ब्रह्मरन्ध्र है, वहाँ यदि पहुँचना है भाई! तो पहले इन पाशों, शृङ्खलाओं और ककरों को दूर करो। इन्हें दूर करने और वहाँ पहुँचने के लिए साधना करनी पडती है, परिश्रम करना पडता है। सुस्त और आलसी मनुष्य वहाँ तक कभी पहुँच नहीं सकता। कई लोग चाहते है कि लेटे-ही-लेटे

उन्हें आत्मदर्शन हो जाय। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि पोस्ती की भाँति लेटे-लेटे यह बात हो नहीं सकती।

पोस्ती यदि पोस्त पीकर लेटा रहे तो होगा क्या? कहावत है कि—

पोस्ती ने पिया पोस्त, नौ दिन चला अढ़ाई कोस।

एक पोस्ती ने यह कहावत सुनी तो कहा—"अरे! वह पोस्ती नही, डाक का हरकारा होगा। पोस्ती और नौ दिन में ढाई कोस चल ले, यह सम्भव ही नही।" पोस्ती के सम्बन्ध में वास्तविकता तो यह है कि 'पोस्ती ने पिया पोस्त, फिर कूण्डी के इस पार या उस पार।'

दो पोस्ती आम के एक वृक्ष के नीचे लेटे थे। एक की छाती पर पका हुआ आम गिर पडा। घण्टों तक उसने आम उठाया नही। पर्याप्त समय के पश्चात् एक व्यक्ति उधर से निकला तो पोस्ती ने पुकारकर कहा—"अरे भाई! तनिक यह आम तो मेरे मुंह मे निचोड दो!" उस व्यक्ति ने कहा—"कैसा आलसी है तू! छाती पर आम पड़ा है और स्वय उठाकर चूस नही सकता।" दूसरे पोस्ती ने कहा—"सचमुच यह बहुत सुस्त है। रातभर कुत्ता मेरा मुंह चाटता रहा। मैंने इसे कई बार कहा कि इसे हटा दो परन्तु इसने एक बार भी उसे हटाया नही।"

नही भाई! ऐसे लोगों का कोई इलाज नही। आत्मदर्शन उसे होता है जो पुरुषार्थ से काम लेता है, जिसके हृदय में इसके लिए तीव्र इच्छा जागृत हो जाती है, जो थके बिना, रुके बिना इसके लिए पुरुषार्थ करता है।

यह मैंने पहली बात कही आत्मदर्शन के लिए।

अब दूसरी बात सुनिये! दूसरी बात यह कि आत्मदर्शन के लिए तप, दम और कर्म की आवश्यकता है। तप शरीर का वशीकरण, दम मन का वशीकरण और कर्म अर्थात् काम करने की शक्ति। यदि दो मन या ढाई मन के इस शरीर पर मेरा नियन्त्रण नही तो उस मन पर कैसे होगा जो अत्यन्त सूक्ष्म है? गुरुजी ने कहा—"ढाई घण्टे तक एक आसन पर बैठो।" चेले ने कहा—"महाराज! मैं तो

पन्द्रह मिनट भी नही बैठ सकता।" तो इस प्रकार वह प्रीतम मिलता नही। जबतक मन में तप की भावना न हो, तबतक यात्री कभी लक्ष्य पर पहुँचता नहीं; और मन को वश में करना हो तो उसके पास कोई सहारा होना चाहिए। यह सहारा कैसा हो सकता है, जो लक्ष्य तक ले चले—

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रः
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

शरीर के अन्त में, जहाँ शरीर समाप्त हो जाता है वहाँ वह जगमगाती ज्योति है, उसे वही यति लोग, वही तपस्वी लोग देखते है जिनके दोष क्षीण हो गये है।

उस ज्योति के पास पहुँचने के लिए मन, बुद्धि और चित्त को एक आश्रय चाहिए। यह आधार है प्रेम और भक्ति। ज्ञान अच्छी वस्तु है। इससे भी सहारा मिलता है। परन्तु कोरा ज्ञान कुमार्ग पर भी ले जाता है। ये ऐटम बम, हाइड्रोजन बम और दूसरे विनाशक हथियार ज्ञान से ही तो निर्मित हुए है! इसलिए निर्मित हुए हैं कि इस ज्ञान के साथ प्रेम और भक्ति की भावना नही थी। यह प्यार और भक्ति ही वास्तविक आधार है। कोरा ज्ञान किसी काम का नहीं। परन्तु यह प्रेम और भक्ति उत्पन्न होती है श्रद्धा से—

धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि।
अन्तःकरणशुद्धिश्च भक्तिः परमसाधनम्॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार वस्तुओ की मनुष्य इच्छा करता है। इनको प्राप्त करने का मार्ग है ज्ञान और वैराग्य। ज्ञान और वैराग्य का मार्ग है मन की, अन्तःकरण की शुद्धि, और शुद्धि का सबसे बडा साधन है भक्ति।

धर्म है मानव-जीवन के लिए, अर्थ है ससार के लिए, काम है मन के लिए, मोक्ष है आत्मा के लिए और सबका साधन है भक्ति, और यह भक्ति श्रद्धा के विना होती नहीं। आजकल दलीलो का युग है। युक्ति के पश्चात् युक्ति देते जाओ, यही फैशन बन गया है। युक्ति ठीक भी है या नही, यह न देखना भी फ़ैशन बन गया है।

एक व्यक्ति ने कहा—"गायत्री-मन्त्र को यदि स्त्री पढे तो विधवा

हो जाती है।" मैंने कहा—"यह तो झूठ है। मैं तो तुम्हें ऐसी देवियाँ दिखा सकता हूँ जो बीस वर्ष से गायत्री-मन्त्र का जाप कर रही हैं और उनका सुहाग ज्यों-का-त्यों है।" एक और सज्जन ने कहा—"स्त्री के लिए ओम् का जाप करना ठीक नही। ओम् अकेला है, इसलिए स्त्री भी अकेली रह जाती है।" मैंने कहा—"इससे बड़ा झूठ कोई हो नहीं सकता। ओम् में अ, उ और म्—तीन अक्षर है। इनका अर्थ है सत्, चित् और आनन्द। ओम् अकेला कैसे है? उसका जाप करनेवाला अकेला कैसे रह सकता है?" परन्तु ये दलीलबाज़ी की बाते है, आधार कुछ है नही। प्रत्येक व्यक्ति समझ लेता है कि जो दलील मैं देता हूँ वही ठीक है। परन्तु सुनो, सुनो! कोरी दलीलबाजी से आत्मदर्शन कभी होगा नही। इसके लिए श्रद्धा की आवश्यकता है, इसलिए वेद भगवान् ने कहा—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धाहृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

—ऋ० १०। १५। १४॥

जो लोग कहते है कि श्रद्धा केवल मूर्खों और अनपढों के लिए है वे इस मन्त्र पर विचार करें। इसका अर्थ है देव लोग, यज्ञ करनेवाले लोग, हवा में उड़नेवाले, आकाश-समाधि लगानेवाले योगी श्रद्धा की उपासना करते है। विद्वान् लोग, श्रद्धा को हृदय में जगाकर आत्म-दर्शन करते है।

इस मन्त्र में मूर्खों और निरक्षर लोगों का कहीं वर्णन है?

देखो, ज्ञान अच्छा है, दलील भी अच्छी है, परन्तु जबतक ज्ञान के साथ श्रद्धा न हो, तबतक कुछ मिलता नहीं। ज्ञान और भक्ति का दीपक लेकर आगे बढो, तब मार्ग मिलेगा। भक्ति का सहारा लेकर आगे बढ़ो, तब सफलता मिलेगी।

और भक्ति क्या है? भक्ति का तात्पर्य है बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी इच्छा के, बिना किसी छल-कपट के किसी की सेवा करना, उसकी सेवा में अपने-आपको अर्पण कर देना—जिसे हम प्यार करते है अपने-आपको उसे सौंप देना।

और हम जो भक्ति करते है वह कैसी है, इसके सम्बन्ध में मैं

अधिक कहता नहीं। गीता में भगवान् कृष्ण ने कई प्रकार की भक्तियों का वर्णन किया है; अन्त में कहा कि निष्काम भक्ति ही वास्तविक भक्ति है। और आजकल तो निष्काम भक्ति का प्रश्न ही नही रहा। मैं जा रहा था देहली से गाजियाबाद। मेरे पास ही रेलगाडी मे एक वृद्धा देवी बैठी थी। यमुना का पुल आया तो उसने जेब से तीन नये पैसे निकाले; एक पैसा यमुना मे फेककर बोली—"यमुना मैया! मेरे पुत्र की नौकरी लग जाय!" दूसरा पैसा फेंककर बोली—"यमुना मैया! मेरे पुत्र का विवाह हो जाय!" तब वह तीसरा पैसा फेंककर बोली—"यमुना मैया! मेरे यहाँ पोता हो जाय!" मैंने उसकी बात सुनी तो हँसते हुए कहा—"माँ! अब तो महँगाई का युग है और तू इतने सस्ते मोल में सब-के-सब सुख खरीद लेना चाहती है और वह भी तीन नये पैसो से? बेचारी यमुना मैया क्या करेगी?"

तो ऐसी भक्ति होती है आजकल! माला ले ली, जाप शुरू किया। जाप के पश्चात् प्रार्थना आरम्भ होती है: "भगवन्! मेरी दुकान में जो माल पड़ा है कल तक उसका मूल्य दुगुना हो जाय!" यह भक्ति है या दुकानदारी? यह सौदा करना है, भक्ति करना नहीं।

ध्रुव भक्त गये जगल मे, आसन लगा लिया, आँखें मूँद लीं, ध्यान लगाया, तब गर्मी-सर्दी, धूप-वृष्टि, आँधी-तूफान सब आये, ओले गिरे, बिजलियाँ कड़कीं, बवण्डर उठे। दिन व्यतीत हो गये, रातें व्यतीत हो गई, मास व्यतीत हो गये। इस कठिन तप को देखकर भगवान् के मन में दया जाग उठी। ध्रुव के अन्दर से आवाज आई—"मेरे ध्रुव! इतना कठोर तप क्यों कर रहे हो?" ध्रुव ने उत्तर दिया—"मैं तो कुछ भी नहीं चाहता मेरे स्वामिन्! कोई इच्छा मेरे मन में नहीं।" भगवान् ने फिर कहा—"फिर भी कोई तो इच्छा होगी? इतना घोर तप तुम कर रहे हो तो क्यों कर रहे हो? ध्रुव ने उत्तर दिया—"मैं व्यापारी नही हूँ मेरे प्रीतम! मै दुकानदारी नहीं करता, बदला नही चाहता। मैं यह सब-कुछ करता हूँ तो इसलिए कि तू मुझे प्रिय लगता है।"

भगवान् दयानन्द के जीवन में एक समय आया, जब किसी ने उन्हें विष दे दिया। उनकी नस-नस में, शरीर के प्रत्येक अंग में विष

फैल गया। इसके कारण सारे शरीर पर फफोले हो गये। हर आबले में दर्द और टीस। कितने ही डॉक्टर आये परन्तु उन्हे आश्चर्य हुआ कि इतना भीषण दर्द होते हुए भी महर्षि के माथे पर विषाद की कोई रेखा नहीं; जिह्वा पर हाय का शब्द नही। मुखमण्डल पर वही मुस्कराहट; होठों पर वही हँसी। तब अन्तिम समय आ पहुँचा। अजमेर नगर, दीपावली का दिन, शाम का समय। महर्षि उठकर बैठ गये; बोले—"आज कौन-सी तिथि है? क्या वार है?" पास खडे भक्तों ने बताया—"आज दीपावली का दिन है।" महर्षि ने थोड़ी देर सोचा; बोले—"ठीक है, ये सब द्वार खोल दो! सब लोग मेरे पीछे खड़े हो जाओ!" ऐसा हो गया तो महर्षि देर तक गायत्री-मन्त्र का जप करते रहे। फिर दूसरे वेद-मन्त्र पढे। परन्तु मन्त्र पढ़ने के पश्चात् उन्होंने प्रभु से यह प्रार्थना नही की कि प्रभो! मुझे अभी वेदभाष्य करना है इसलिए मुझे जीने दो। यह प्रार्थना भी नही की कि अभी संसार को मेरी आवश्यकता है अतः मेरे जीवन को लम्बा कर दो। ऐसा कुछ भी नहीं किया उन्होंने। इसकी अपेक्षा—

प्रभो! आपकी हूँ मैं शरण निज चरण सेवक कीजिये।
मैं कुछ नहीं हूँ माँगता जो आप चाहें दीजिये॥
सर आँख से मंजूर है दुख दीजिये सुख दीजिये।
जो भी हो इच्छा कीजिये पर दूर न दर से कीजिये॥

ऐसी भावना के साथ तीन बार उन्होंने कहा—"प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो! तेरी इच्छा पूर्ण हो! तेरी इच्छा पूर्ण हो!" और एक लम्बा श्वास लेकर प्राण त्याग दिये।

श्री रामकृष्ण परमहस को गले में कैंसर हो गया। दर्द बहुत था, श्वास लेना कठिन होता जा रहा था। डॉक्टर उन्हें देखने आया तो बोला—"महाराज! आपमें वह शक्ति है जो दूसरो को अच्छा कर देती है। आप स्वयं अपने रोग को दूर क्यों नही कर लेते? तीन बार कहिये 'मेरा रोग दूर हो जाय'—यह रोग दूर हो जायेगा।"

परमहंस बोले—"डॉक्टर! मैने तो समझा था, तुम बहुत विद्वान् व्यक्ति हो, डॉक्टर नहीं विद्वान् हो तुम। परन्तु यह क्या पाठ पढाते हो मुझे? मैंने अपने चित्त को मास और हड्डियों के इस शरीर से

हटाकर भगवती माँ के चरणों में लगा दिया है। तुम अब चाहते हो कि वहाँ से हटाकर फिर हाड़-मांस के इस शरीर में लगा दूं ? कैसी छोटी बात कहते हो तुम !"

डॉक्टर साहब चुप हो गये परन्तु परमहंस के शिष्यों को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा—"आप स्वयं नहीं करते महाराज, तो भगवती माँ को कहिये कि वह इस रोग को दूर कर दे।"

परमहंस बोले—"तुम मूर्ख हो ! वह मेरी माँ है, मैं उसका बच्चा हूँ। वह मुझसे करोड़ों गुणा समझदार है। वह जानती है कि रामकृष्ण के लिए अच्छा क्या है। यदि वह यह समझती है कि इस दर्द और रोग में मेरा भला है तो मैं इसमें हस्तक्षेप क्यों करूँ ?"

यह है भक्ति ! जिससे प्यार है, जिसे हम प्रभु, प्रीतम, स्वामी और भगवान् कहते हैं, अपने-आपको पूर्णरूपेण उसके अर्पण कर देना।

बैठे थे युधिष्ठिर महाराज एक निर्जन, वन्य पहाड़ी प्रदेश में। वनवास के दिन थे। बारह वर्ष का वनवास भोग रहे थे पाण्डव। द्रौपदी भी महाराज युधिष्ठिर के पास बैठी थी। महाराज अभी-अभी प्रात:-काल का भजन करके हटे थे। द्रौपदी ने कहा—"महाराज ! आप ईश्वर की इतनी भक्ति करते हो, उससे यह नहीं कह सकते कि हमारे इन कष्टों को दूर कर दे ? कितना कष्ट है ! मारे-मारे फिर रहे है हम वनों, पहाड़ों और निर्जन स्थानों में। आप क्या ईश्वर को कहकर इन कष्टों को समाप्त नहीं करा सकते ?"

युधिष्ठिर बोले—"द्रौपदी ! मैं मानता हूँ कि कष्ट हैं, दुःख है, परन्तु मै इन्हें दूर कराने के लिए तो भगवान् की भक्ति नहीं करता ! वह देखो, सामने रम्य पर्वत है। मेरी आँखें उधर स्वयमेव खिच जाती है, क्योंकि उसे देखकर मेरा मन प्रसन्न होता है। इसी प्रकार मैं भगवान् की भक्ति करता हूँ तो किसी बदले के लिए नहीं, अपितु इसलिए कि प्रभु मुझे अच्छे लगते है, उनका ध्यान करने से मुझे प्रसन्नता होती है।"

यह है सच्ची भक्ति !

भक्ति कर भगवान् की, काम तेरे जो आयेगी।

आप इस प्रकार भक्ति करोगे तो स्मरण रक्खो, भगवान् आपको भूलेगा नही। अपने भक्त को वह कभी भूलता नहीं।

वेद ने स्पष्ट रूप से कहा—

अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।

—ऋ० १०।४८।१॥

यह है भगवान् की प्रतिज्ञा! दाशुष कहते है उस भक्ति को जिसने अपना सब-कुछ भगवान् के अर्पण कर दिया है। भगवान् कहते हैं—"मेरा ऐसा जो भक्त है उसका भोजन लेकर मैं उसके पीछे-पीछे घूमता हूँ।"

अरे, भगवान् तो दयानिधि है। कृपा का सागर है, करुणा का सागर है, वह पत्थरदिल तो नहीं! तुम एक बार उसके होकर देखो। उसपर भरोसा करके अपने-आपको उसपर छोडकर देखो, फिर देखो कि क्या होता है—

सारी दुनिया से हाथ धोकर देखो,
जो कुछ है रहा-सहा, वो खोकर देखो।
क्या तुमसे कहूँ इसमें है लज्जत[1] कैसी,
इक बार जरा किसी के होके तो देखो॥

किसी साधारण राज्य-कर्मचारी से किसी व्यक्ति की मित्रता हो तो वह अकड़ता फिरता है। दावा करता है—मै यह करा सकता हूँ, वह करा सकता हूँ। अरे, एक साधारण राज्य-कर्मचारी (अफ़सर) की मित्रता से यह सब-कुछ होता है तो भगवान् की मित्रता से क्या नहीं हो सकता?

यह मित्रता करके तो देखो मेरे भाई! वह परमात्मा तो सम्राटों का सम्राट् है—

शास इत्था महाँ अस्य मित्रखादो अद्‌भुतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन॥

—ऋ०।१०।१५२।१॥

वह प्रभु सबसे महान् शासक है। ऐसा मित्र है वह जिससे बड़ा मित्र कोई हो नहीं सकता। जो इसका हो जाता है, जो इसका मित्र

१. आनन्द।

है, उसे कोई मार नहीं सकता, कोई जीत नहीं सकता, कोई नीचा नहीं दिखा सकता।

यह मैं नहीं कहता भाई! वेद कहता है। तुम वेद को ईश्वर की वाणी मानते हो न? यह बात ठीक भी है। परन्तु यदि मानते हो तो वेदवाणी पर श्रद्धा भी तो करो, विश्वास भी तो करो! परमात्मा का हाथ सबसे बढ़कर है। कुछ चिन्ता न कर, यदि वह हाथ तेरे साथ है। उसपर भरोसा करो तो दु:ख-सकट, कष्ट-क्लेश इस प्रकार व्यतीत हो जायेंगे जैसे सूर्य के सामने से बादल हट जाते हैं।

और ये दु:ख, ये कष्ट—इनका आना आवश्यक है। ये न हों तो मानव-जीवन का अर्थ ही क्या है? हम यहाँ तप करने के लिए आते है। तप में कष्ट न हो तो वह तप कैसा? कष्ट और क्लेश आयेंगे अवश्य। भगवान् कृष्ण के लिए आये। भगवान् बुद्ध, भगवान् दयानन्द और दूसरे महापुरुषों के लिए आये तो तुम्हारे लिए भी आयेंगे। इनसे घबराओ मत! भगवान् का सहारा ले लो तो इन कष्टों से पार पाना सरल हो जायेगा।

इन्सान की अज़्म-ो-हिम्मत[1] से, जब दूर किनारा होता है,
तूफ़ान में टूटी किश्ती का भगवान् सहारा होता है।

महर्षि दयानन्द ने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में प्रार्थना और उपासना के प्रकरण में इसीलिए कहा—"भगवान् की उपासना और प्रार्थना करने से भक्त में ऐसी शक्ति पैदा होती है कि उसके सामने यदि पर्वत-जैसा कष्ट भी आए तो वह उसे सहार लेगा, घबरायेगा नहीं।"

यह है भक्ति का वास्तविक उद्देश्य! कुछ लोग समझते हैं कि भक्ति का तात्पर्य यह है कि अब कोई कष्ट या क्लेश आयेगा ही नहीं। आपने भक्ति आरम्भ की, नाक में दर्द हो गया। आपने कहा—"यह कैसी भक्ति है?" तो अच्छी बात है भाई! न करो भक्ति। परन्तु भक्ति का यह अर्थ नही जो आपने समझ लिया है।

तीन वर्ष हुए मैं हैदराबाद मे गया। सात दिन वहाँ गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में कथा करता रहा। पिछले दिनों फिर गया तो आन्ध्र के

---

१. संकल्प एवं साहस।

गवर्नर श्री भीमसेन जी सच्चर मुझे राजभवन में ले गए; बोले—एक कथा का प्रबन्ध मै करता हूँ। सरोजिनी हॉल में यह कथा हुई। मै कथा कह रहा था तो एक सज्जन मेरे पास आये; बोले—"पिछली बार आपकी कथा सुनकर मैंने गायत्री मन्त्र का जाप शुरू किया। मैं रिक्शा का काम करता हूँ। गायत्री का जाप करतें तीन मास बीते तो मेरी एक रिक्शा जल गई। तीन मास और बीते तो एक रिक्शा चोरी हो गई; और तीन मास बीते तो एक रिक्शा टूटकर चकनाचूर हो गई। मैंने तब से गायत्री मन्त्र का जाप छोड़ दिया है।"

मैंने कहा—"अच्छा किया जो छोड दिया। तुमने यदि समझा कि गायत्री मन्त्र का जाप करने से रिक्शा जलेगी, चोरी होगी या रिक्शा टूटेगी तो बहुत गलत समझा। गायत्री मन्त्र का यह अर्थ है नहीं। इसमें तो भगवान् से यह प्रार्थना है कि मेरी बुद्धि को अपने मार्ग पर ले चलो। यह बुद्धि जब भगवान् की ओर जाती है, जब भगवान् पर भरोसा करती है तो इसमें दुःखों, कष्टों, क्लेशों को सहने की शक्ति जाग उठती है। तुम गायत्री मन्त्र का वास्तविक अर्थ समझे नहीं, केवल जाप करते रहे; तुम्हें इससे लाभ कैसे होता?"

सो वास्तविक बात यह है कि आप ओम् का जाप कीजिये, राम-राम का जाप कीजिये, वाहगुरु का नाम लीजिये। यदि यह सब-कुछ आप इसलिए करते हैं कि आपका अमुक कार्य हो जाय तो यह बिल्कुल व्यर्थ है। ससार में सुख-दुःख दोनों आते रहते हैं। भगवान् को स्मरण करने और उसके नाम का जाप करने का वास्तविक उद्देश्य यह है कि मनुष्य में दुःखों और कष्टों को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो। वर्षा में जैसे 'वाटरप्रूफ़' कोट काम आता है, वैसे ही भगवान् की भक्ति भी काम आती है। वाटरप्रूफ कोट पहनने से ऋतु बदल नही जाती, वर्षा रुक नहीं जाती, केवल इतना होता है कि वर्षा होती है और आपको उससे कष्ट नहीं होता, आप उसे सहन कर लेते हैं।

इस भक्ति का सहारा मन को, बुद्धि को, चित्त को दो!

इस सहारे के पश्चात् क्या होगा, यह कल बताऊँगा। अब तो सवा नौ बज गये।

ओ३म् शम्!

चौदहवाँ दिन

[आर्यसमाज अनारकली, रीडिंग रोड, नई दिल्ली के विशाल सभा-भवन में पूज्य स्वामीजी महाराज ने अपनी कथा को जारी रखते हुए कहा—]

प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

कल मैंने योग के सम्बन्ध में कुछ बातें कहीं जिनसे ज्ञात होता है कि अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश से आगे पहुँचने पर इस मानव-शरीर में आत्मा किस स्थान पर रहती है। जो लोग ध्यान लगाते हैं और समाधि में जाकर आत्मदर्शन करते हैं, उनका कहना है कि आठ चक्रों और नौ द्वारोंवाली देवताओं की नगरी यह जो अयोध्या (मानव-शरीर) है, इसमें स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान, स्वर्ग की भाँति सुख देनेवाला, असीम ज्योति से भरपूर एक कोश है। वहाँ यह आत्मा रहती है।

अथर्ववेद में जहाँ आठ चक्रों और नौ द्वारोंवाली इस नगरी का वर्णन आया है, वहीं अथर्ववेद में दसवें काण्ड के दूसरे सूक्त के ३२वें मन्त्र में एक और बात भी कही गई है—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

यह स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान कोश जिससे तीन अरे निकल रहे हैं और जो तीन आधारों पर स्थित है—यह आत्मा है। इसके अन्दर जो यक्ष—परमपूज्य हस्ती दिखाई देती है वह परमात्मा है। ब्रह्मज्ञानी लोग उसी का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

परन्तु यह स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान कोश है कहाँ ? योगी लोग कहते हैं कि वह मस्तिष्क के अन्दर उस स्थान पर है, जहाँ मनुष्य के मस्तिष्क के दोनों भाग मिलते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क दो ग्रन्थियों या ग्लैण्ड्ज (Glands) का बना है। एक को अंग्रेज़ी में सैरिबैलम

(Cerebellum) कहते हैं और दूसरे को सैरिब्रम (Cerebrum)। दोनों के मध्य एक थोडा-सा रिक्त स्थान है। वहाँ पीले रंग का पानी-जैसा कोई द्रव्य भरा है। इस पीले पानी-जैसे द्रव्य में ही स्वर्ण की भाँति चमकता हुआ आत्मा रहता है। वेद ने इस स्थान को स्वर्ग कहा तो इसलिए कि प्रचलित विश्वास के अनुसार स्वर्ग ऊपर की ओर है और यह स्थान मनुष्य-शरीर में सबसे ऊपर है। वेद ने इस स्थान को ज्योति से भरपूर कहा तो इसलिए कि वहाँ पहुँचने पर ध्यान लगानेवाले को हर ओर ज्योति-ही-ज्योति दृष्टिगोचर होती है। इतना तीव्र प्रकाश कि सहस्रों सूर्य भी उसके समक्ष मन्द प्रदीप-(दीपक)-से प्रतीत होते हैं। यहाँ पहुँचकर ध्यान करनेवाले को आध्यात्मिक स्पर्श, आध्यात्मिक रूप, आध्यात्मिक शब्द, आध्यात्मिक गन्ध और आध्यात्मिक रस का आनन्द आता है। ऐसे-ऐसे दृश्य वह देखता है, ऐसे-ऐसे रस चखता है, ऐसी सुगन्ध सूँघता है, ऐसा सगीत सुनता है जैसा इस संसार में है नही। इतना प्रकाश उसके समक्ष होता है जितना इस संसार में कही दिखाई देता नहीं। परन्तु यह पहला पड़ाव है। इससे आगे चलने पर ध्यान करनेवाले को अनुभव होता है कि 'मै हूँ'। इससे भी आगे चलकर उसे अनुभव होता है कि मै कुछ भी नही, यह प्रकृति ही सब-कुछ है। और इससे भी आगे चलकर उसे पता लगता है कि प्रकृति में जो रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि हैं, वे एक आत्मा के कारण हैं। और इससे भी आगे चलकर इस आत्मा में उसको उस परमात्मा के दर्शन होते हैं जो परम सुख और परम आनन्द है, परम शक्ति और परम ज्ञान है, जिसे देखने के पश्चात् हृदय की ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, सब संशय दूर हो जाते है। ऐसा आनन्द जाग उठता है जिसे संसार की कोई भी भाषा व्यक्त नही कर सकती।

मैं मानता हूँ कि ये सब-की-सब बातें बहुत शुष्क हैं, अत्यधिक पारिभाषिक एव शास्त्र-सम्बन्धी है, परन्तु मै क्या करूँ? मैं एक ऐसे विज्ञान को आपके समक्ष रखने का प्रयत्न कर रहा हूँ जो 'अलिफलैला' की कहानी है नहीं, जो एक ठोस सचाई है और जिसे लच्छेदार शब्दों में मैं व्यक्त नही कर सकता। जो कुछ मेरे पास है उसे मैं आपको देना चाहता हूँ। संन्यासी बनने के पश्चात कितनी देर तक मैं स्थान-

स्थान पर भटकता रहा। जो कुछ प्राप्त किया उसे आपके सामने रखना चाहता हूँ। जो कुछ शास्त्र कहते है, वेद कहता है और जो कुछ मैंने अपने अनुभव से जाना उसे आपको बताना चाहता हूँ। यह सब-कुछ शुष्क अवश्य है परन्तु मुझे खेद है कि यह आध्यात्मिक विज्ञान की बात है। मैं इसे किस्से-कहानी की भाँति आकर्षक बनाकर तो कह नहीं सकता। यह शास्त्रीय बात है, मनोरञ्जन की बात है नहीं।

कुछ लोग कहते है कि यह तो सुन लिया श्रीमन् ! कि आत्मा का निवास कहाँ है और इसके अन्दर परमात्मा रहता है, परन्तु स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान इस कोश तक पहुँचने की विधि क्या है ?

मेरा उत्तर है—विधि है और यह विधि है तप, दम और कर्म।

तप अर्थात् सत्य, पुण्य और धर्म के लिए कष्टों को सहन करना। दम अर्थात् अपने मन को, अपनी इन्द्रियो को, अपनी वाणी को और अपने विचारों को वश में करना, और कर्म अर्थात् ठीक मार्ग पर प्रयत्नपूर्वक चलना।

जब तक ये तीन वस्तुएँ न हों, तबतक यह कठिन मंजिल मिलती नहीं। परन्तु अधिक विस्तार से सुनिये कि तप क्या है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' ने कहा है—

ऋतं तपः सत्यं तपो दमो तपः स्वाध्यायस्तपः।

जो अटल सत्य है वह तप है, जो सत्य है वह तप है, इन्द्रियों को वश में रखना तप है, स्वाध्याय तप है।

महर्षि दयानन्द ने 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के इन शब्दों को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"शुद्ध भावना, सत्य बोलना, सत्य करना, बाह्य-इंद्रियों को वश में रखना, बुरे कर्मों से दूर रहना, मन, वचन और कर्म से धर्म के मार्ग पर चलना और वेद आदि उत्तम ग्रंथों का प्रयत्नपूर्वक स्वाध्याय करना—यह तप है।"

इसी क्रम में महर्षि ने वेद भगवान् का उदाहरण देते हुए यह भी कहा कि "जो लोग इस अनन्त फैली हुई सृष्टि में प्रकाशस्वरूप भगवान् की आज्ञा के अनुसार पवित्र आचरण अपनाते हैं वे तप करते हैं।"

इसके साथ ही उन्होंने यह मन्त्र भी लिखा—

अतप्त तनुं न तदामोऽश्नुते ।

जिसने तप नहीं किया उसे प्रभु के दर्शन नहीं होते ।

परन्तु तप का केवल इतना ही अर्थ नही । यह आध्यात्मिक तप का वर्णन है । इसके अतिरिक्त इस ससार में भी तप का महत्त्व और गौरव है । इस तप के बिना मनुष्य बडप्पन प्राप्त नही कर सकता ।

रहे-हयात[1] में हिम्मत ही काम आती है ।
बड़ी निगाह बड़ा आदमी बनाती है ।।
शिकस्तः अहले-जरासत[2] के काम आती है ।
कदम-कदम पे नये रास्ते दिखाती है ।।

हारकर भी हारना नही, थककर भी हिम्मत को नहीं छोडना—यह सासारिक तप है । परन्तु इस तप का पहला रूप यह है कि मनुष्य का शरीर दृढ़, स्वस्थ और शक्तिशाली हो । बच्चा उत्पन्न हुआ तो पिता उसकी जिह्वा पर 'ओम्' लिखने के पश्चात् कहता है—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव !

मेरे बच्चे ! तू पत्थर बन, तू कुल्हाड़ा बन, और सूर्य की भाँति इस ससार में चमक ।

यह बात यदि किसी को विचित्र प्रतीत हो तो इसकी व्याख्या सुनिये—

'पत्थर बन' का तात्पर्य है—पत्थर की भाँति, चट्टान की भाँति दृढ़ बन ताकि सागर की तूफ़ानी लहरें तुझे हिला न सकें ।

'कुल्हाडा बन' का अर्थ है—अत्याचार, झूठ, पाप और अन्याय का सामुख्य कर । खरबूजा न बन कि छुरी खरबूजे पर गिरे तो भी खरबूजा कटे और खरबूजा छुरी पर गिरे तो भी खरबूजा कटे; अपितु अपने देश पर आक्रमण करनेवालों के लिए, सचाई और न्याय का गला घोंटनेवालों के लिए, असत्य, अधर्म और अत्याचार की तलवार लेकर आगे बढ़नेवालो के लिए एक तेज कुल्हाड़ा बन, उनका सर्वनाश कर रख दे ।

ये दो बातें कर सके बच्चे ! तो सूर्य की भाँति चमकेगा तू ।

---

१. जीवन का मार्ग । २. पराजित शूरवीर ।

इस सम्बन्ध में इतिहास की दो बातें सुनिये ! यूनान के प्रदेश स्पार्टा में कभी रिवाज था कि बच्चे को उत्पन्न होने के कुछ ही दिन बाद पहाड़ की एक चोटी से लुढ़का दिया जाता था। पर्वत के समतल मैदान तक यदि वह ठीक-ठीक पहुँच जाता तो उसे इस योग्य समझा जाता था कि वह जीवित रहे। यदि ऐसा न हो सके तो समझा जाता था कि वह जीवित रहने के योग्य ही नहीं था।

इससे बहुत पहले हमारे देश में महाभारत युद्ध के एक सौ सत्तर वर्ष पूर्व शायद इसी दिल्ली के आस-पास एक बच्चा उत्पन्न हुआ जिसका नाम देवव्रत रक्खा गया। यह बच्चा अभी तीन-चार वर्ष का था तो अपने ननिहाल में गया जो किसी पर्वतीय प्रदेश में था। पर्वत पर खेल रहा था वह, तो एक पत्थर से उसका पाँव फिसल गया। बहुत नीचे जाकर एक चट्टान पर वह गिरा और महाभारत का लेखक कहता है कि इस बच्चे को कुछ भी नहीं हुआ। वह चट्टान टूट गई। बाद में इस बच्चे का नाम भीष्म अर्थात् 'कठोर' हुआ, क्योंकि इसने यह भीष्म प्रतिज्ञा की कि जीवनभर विवाह नहीं करायेगा। इतिहास ने इस पुरुषश्रेष्ठ को भीष्म पितामह कहा। महाभारत के युद्ध में तीरों से सारा शरीर छलनी होने के पश्चात् भी भीष्म पितामह तबतक मरे नहीं, जबतक उनकी इच्छा नहीं हुई। कई मास तक शर-शय्या पर ही लेटे रहे; अन्त में प्राणों का त्याग किया तो उस समय उनकी आयु एक सौ सत्तर वर्ष थी।

यह है सांसारिक तप ! इस शरीर को इतना दृढ़, स्वस्थ और शक्तिशाली बनाओ कि प्रत्येक दुःख, कष्ट और क्लेश का सामना कर सके।

परन्तु केवल शरीर को ही नहीं, मन को भी दृढ़ बनाना है। इस तप से ही जीवन में सुख और आनन्द मिलता है। तप से ही विजय प्राप्त होती है, सफलता मिलती है। आज हमारा देश संकट में है। चीनी सेनाएँ हमारे देश में घुस आई हैं। सारा देश जाग उठा है, एक हो गया है। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब बलिदान की भावना से एक होकर पण्डित जवाहरलाल जी नेहरू के पीछे खड़े हो गये हैं कि जहाँ कहोगे वहाँ कट मरेंगे।

[पूज्य श्री आनन्द स्वामी जी महाराज ने यह कथा सन् १९६२ में की जब चीनी सेना भारत पर आक्रमण कर रही थी।]

यह तप है। दुःखों से, संकटों से, अत्याचार और अन्याय से घबराना नहीं—जीवन का मोह छोडकर सामुख्य (मुकाबिला) करना। महाभारत का युद्ध होने लगा तो महारानी कुन्ती ने भगवान् कृष्ण के हाथ अपने पुत्रों को संदेश भेजा कि अत्याचार बहुत बढ गया है। उसे समाप्त करने के लिए आगे बढने का समय आ गया है। देखना कहीं अत्याचार जीत न जाय! मैंने जिस समय के लिए तुम्हें जन्म दिया था वह समय आ गया है।

सिन्ध में सौवीर नाम का एक राज्य था। वहाँ के महाराज मर गये, महारानी विधवा हो गई। विदुला उसका नाम था। उसका एक ही पुत्र था, संजय। वह नवयुवक था परन्तु कायर और भीरु। एक पडौसी राजा को पता लगा तो उसने सौवीर पर आक्रमण कर दिया। संजय उसका सामुख्य करने के बजाय राजमहल के एक कमरे में जा छिपा। विदुला को पता लगा तो उसके पास गई और बोली—"संजय! यह छिपने का नहीं, युद्ध करने का समय है, बाहर निकल! सेना साथ लेकर शत्रु का सामुख्य कर!"

संजय ने कहा—"मुझे डर लगता है, मैं मर जाऊँगा।"

विदुला बोली—"लड़ता हुआ मर गया तो स्वर्ग में जायगा।"

संजय ने कहा—"माँ होकर ऐसी बात कहती है तू?"

विदुला बोली—"देश सकट मे हो तो कोई माँ नहीं, कोई पुत्र नही। देश की रक्षा के लिए लड़ना, लड़ते हुए विजय प्राप्त करना या मर जाना ही धर्म है।"

यूनान की बात मैंने सुनाई। वहाँ माताएँ अपने हाथ से अपने बच्चों को युद्ध के लिए तैयार करके भेजती थी। अन्त मे एक नंगी तलवार देती थी और कहती थी—

Come with it or on it.

जीतकर इस तलवार को अपने साथ लेकर आओ या फिर इसी से अपने जीवन का अन्त कर दो।

और हमारे यहाँ राजपूताने में तो कितनी ही ऐसी घटनाएँ घटित

हुई। एक नौजवान राजपूत युद्ध के लिए जा रहा था। अपने घर से चला तो मार्ग में ससुराल आ गई। नया-नया विवाह हुआ था। इस विचार से कि शायद बचकर आऊँ या न आऊँ, पत्नी को देखने के लिए उस मकान में गया। ससुरालवालों ने खूब आवभगत की! इसके पश्चात् वह चला तो थोडी देर के पश्चात् फिर लौट आया। पत्नी को मिला, फिर चला, फिर लौट आया। पत्नी ने जब यह देखा कि यह मोह में फँस गया है तो एक पत्र लिखा—"मेरे मुखड़े का प्रेम तुम्हारे कर्त्तव्यपालन में बाधक बन रहा है, इसलिए यह सिर भेज रही हूँ। इसे साथ ले जाओ। लड़ो और अपने देश के लिए अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करो।" और एक कटार लेकर उसने अपना सिर काट दिया। दासी ने एक थाली में रखकर यह सिर और पत्र नवयुवक को दिया। नौजवान की आँखें खुली। दौडता हुआ वह युद्धस्थल में पहुँचा और इस प्रकार लड़ा कि औरंगजेब की सेना के छक्के छूट गए।

ऐसी ही बात महारानी महामाया ने भी की। राजा यशवन्तसिंह युद्ध के लिए जा रहे थे। नवयुवती महारानी को देखने के लिए वापस आ गये। महामाया ने उन्हे एक बार भेजा, दूसरी बार भेजा, तीसरी बार वे आ रहे थे तो किले के द्वार बन्द करा दिये। राजा यशवन्तसिंह ने कहा—"द्वार खोलो!" महामाया ने पूछा—"कौन हो तुम?" यशवन्तसिंह ने कहा—"मैं राजा यशवन्तसिंह हूँ।" महामाया ने कड़कती आवाज़ में कहा—"तुम झूठे हो; कोई नकली यशवन्तसिंह हो। मेरा पति वीर है, एक साधारण स्त्री के मोह मे फँसकर वह युद्ध से भागकर नही आ सकता।" यशवन्तसिंह की आँखें खुली। वापस मुड़ा वह। युद्धक्षेत्र में पहुँचा और इस प्रकार लड़ा कि परे-के-परे साफ कर दिये।

यह है तप! जब अत्याचार और अन्याय का सामना हो, जब देश की रक्षा का प्रश्न सम्मुख हो, तब बड़े-से-बड़े बलिदान के लिए भी तैयार रहना, घबराना नहीं। ऐसे लोगों के लिए सुख की सृष्टि हो जाती है—

देखकर जो सख्त तकलीफ़ों को घबराते नहीं।
काम कितना ही कठिन हो पर जो उकताते नहीं॥

भाग्य पर रह करके जो पीछे को पछताते नहीं।
भीर पड़ने पर भी जो चंचलता दिखलाते नहीं॥
होते है इक आन में उनके समागम सब भले।
हर जगह हर काम में वो रहते हैं फूले-फले॥
पर्वतों को काटकर सड़कें बना देते हैं वो।
इस जमीं पर सैकड़ों नदियाँ बहा देते है वो॥
जंगलों में भी महामंगल बना देते है वो।
और जमीने-खुश्क पर बेड़े चला देते हैं वो॥

इसे कहते है तप का जीवन! मनुष्य के जीवन में तप हो तो उसे संसार में भी सफलता मिलती है और भगवान् के दरबार में भी सफलता मिलती है। इस तप के बिना निर्वाह है नही। इसके बिना वह मंज़िल कभी मिलती नहीं जिसे हम प्राप्त करना चाहते है।

तप के पश्चात् दूसरी वस्तु है दम, अर्थात् अपने मन को वश में रखना, उसे ठीक मार्ग पर चलाना, इधर-उधर भटकने नही देना। और यह मन बेकाबू (निरंकुश) कैसे होता है? मोह-ममता से। इस मोह-ममता को छोड़ दीजिये तो मन स्वयमेव वश में आ जायेगा। इसे न छोड़िये तो फिर कोई कार्य बनेगा नहीं। देश संकट में हो, इसकी सीमाओं पर आक्रमण हो रहा हो और पिता मोह करके कहे—मेरा पुत्र इस जलती आग में न जाय! पुत्र मोह के कारण पिता को न जाने दे। पत्नी पति को न भेजे, पति पत्नी को न जाने दे। बहन भाई को, भाई बहन को न जाने दे तो देश की रक्षा कौन करेगा? और देश की रक्षा न हो तो फिर तुम अपने घरों में कबतक सुरक्षित बैठे रहोगे?

अगर किश्ती डूबी तो डूबेंगे सारे।
न हम ही बचेंगे न साथी हमारे॥

और जैसे संसार के विषय में यह मोह मनुष्य को कुमार्ग की ओर, दु:ख, कष्ट और क्लेश की ओर ले-जाता है, वैसे ही भगवान् के विषय मे भी असफलता की ओर ले-जाता है। मोह को छोड़े बिना परमात्मा के दर्शन करने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। यह प्रयत्न कभी सफल नही होगा।

एक सज्जन मुझे मिले; बोले, "मैं भजन के लिए बैठता हूँ परन्तु मन टिकता नहीं। बार-बार अपने पुत्र का विचार आ जाता है जो अमेरिका गया हुआ है।" मैने पूछा—"पुत्र का नाम क्या है?" वे बोले—"पुरुषोत्तम।" मैंने हँसते हुए कहा—"तो फिर ओम्-ओम् की बजाय पुरुषोत्तम-पुरुषोत्तम का ही जाप किया करो। भगवान् न मिले तो न सही, पुत्र तो मिल ही जायेगा।"

परन्तु मैं जब कहता हूँ कि संसार में अथवा भगवान् के दरबार में सफलता पाने के लिए मोह को छोड़ना आवश्यक है तो मेरा तात्पर्य केवल बच्चों के मोह से नहीं; अपितु धन-सम्पत्ति, यश-कीर्ति, शक्ति, शासन, प्रतिष्ठा और गद्दियाँ, सबके मोह से है। यह मोह रहेगा तो भगवान् कभी मिलेंगे नहीं। यह सब-कुछ तो प्रकृति है। दौड़ो प्रकृति की ओर और खोजो भगवान् को तो सफलता मिलेगी कैसे? मैंने पाँच कोशों का वर्णन किया न—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश—ये सब-के-सब भी प्रकृति हैं, जड़ हैं। इन पाँचों कोशों के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर और कारण-शरीर भी जड़ है। सबमें जो गति या प्रकाश है, वह आत्मा के कारण है। इन सबके मोह को छोड़कर आत्मा का दर्शन करने के पश्चात् ही भगवान् के दर्शन होते हैं।

आप कहेंगे—"यह सब-कुछ तो तूने कह दिया, यह भी बता कि मोह को छोड़ें किस प्रकार? मन को वश में कैसे करें? इसका उत्तर मैंने पहले भी दिया था, आज फिर देता हूँ—

संसारदीर्घरोगस्य सुविचारो महौषधम्।
कोऽहं कस्य च संसारो विवेकिनः विलीयते॥

यह संसार क्या है? मनुष्य उत्पन्न होता है, मरता है, फिर उत्पन्न होता है, फिर मरता है। जब से ससार है तब से यह चक्र चल रहा है—इसका कोई आदि नहीं था। बहुत दीर्घकालीन रोग है यह। इस बीमारी की एकमात्र चिकित्सा है ठीक विचार—यह सोचना कि 'मैं कौन हूँ', 'किसका है यह संसार', इस प्रकार विवेक से सोचने पर यह सब-कुछ समाप्त होता है। यह रोग समाप्त हो जाता है।

आप कहेंगे, केवल विचार से यह सब-कुछ कैसे समाप्त हो सकता

है ? परन्तु सचाई यह है कि विचार की शक्ति बहुत महान् है। विचार ठीक हों तो मनुष्य ठीक मार्ग पर, सुपथ पर, ठीक लक्ष्य की ओर चलता है। मनुष्य, समाज, देश—सब सफलता की ओर बढते हैं। विचार गलत हो जायँ तो सब विनाश और दुःख की ओर बढ़ने लगते है। विचार की शक्ति बहुत महान् है। इससे मनुष्य बदल सकते है, जातियाँ बदल सकती हैं, देश बदल सकते हैं। महर्षि दयानन्द ने पूना में व्याख्यान देते हुए कहा था—"वेद के आधार पर मैं वायुयान बना सकता हूँ।" उस समय वायुयान अभी बने नहीं थे; केवल बेलून बन रहे थे। परन्तु महर्षि ने कहा—"यह छोटी बात है। मै इसकी बजाय लोगों के विचारों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहता हूँ।" उन्होंने यह बात इसलिए कही कि वे विचारो की शक्ति को जानते थे।

इस विचार से क्या-कुछ हो सकता है, यह हमने अपने देश में देखा। एक समय था जब हिन्दू और मुसलमान इस देश में भाई-भाई की भाँति रहते थे। उनके धर्म पृथक्-पृथक् थे अवश्य, परन्तु जाति पृथक् होने की बात कभी किसी ने कही या सोची नही थी। तभी एक श्रीमान् कैम्ब्रिज से चले। अंग्रेजों ने उन्हें धन दिया। उन्होंने प्रचार किया कि हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग जातियाँ हैं। मुस्लिम लीग के प्रधान मिस्टर जिन्ना ने यह बात सुनी तो चिल्लाकर कहा—"यह पागलपन है! हिन्दू और मुसलमान दो जातियाँ है नहीं।" कैम्ब्रिज से चलनेवाले साहब एक डॉक्टर अब्दुल लतीफ थे। वे कराची में पहुँचे जहाँ अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का उत्सव हो रहा था। वहाँ उन्होंने यह विचार लोगों के सामने रक्खा। पाकिस्तान के पृथकत्व के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया। मुस्लिम लीग ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। परन्तु शासन अंग्रेजों के हाथ में था। वे इस विचार को प्रसारित करने के लिए रुपया देते रहे। मौलवी खरीदे गये, समाचारपत्र खरीदे गए। प्रचार होता रहा और लाहौर में मुस्लिम लीग का उत्सव हुआ तो उसी पाकिस्तान को मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य बना दिया जिसे कभी मिस्टर जिन्ना ने 'एक पागल का स्वप्न' कहा था। अंग्रेज़ तो इस बात को चाहता ही था कि इस देश से जायें तो इसे विभक्त करके। उसने इस माँग को स्वीकार किया। सन् १९४७ में देश का विभाजन हो गया;

और कोई भी व्यक्ति जो वास्तविकता से परिचित है, घोषणापूर्वक कहेगा कि हिरोशिमा पर ऐटम बम गिरने से इतना विनाश नहीं हुआ जितना इस विचार के कारण हुआ। हिरोशिमा में लगभग एक लाख व्यक्ति इस ऐटम बम के कारण मरे और भारत में साढे दस लाख मनुष्य इस दूषित विचार के कारण मौत के घाट उतार दिये गए। देश का विभाजन हो गया। डेढ़ करोड़ मनुष्य बेघर हो गये जो आजतक अपने घरों को वापस नही जा सके।

यह है विचार की शक्ति! मुझे स्मरण है—एक समय था जब लाहौर मे चाय की एक भी दुकान नही थी। अनारकली बाजार में किसी भी दुकान पर चाय नाम की कोई वस्तु नही मिलती थी। तभी चायवालों ने प्रचार आरम्भ किया। अनारकली मे ही एक व्यक्ति एक मेज पर चाय बनाकर लोगों को मुफ्त (नि.शुल्क) पिलाता था, उसके साथ-ही-साथ प्रचार भी करता था—

ले लो मुफ्त की प्याली है।
यह शक्ति देने वाली है॥

निरन्तर यह प्रचार होता रहा। सन् १६४७ में जब हम लाहौर से चले तो चाय की कितनी ही दुकानें उस अनारकली बाजार में थी। और केवल लाहौर मे ही क्यों? सारे देश में चाय फैलाई गई। अब पार्टी होती है तो चाय-पार्टी होती है; लस्सी पार्टी नही, मक्खन पार्टी नही, दूध-पार्टी नही। चाय-ही-चाय प्रत्येक स्थान पर है। प्रचार होता है—

"गर्मियों में गरम चाय ठण्डक पहुँचाती है।"

खाक ठण्डक पहुँचाती है। खुश्की अवश्य करती है परन्तु अब सुनता कौन है? एक विचार का प्रचार हुआ। लोगों में चाय पीने का व्यसन जाग उठा। यह व्यसन लग जाय तो छूटता नही। जो चाय पीने के अभ्यस्त हो गए है उन्हें समय पर चाय न मिले तो हाल बेहाल होने लगता है।

मै एक बार लाहौर से कराची जा रहा था, उस रेलगाड़ी में, जो उन दिनों बहुत तेज चलती थी और घण्टों तक कहीं खड़ी नहीं होती थी। मेरे साथ बैठे थे एक नवविवाहित पति-पत्नी। गाडी भाग रही

थी। हँस-हँसकर वे बातें कर रहे थे। परन्तु चार बजे तो पत्नी के मुख-मण्डल पर पहले उदासी आई, फिर हवाइयाँ उडने लगीं। मैने आश्चर्य से पूछा—"क्या हो रहा है इस पुत्री को ?" उसके पति ने बताया—"इसे चाय पीने का व्यसन है। चाय का समय हो गया है, चाय मिली नही, इसीलिए हाल बेहाल हुआ जाता है।" अब चलती गाड़ी में चाय कहाँ से मिले ? मैंने रेल का 'टाइम टेबल' देखा। सबसे निकट का स्टेशन आध घण्टे की दूरी पर था परन्तु यह स्टेशन इतना छोटा था कि वहाँ चाय-वाय मिलने की कोई सम्भावना नही थी। इस आध घण्टे में वह देवी अर्धमूर्च्छित हो गई। मुखमण्डल पीला, आँखें बन्द, मुँह में आवाज नही, शरीर के लिए हिलना कठिन। स्टेशन आया तो सचमुच कोई दुकान नही थी। अकेले स्टेशन मास्टर साहब अपने दफ्तर के बाहर खड़े थे। मैं तेजी से गाड़ी से उतरा और उतरते ही चिल्लाना शुरू कर दिया—एक्सीडेण्ट-एक्सीडेण्ट (दुर्घटना-दुर्घटना)! स्टेशन मास्टर साहब दौडते हुए आये; बोले—"कहाँ हो गई दुर्घटना ?" मैंने कहा—"एक देवी को चाय नहीं मिली साहब ! वह मूर्च्छित हो गई है। किसी प्रकार कहीं से भी चाय मँगवाइये, नही तो जीवन सकट में है।" स्टेशन मास्टर ने अपने दफ्तर में चाय बनवाई। उस देवी को दी गई तो उसने आँखें खोल दीं। चेहरे की रंगत वापस आ गई, मूर्च्छा दूर हो गई।

अब बताइये, यह विपत्ति है या नहीं ?

परन्तु यह विपत्ति आरम्भ कहाँ से हुई ? उस प्रचार से जिसमें कहा जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति को चाय पीनी चाहिए। पहले चाय मुफ्त पिलाई जाती थी। अब लोग पीयें नही तो मूर्च्छित होने लगते है। यह है विचार की शक्ति ! इसलिए वेद भगवान् में बार-बार प्रार्थना आती है—

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु !

हे भगवन् ! मेरे इस मन को शिवसकल्पवाला, उत्तम विचारों-वाला बना दो।

विचारों से राष्ट्र बदल जाते है, जातियों का भाग्य बदल जाता है, उनकी अवस्था बदल जाती है। अपने ही इस देश को देखिये। किसी

भी राष्ट्र के लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक है। ये तीन वस्तुएं हों तो राष्ट्र आगे बढ़ता है, देश शक्तिशाली बनता है। ये तीन वस्तुएँ हैं—बुद्धिबल, बाहुबल, और धनबल। हमारे देश में ये तीनों वस्तुएँ थीं। बुद्धिबल इतना था कि इस देश के 'दर्शन' का—छः दर्शनों का आज भी कोई सामुख्य नही कर सकता। पाश्चात्य दार्शनिक टक्करें मार चुके। इन छः दर्शनों से आगे वे जा नहीं पाये।

[तभी एक छोटी-सी बच्ची स्वामीजी के पास आ पहुँची। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—"मेरे कोल आ जा मुन्नी ! तू गीत गायेगी ?" उसने कहा—"नही।" स्वामीजी ने कहा—"किसकी बेटी है तू ?" वह बोली नही तो स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—"फिर मेरी बेटी बन जा।" वह फिर नहीं बोली तो स्वामीजी ने कहा—"यह किसकी खोई हुई बच्ची है ? जिसकी हो इसे आकर ले जाये।' कोई भी नही आया तो स्वामीजी जोर से हँसकर बोले—"तब इसे पटौदी हाउस मे भेज दो, यह मुझे कथा नही करने देती।" और सब लोग हँस उठे और स्वामीजी कहते रहे—]

हाँ जी ! मैं कह रहा था कि बुद्धिबल इस देश में बहुत था। इस देश मे धन न होता तो विदेशी इसपर बार-बार आक्रमण न करते; और बाहुबल भी बहुत था।

अंग्रेज अपने साथ सेना नही लाये, धन की शक्ति नहीं लाए, केवल विचार लेकर आये। उन्होंने इस देश की विचारधारा को बदलना शुरू किया। उन्होंने इस देश के लोगों को बताया कि भगवान् कृष्ण कुछ नहीं थे, भगवान् राम कुछ नही थे, यह केवल माइथॉलोजी है, झूठी कहानियाँ हैं, वेद गडरियों के गीत है। इस देश में कुछ भी अच्छा नहीं, जो कुछ है वह पाश्चात्य देशों में है। इस प्रकार उन्होने विचार बदले तो देश का ऐसा पतन आरम्भ हुआ कि स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी हम इस पतन से मुक्ति नहीं पा सके। केवल विचार के कारण स्वर्णमय यह देश कगाल हो गया।

एक थे लालाजी। कही से उन्होने एक गाय खरीदी पचास रुपये में। तब महँगाई का युग नही था। गाय पचास में मिल गई। तीन ठगो ने लालाजी को देखा, गाय को भी देखा; सोचा, 'इस गाय को प्राप्त करना चाहिए।' परन्तु वे चीनी नही थे कि बलपूर्वक छीनते।

ये चीनी तो शक्ति के बल पर संसार में साम्यवाद फैलाना चाहते है। इस प्रकार साम्यवाद फैलेगा नही, अपितु इसके प्रति घृणा जागृत हो जायेगी। ये चीनी भाई उन ठगों से भी गए-बीते हैं। ठगो ने सोचा, गाय को प्राप्त करेंगे अवश्य, परन्तु बुद्धिबल से प्राप्त करेंगे। लालाजी गाय को लेकर अपने गाँव की ओर चले तो एक ठग ने आगे बढकर कहा—

"लालाजी ! राम-राम।"

लालाजी बोले—"राम-राम भाई !"

ठग ने कहा—"यह बकरी कहाँ से लाए हो लालाजी ? बहुत अच्छी बकरी है।"

लालाजी बोले—"होश की बात करो भाई ! यह बकरी नहीं, गाय है।"

ठग ने कहा—"शायद आपके गाँव में बकरी को गाय कहते होंगे।"

लालाजी चिढकर बोले—"नही साहब ! अपने गाँव में बकरी को बकरी कहा जाता है और गाय को गाय।"

इतने में दूसरा ठग आ गया। उसने पहले ठग से पूछा—"यह क्या झगड़ा कर रहे हो ?"

पहले ठग ने कहा—"इन लालाजी को देखो। ये बकरी को गाय कहते हैं !"

दूसरे ठग ने कहा—"तो इसमें विवाद की क्या आवश्यकता है ? यह बकरी कद-काठ की अच्छी है, स्वस्थ है। लालाजी इसे गाय कहें तो तुम्हे क्या आपत्ति है ?"

लालाजी बोले—"अरे भाई ! यह गाय है, बकरी नहीं।"

दूसरा ठग बोला—"हाँ साहब ! गाय जैसी ही है, आप इस बकरी को प्रसन्नता से गाय कहिये।"

इतने में तीसरा ठग आ पहुँचा। उसने गाय को देखते हुए कहा—"भई वाह ! इतनी स्वस्थ और बड़ी बकरी हमने कभी देखी नहीं। कहाँ से लाए हो लालाजी ?"

लालाजी क्रोध के साथ बोले—"यह बकरी नहीं, गाय है; और मैं साथवाले गाँव से पचास रुपये में खरीदकर लाया हूँ।"

-- तीसरा ठग बोला—"साथवाले गाँव से ? और आपको यह गाय दिखाई देती है ? यही तो इस गाँव के धूर्तों का तरीका है। ये आदमी पर जादू कर देते है और वह बकरी को गाय समझने लगता है। सच बताइये, आपके ऊपर किसी ने जादू की लाठी तो नही फेरी थी ?"

लालाजी ने स्मरण करते हुए कहा—"एक जाट लाठी फेर तो रहा था !"

तीसरा ठग बोला—"बस, उसी समय आपके ऊपर जादू हुआ और आप बकरी को गाय समझने लगे है। देखिये, इसके दो थन है। क्या कभी दो थन की गाय भी आपने देखी है ?"

लालाजी ने देखा। उन्हें चार थन दिखाई दिये, परन्तु उन्होंने समझा मैं शायद जादू के कारण भैंगा हो गया हूँ। भैंगे आदमी को दो की बजाय चार दिखाई देते है, मै भी दो की बजाय चार देख रहा हूँ। ठगों ने देखा कि लालाजी पूर्णरूपेण सम्मोहित (हिप्नोटाइज) हो चुके है तो अत्यन्त सहानुभूति से कहा—"हमारे ही प्रदेश में आप लूटे गये, लालाजी ! किसी ने यह बकरी गाय बनाकर आपको दे दी, इसका हमें बहुत दुःख है। आप व्यर्थ ही पचास रुपये नष्ट कर आये। बहुत करके दस रुपये की यह बकरी है। परन्तु हमारे प्रदेश के लोगो ने आपके साथ यह बेईमानी की, इसलिए हम इस बकरी को दस की बजाय बीस रुपये मे खरीदने को तैयार है।" लालाजी ने मन-ही-मन हिसाब लगाया—'दस रुपये की बकरी है, मै दे आया हूँ पचास रुपये। चालीस रुपये का घाटा पडा है परन्तु दस रुपये की बकरी ये लोग बीस रुपये में खरीदना चाहते है; दस रुपये का लाभ होता है।' बोले—"बेची बीस रुपये में।" ठग बीस रुपये देकर पचास रुपये की गाय ले गये '

[सुननेवाले बहुत जोर से हँस उठे। स्वामीजी भी हँसते रहे, तब ऊँची आवाज में बोले—]

ओ भारत के लोगो ! तुम्हारे पास भी एक गाय थी। आया एक ठग विदेश से और उस गाय को बकरी कहकर खरीदकर ले गया। तुम्हारे विचार बदल दिये उसने, इसलिए महर्षि दयानन्द ने कहा कि मैं इस देश की विचारधारा को बदलना चाहता हूँ। विचार की शक्ति बहुत महान् है। यदि आप भगवान् को प्राप्त करने के मार्ग पर चलना

चाहते है, उसका दर्शन करना चाहते हैं तो आवश्यक है कि पहले अपने विचारों को ठीक कीजिये। अपने विचारों को सुविचार—उत्तम विचार बनाइये। ऐसा करने के पश्चात् देखो कि कितना आनन्द मिलता है, किस प्रकार दर्शन होते है।

परन्तु मन को वश में करने के लिए केवल विचारों का बदलना ही पर्याप्त नहीं, अभिमान का त्याग भी आवश्यक है। भगवान् को पाना है तो इस अभिमान को मन में मत आने दो। मैंने कई लोगों को देखा है कि वे प्रभु-दर्शन के मार्ग पर आगे बढ़े, थोडी-सी सफलता मिली, थोड़ा प्रकाश दिखाई दिया तो लगे प्रचार करने—"हमने यह कर लिया है, वह कर लिया है।" इसके साथ ही उनकी उन्नति रुक गई। किन्तु केवल यही अभिमान नहीं, सांसारिक अभिमान का भी त्याग करना पड़ेगा। आपने धन-सम्पत्ति एकत्र कर ली; शिक्षा प्राप्त कर ली, मन्त्री या मुख्यमन्त्री बन गये तो अभिमान मत करो—

दो दिन की जिन्दगी में न इतना उछलके चल।
दुनिया है चल-चलाव कि रस्ता सँभल के चल॥

यदि प्रभु ने धन-धान्य, मान-सम्मान, शक्ति और शासन दिया है तो नम्र बनकर चलो। अभिमान न करो। हमारे इन लाला मेहरचन्द महाजन को देखिये। आर्यसमाज अनारकली का यह सभा-भवन इनके उत्साह और साहस से बना। चोटी के वकील, चोटी के जज हैं। जब यह मन्दिर नही बना था तो आर्यसमाज अनारकली के साप्ताहिक सत्संग बेयर्ड रोड के डी० ए० वी० स्कूल में होते थे। लाला मेहरचन्द जी महाजन उस समय भारत की सुप्रीम कोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे। मैंने कितनी ही बार देखा कि महाजन जी आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में आये और अन्यत्र स्थान न मिलने पर वहाँ बैठ गए जहाँ जूते रक्खे जाते थे। अपने पद का, अपनी योग्यता और अपने सम्मान का रत्ती-भर भी अभिमान उन्हे नहीं।

[लाला मेहरचन्द महाजन का दिसम्बर, १९६७ में देहान्त हो गया। पूज्य स्वामीजी यह कथा कह रहे थे तो महाजन जी प्रतिदिन उस कथा मे आते थे। उस समय भी वे विद्यमान थे।]

अरे भाई! भगवान् की कृपा से कुछ मिला है तो अभिमान मत

कर ! यह अभिमान तो तुझे नीचे ले जायेगा। बम्बई की बात है। एक बहुत बड़े सेठजी एक साधु को अपने घर ले गये। साधु को दिखाने लगे कि यह मेरा बँगला है। यह मेरी कपड़े की मिल है। वहाँ मैंने भूमि खरीद ली है जिसपर आठ मंजिल का भवन बन रहा है। अमुक स्थान पर मेरे फ़्लैट बन रहे है। यह मेरा तालाब है। यह घुडशाला। साधु सब-कुछ सुनता रहा; बोला नही। सेठजी का छोटा-सा पुत्र परे एक पुस्तक देख रहा था। साधु ने उसके पास जाकर पूछा—"यह क्या देख रहे हो बेटा ?" बच्चे ने कहा—"यह ससार का नक्शा है।" साधु ने पूछा—"सारे संसार का नक्शा है यह ?" बच्चे ने कहा—"नहीं जी ! केवल इस पृथिवी का है।" साधु ने पूछा—"इसमें भारत कहाँ है ?" बच्चे ने कहा—"यह है उल्टे अमरूद जैसा छोटा-सा।" साधु ने पूछा—"और इसमें बम्बई कहाँ है ?" बच्चे ने कहा—"यह है एक छोटा-सा बिन्दु।" साधु ने पूछा—"और इस बम्बई मे तुम्हारे पिताजी का बँगला कहाँ है ? आठ मजिल वाला भवन कहाँ है ? फ्लैट कहाँ है ?" बच्चे ने हँसते हुए कहा—"आप भी विचित्र आदमी हैं। यह छोटा-सा बिन्दु तो सारा बम्बई है, इसमें पिताजी का बँगला, फैक्ट्री और फ़्लैट कहाँ दिखाई देंगे ?" साधु ने कहा, "कहीं भी दिखाई नहीं देते न ? परन्तु तुम्हारे पिताजी को बहुत अभिमान है इन वस्तुओं का।" और सेठजी की ओर देखकर बोले—"क्यो सेठजी, आप संसार मे रहते हैं, संसार के मानचित्र पर कही भी आपका चिह्न तक नही, फिर यह अभिमान किसलिए ?" सेठजी की आँखें खुली ; सिर झुका दिया उन्होने।

सो भाई, अभिमान न करो ! अहंकारी न बनो ! भगवान् ने कृपा की है तो नम्रता से रहो। सिर झुका दो उसके सामने जो बहुत बड़ा है, सबसे महान् ! जिसका कोई अन्त नहीं, जो केवल इस पृथिवी का नहीं, इस सारे सौर मण्डल का, इस ब्रह्माण्ड का, ऐसे खरबो ब्रह्माण्डों का स्वामी है, उन्हें चलाता है।

खूबी है, उत्तमता है, कला है तो खूबी देनेवाले कलाकार का धन्यवाद करो, झुक जाओ, इसलिए कि तुममें कुछ विशेषता है। वृक्ष में फल लगें तो वृक्ष की शाखें झुक जाती है—

लेते हैं समर शाख समरवर को झुका कर।
झुकते हैं सखी वक्ते-करम और जियादा।।

और फिर इस ससार की विशेषताएँ है क्या? कितना मूल्य है इनका?

न थी हाल की जब हमें अपने ख़बर,
रहे देखते औरों के ऐबो-हुनर।
पड़ी अपनी बुराइयों पर जो नजर,
तो निगाह में कोई बुरा न रहा।।

अपनी त्रुटियों को देखो भाई! उन्हें दूर करने का प्रयत्न करो। विशेषताओं को उत्पन्न करो अवश्य, परन्तु उनपर अभिमान मत करो!

और भगवान् के मार्ग पर चलने के लिए, मन को वश में लाने के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि मोह को त्याग दीजिये, उत्तम विचारों को अपने मन में स्थान दीजिये और अभिमान को छोड़कर नम्रता अपनाइये, वहाँ यह भी आवश्यक है कि प्रेम कीजिये। यह प्रेम ही संसार को सुन्दर बनाता है, ससार में सुख उत्पन्न करता है—

मुहब्बत की दुनिया में सब कुछ हसीं[1] है।
मुहब्बत नहीं है तो कुछ भी नहीं है।।

इस प्रेम की शक्ति का पूर्णरूपेण वर्णन कौन कर सकता है? करोड़ों कहानियाँ, करोड़ों कविताएँ, करोड़ो गीत, करोड़ो गजलें लिखी गईं; अभी अरबों और लिखी जायेंगी, तो भी इस प्रेम का वर्णन पूर्ण नही होगा—

बयान कैफ़[2] से यह इश्क हो नहीं सकता।
कि दायरे अभी महदूद हैं जबानों के।।

परन्तु यह प्रेम कई प्रकार का है। परमात्मा के लिए प्रेम हो तो उसे भक्ति कहते है। गुरु के लिए प्रेम हो तो उसे श्रद्धा कहते है। भाई-बहन, पुत्र-पुत्री के लिए प्रेम हो तो उसे स्नेह कहते हैं। दूसरो के लिए प्रेम हो तो उसे अनुराग कहते हैं—

---

१. सुन्दर। २ आनन्द, नशा, मद।

यही इश्क़ बन्दानवाज[1] भी है।
यही इश्क़ शोबद:बाज[2] भी है॥
यही बर्क़[3] जलवाए-नाज[4] भी है।
यही सोज[5] भी है यही साज भी है॥

परन्तु मै जिस प्रेम की बात कहता हूँ, वह इस संसार के प्रेम से तनिक भिन्न है। आप पत्नी से, भाइयों से, बहनों से, माता-पिता से, गुरु से, आचार्य से प्रेम करते है तो मैं रोकता नही, अवश्य कीजिये। परन्तु इस बात को मत भूलिये कि ये सब समाप्त होनेवाले हैं—

अजल[6] लगाये हुए घात हर किसी पे है।
बहोश बाश कि आलम[7] रवारवी पे है॥

संसार से प्यार करो अवश्य, अपने कर्त्तव्य का पालन करो, परन्तु इस कर्त्तव्य में डूब न जाओ। इसमे डूबने से वह मजिल मिलेगी नहीं जिसे तुम खोज रहे हो और जिसे प्राप्त किए बिना शान्ति कभी मिलती नहीं—

किस जो'म[8] में है ऐ रहरोगम,[9]
धोखे में न आना मंजिल के॥
यह राह बहुत कुछ छानी है,
इस राह में मंजिल कोई नहीं॥

फिर भी अपना कर्त्तव्य पूरा करो। परन्तु लौ लगाओ उससे जो सदा प्रसन्न रहता है ; जो अजर, अमर, अविनाशी और परम-आनन्द है और इतना सुन्दर है कि संसार का प्रत्येक सौन्दर्य, प्रत्येक आकर्षण उसके सम्मुख ऐसा है जैसे सूर्य के समक्ष जुगनू। उस परम प्यारे प्रीतम का प्यार है भक्ति। यह भक्ति कैसे की जाती है, यह कल बताऊँगा। अब सवा नौ बज गए, समय पूरा हो गया।

ओम् तत् सत् !

---

१. भक्तवत्सल। २. मायावी। ३. चपला, बिजली। ४. दर्शनीय। ५. ताप। ६. मृत्यु। ७. ससार। ८. अहकार। ९. बटोही।

पन्द्रहवाँ दिन

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

किस प्रकार वहाँ तक पहुँचें, उस स्थान पर जहाँ ज्योति से भरपूर स्वर्ग है, जहाँ परमानन्द से भरपूर भगवान् के दर्शन होते है, यह मै आपको बता रहा था कि अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश से आगे आनन्दमय कोश में पहुँचने और उस प्रीतम प्यारे का दर्शन पाने के लिए मन को वश में करना आवश्यक है। यह भी कह रहा था कि उस प्रीतम को पाना तभी सम्भव है जब तप, दम और कर्म का मार्ग अपनाया जाय।

तप, अर्थात् शरीर को नियन्त्रण में रखना।

दम, अर्थात् मन को वश में रखना।

इन दोनों के पश्चात् जो कर्म होगा वह भगवान् की ओर ले जायेगा।

यह भी कह रहा था कि मन पर काबू पाने के लिए पहली आवश्यक बात यह है कि मोह-ममता को छोड दीजिये। फिर उत्तम विचार अपनाइये।

परन्तु मै जब कहता हूँ कि मोह छोड दीजिये—पत्नी का, बच्चों का, धन का, सम्पत्ति का, मान-सम्मान का, शक्ति का, कीर्ति का, शासन का, तो इसका अर्थ यह नही कि अपना घर-बार छोड़ दीजिये। न भाई ! ऐसा नही करना।

हमारे पास स्थान बहुत कम है गगोत्री में, सब लोग वहाँ पहुँचने लगे तो उन्हे रक्खेंगे कहाँ ? घर-बार छोड़ने की आवश्यकता नही। पत्नी और बच्चो का ध्यान रखिये। धन कमाइये, भवन बनाइये, सम्मान, शक्ति, शासन और कीर्ति के लिए भी प्रयत्न कीजिये परन्तु इनमें फँस न जाइये। आपका मन तो है किसी और वस्तु मे और खोजें परमेश्वर को तो परमेश्वर आपको मिलेगा कैसे ?

जो मैं सर-बसिज्दः[1] हुआ कभी तो, ज़मीं से आने लगी सदा,[2]
तेरा दिल तो है सनम-आश्ना,[3] तुझे क्या मिलेगा नमाज़ में ?

नही भाई ! कुछ भी नही मिलेगा। इसलिए पहले मोह-ममता को छोड़ो। गुरुजी ने कहा था—

जो तोहे प्रेम खेलन का चाव।
सिर धर तली गली मोरी आव।।

अरे भाई ! सिर को तली पर नही रख सकते तो कम-से-कम मोह तो परे हटाओ। इसे छोडने के पश्चात् तुम्हें अपना पता लगेगा, अपनी खबर मिलेगी, तत्पश्चात् उसका भी पता लगेगा जिसको तुम ढूँढ रहे हो। मोह में फँसकर अपने मन को कभी यहाँ, और कभी वहाँ मत उलझाओ। अपने-आपकी खबर न हो तुम्हे तो वह कैसे मिलेगा जिसको तुम खोज रहे हो ?

आँख पड़ती है कहीं, पाँव कहीं पड़ता है।
सबकी है तुमको ख़बर अपनी ख़बर कुछ भी नहीं।।

अपना ज्ञान प्राप्त करने के लिए, अपने को जानने के लिए आवश्यक है कि मोह को त्याग दो।

यह मोह किस प्रकार हानि पहुँचाता है, इस सम्बन्ध में एक कथा सुनिये। एक था बन्दर पकड़नेवाला। वह जंगल मे जाता। कुछ घड़े गाड़ रक्खे थे उसने भूमि में। उनमें भुने हुए चने डाल देता। बन्दर उसको देखते।[1] वह एक ओर छिपकर बैठ जाता तो बन्दर घड़ों के पास आते। उनमें हाथ डालकर चने निकालने का प्रयत्न करते। घड़े में हाथ डालते तो खुला होने के कारण हाथ सरलता से अन्दर चला जाता। मुट्ठी में चने भरकर बाहर निकालने का प्रयत्न करते तो हाथ फँस जाता। कई बन्दर एक-साथ दोनों हाथ डालकर, दोनों मुट्ठियाँ भरके निकालने का प्रयत्न करते। बन्दर पकड़नेवाला उन्हें इस अवस्था में देखता तो आकर पकड़ लेता।

---

१. ईश्वर के लिए सिर झुकाना। २. आवाज़। ३. प्रेयसी के ध्यान में, परिचित के ध्यान मे।

यही अवस्था हमारी भी है। ससार के घड़ों में मोह-ममता की मिठाइयाँ हमने भर रक्खी है, चाहते हैं कि हाथ बाहर निकल आए परन्तु मुट्ठी खोलते नहीं और ऐसे फँसते है कि एक दिन काल आके दवा लेता है।

इसीलिए कहता हूँ अपना कर्त्तव्य पूरा करो अवश्य, परन्तु मोह-ममता को त्याग दो।

और तब अपने मन में शुद्ध विचार, उत्तम विचार उत्पन्न करो। विचार की शक्ति महान् है। मनुष्य ही नही, राष्ट्र भी विचार उत्तम होने से ऊपर उठते है और विचार दूषित होने से गिरने लगते हैं। किस प्रकार विचार की शक्ति परिस्थितियों को बदल देती है, इसके सम्बन्ध में कितनी ही बातें सुना सकता हूँ।

नेपोलियन ने एक स्वप्न देखा कि वह सारे यूरोप पर विजय प्राप्त कर लेगा। जर्मनी पर आक्रमण करके प्रदेश के पश्चात् प्रदेश जीतता हुआ वह आगे बढता जाता था। सलीबा में पहुँचा तो उस देश के लोग वीरतापूर्वक लडे। पुरुष लडे, स्त्रियाँ लडी—प्रत्येक व्यक्ति डटकर सामुख्य करने लगा। नेपोलियन के आगे बढते हुए पाँव रुक गए। तभी एक छोटे-से मकान में एक छोटी-सी लड़की रो रही थी। बार-बार वह सोचती—'कैसे मैं अपने देश को बचाऊँ ? मैं निर्धन हूँ, धन नहीं दे सकती। छोटी हूँ, सेना में भर्ती नहीं हो सकती। तब क्या करूँ ?' तभी एक विचार उसके मन में आया। वह बहुत सुन्दर थी। उससे अधिक सुन्दर उसके बाल थे। तीव्रता से वह अपने मकान से निकली। एक नाई की दुकान पर गई और बोली—"मेरे ये बाल काट दो, इन्हें अपने पास रख लो और इनका मूल्य मुझे दे दो।" नाई ने उसके सुनहरी रेशम-जैसे बाल देखे, उसका भोला-भाला मुखमण्डल देखा; पूछा—"ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी है बेटी, कि तुम अपने इन सुन्दर केशो को बेचना चाहती हो ?" लड़की ने कहा—"मै निर्धन हूँ, बहुत छोटी हूँ। देश की रक्षा के लिए कुछ कर नहीं सकती। ये बाल बेचकर जो धन मिलेगा वह देश की रक्षा के लिए दे दूँगी।" नाई ने यह बात सुनी तो उसका हृदय भर आया; बोला—"बेटी ! तेरे बाल इतने सुन्दर हैं, इन्हे इस प्रकार न कटवा।" वह बोली—"परन्तु मुझे

देश की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ तो करना है। और कोई साधन मेरे पास है नही, अतः तुम ये बाल ही काटो और इनका मूल्य मुझे दे दो।" नाई ने कहा—"तुझे देश के रक्षा-कोष में ही कुछ देना है तो मैं तुझे दस 'मार्क्स' देता हूँ, ये जाकर दे दे; बाल मत कटवा।" वह बोली—"किसी के दान को लेकर मैं देश की रक्षा के लिए दूँगी तो इससे मुझे सन्तोष कैसे होगा? तुम बाल ही काटो, मुझे बालो का मूल्य दे दो।" नाई ने विवश होकर उसके बाल काटे और पच्चीस 'मार्क्स' दे दिये। वह लड़की दौडी-दौडी वहाँ गई जहाँ देश की रक्षा के लिए धन लिया जाता था। उसके मुखमण्डल पर प्रसन्नता खेल रही थी। उसकी आँखे चमक रही थी। उसके पाँव भूमि पर तैरते हुए प्रतीत होते थे। प्रसन्नता के साथ वह बोली—"यह लो पच्चीस 'मार्क्स'। मैने देश की रक्षा के लिए इन्हें अपने बाल बेचकर प्राप्त किया है।" धन लेनेवाले ने आश्चर्य मे कहा—"तुमने अपने बाल कटवा दिये है?" लड़की बोली—"देश के लिए मै यही दे सकती थी। मैं छोटी हूँ, निर्धन हूँ, और कुछ मेरे पास था नहीं। बाल थे केवल, उन्ही को मैने बेच दिया।" देखते-ही-देखते यह बात जंगल की अग्नि की भाँति सारे देश में फैल गई। लोगों मे नया उत्साह जाग उठा, बलिदान की नई भावना। देखते-ही-देखते नाई की दुकान पर इस लड़की के सुन्दर बालों को खरीदनेवालों की भीड लग गई। खरीदनेवाले बहुत थे, बाल थोड़े। नाई ने एक-एक लट कई सहस्र 'मार्क्स' में बेची। कई लाख 'मार्क्स' उसके पास एकत्र हो गए। यह सब-का-सब धन उसने देश की रक्षा के लिए दे दिया। इस प्रकार एक छोटे-से विचार ने एक महान् परिणाम को उत्पन्न कर दिया।

विचार की शक्ति तूफानो और भूकम्पों से भी अधिक है। ऐसे-ऐसे परिवर्तन वह करता है कि देखनेवाले चकित रह जाते हैं।

बन्दा वीर वैरागी की कहानी तो आपने सुनी है। कश्मीर में एक प्रदेश है—'पुञ्छ'—वहाँ का रहनेवाला था वह। ठाकुर लक्ष्मणदेव उसका नाम था। एक धनिक जमीदार का पुत्र और शिकार का बहुत शौकीन। प्रतिदिन वह जगली पशुओं का शिकार करता था। एक दिन एक हिरनी को तीर मारा। वह गिर पड़ी और मर गई। लक्ष्मणदेव घोडे से उतरा, उसके पास गया, तलवार से उसका पेट काटा ताकि

पेट को साफ़ करके हिरनी का मांस अपने साथ ले जाये। परन्तु पेट चीरते ही दो जीवित बच्चे अन्दर से निकल आए। उन्हे देखकर लक्ष्मणदेव को अपने-आपसे घृणा हुई कि मैंने क्या किया ? इन बच्चों की माँ को मार डाला ? शिकार से घृणा हुई। तीव्र वैराग्य जाग उठा। तीर एवं तलवार छोडकर वह कश्मीर और पंजाब से दूर नासिक के जगलो मे जा पहुँचा। गोदावरी के किनारे घोर तप करने लगा। श्री गुरु गोविन्दसिह जी महाराज वहाँ पहुँचे तो इस लक्ष्मणदेव को मिले जिसका नाम उस समय माधोदास था। उससे बोले—"माधोदास ! तुम्हारा पंजाब अत्याचार की अग्नि में जल रहा है और तुम यहाँ वैरागी बने बैठे हो, इसका लाभ क्या है ? जाओ, अत्याचार का तख्ता हिला दो ! दीन-दुःखी और निर्धनो की सेवा करो ! अत्याचार-पीड़ितों को बचाओ !"

माधोदास ने गुरुजी के चरणों में सिर झुकाकर कहा—"मैं आपका बन्दा हूँ, आपकी आज्ञा सिर-माथे पर।" और बन्दा वैरागी पंजाब में पहुँचा। एक तूफान उसने जगा दिया। ऐसा भूकम्प उत्पन्न कर दिया कि मुगल साम्राज्य की जड़े हिला दीं। केवल एक विचार के बदलने से कितनी बड़ी क्रान्ति जाग उठी !

और फिर यह गीता क्या है ? सुपथ से भटके हुए मनुष्य को सत्य और वास्तविकता का मार्ग दिखानेवाला ग्रन्थ। मैं मुरादाबाद में एक नहर के किनारे घूम रहा था तो दो नौजवान अंग्रेज मिले। गीता के सम्बन्ध में चर्चा होने लगी तो उन्होंने पूछा—"इतना महान् ग्रन्थ भारत के पास है, फिर यह देश पराधीन क्यों हुआ ?" मैंने कहा—"इसलिए कि भारत के लोगो ने गीता को पढा अवश्य, पर उसपर आचरण नहीं किया।"

आचरण की इस बात से एक चुटकुला स्मरण आया।

एक पण्डितजी कथा करते थे। प्रतिदिन लोग सुनने आते। एक दिन पण्डितजी ने पूछा—"अरे भाई ! सुनते तो प्रतिदिन हो परन्तु अमल भी करते हो ?" एक वृद्धा देवी ने कहा—"पण्डितजी ! मैं प्रतिदिन अमल करती हूँ। मुझे अफीम खाने का अमल है, प्रतिदिन अफ़ीम खाती हूँ।" पजाब में 'अमल करने' का अर्थ नशा करना है।

ऐसा नहीं मेरे भाई ! अमल का ठीक अर्थ यह है कि जो सुनो या पढ़ो, उसके अनुसार अपना जीवन बनाओ।

इसलिए उन अंग्रेज नौजवानों से कहा—"गीता एक महान् ग्रन्थ है परन्तु कोई आचरण ही न करे तो इसमें ग्रन्थ का क्या दोष है ?" गीता पर आचरण किया अर्जुन ने। भगवान् कृष्ण का उपदेश सुनते ही उसकी आँखे खुलीं, उसका विचार बदला और उसने संसार के सबसे बड़े युद्ध में विजय प्राप्त की।

भगवान् के मार्ग पर चलना हो और मन को वश में करना हो तो पहले मोह को छोड़ो, फिर विचार को बदलो, ठीक विचारों को अपनाओ, उनपर आचरण करो। और तीसरी बात मैंने यह कही कि अभिमान न करो। यह अभिमान मनुष्य का सर्वनाश कर देता है। गुरु महाराज ने भी तो कहा—

बड़े बड़े अहँकारिया।
नानक गरब भये॥

रावण ने अहकार किया तो उसका विनाश हुआ। दुर्योधन ने अहकार किया तो अपना भी सत्यानाश किया और करोड़ों दूसरे लोगों को भी मरवा डाला। छियासठ करोड़ एक लाख पैंतीस सहस्र व्यक्ति महाभारत के युद्ध में मारे गये। सिकन्दर के सिर पर अहंकार का भूत सवार हुआ तो निकल पड़ा संसार की विजय करने के लिए। भारत में पहुँचा तो एक बहुत बडा योगी उसे मिला। उसकी सेवा करता रहा सिकन्दर। योगी ने पूछा—"सिकन्दर ! क्यों तू इतनी सेवा करता है ? क्या चाहता है तू ?" सिकन्दर ने कहा—"मैं तीन लोक का राज्य प्राप्त करना चाहता हूँ।" यह अभिमान ! परन्तु अवस्था यह कि जब श्रीमान् ससार से गए तो दोनों हाथ रिक्त थे। ये तीन लोक तो क्या, एक कौड़ी भी साथ नहीं ले-जा सका वह।

नेपोलियन के मन में भी अभिमान उत्पन्न हुआ कि वह सारे संसार को विजय करेगा। यूरोप को रौंद डाला उसने। रूस तक जा पहुँचा, परन्तु अन्त में मरा तो 'हेलेना' के टापू मे एक कैदी बनकर।

हिटलर ने अभिमान किया। जर्मन रेडियो से गूँजनेवाली उसकी आवाज़ अब भी मेरे कानों में सुनाई देती है। चिल्ला-चिल्लाकर वह

कहता था—"हम आर्य हैं, केवल आर्यों को ही ससार पर राज्य करने का अधिकार है।" वेद में वस्तुतः लिखा है कि मैंने यह भूमि आर्यों के लिए दी है। परन्तु यह मत समझिये कि आर्य का अर्थ केवल आर्य-समाजी है। ऐसा समझेंगे तो भूल करेंगे आप। हिटलर ने भी यह भूल की। उसने समझा कि आर्य का अर्थ जर्मन जाति है। ये दोनों बातें गलत हैं। आर्य का अर्थ न आर्यसमाजी है और न जर्मन। इसका अर्थ है—श्रेष्ठ, सदाचारी, तपस्वी मनुष्य; जिसने अपने-आपको वश में कर लिया है, जो अपने लिए नही, दूसरों के लिए सोचता है। परन्तु हिटलर के मन मे अभिमान जाग उठा। जो परिणाम हुआ वह आपके सामने है। मुसोलिनी की भी यही अवस्था हुई; जापान के उस शासक की भी जिसने समझा कि शक्ति से प्रत्येक बात सम्भव है।

और हमारे अपने देश में देखिये। यहाँ छूतछात जाग उठी। उसका कारण अभिमान के अतिरिक्त और क्या था? अभिमान के कारण कुछ लोगो ने समझा कि दूसरे लोग अछूत है। उन्हें वह अधिकार नहीं है जो हमें है। अभिमान के कारण छोटे और बड़े, ऊँच और नीच का भाव जाग उठा। जम्मू में अकाल पड़ा तो आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता वहाँ सहायता के लिए गये। सबको सहायता देते थे वे। वहाँ एक जाति है 'वशिष्ठ' जिसे अछूत माना जाता था। सहायता-शिविरों में ब्राह्मण भी आते थे, क्षत्रिय भी और ये वशिष्ठ लोग भी। परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय इन 'वशिष्ठ' लोगों को अपने निकट, अपने सामने कुर्सी पर या फ़र्श पर बैठने नहीं देते थे। उन्हें कहते थे—"परे हटकर भूमि पर बैठो।" आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं ने इन वशिष्ठों को यज्ञोपवीत पहनाये तो ऊँची जातिवाले कई लोगों ने न केवल यज्ञोपवीत तोड़ दिये, अपितु गर्म लोहे से उन दीन-दुःखी भाइयों के शरीर दाग़ दिये और कहा—"अब हमने उन्हें सदा के लिए यज्ञोपवीत पहना दिया है।" इस झूठे अभिमान ने हिन्दुओं को और हिन्दुस्तान को जो हानि पहुँचाई उसका पूर्णरूपेण कोई वर्णन नही कर सकता।

ये तीन बातें मैंने कल बताईं। इसके पश्चात् भक्ति का वर्णन करने लगा था। अभी उसकी बात करूँगा परन्तु पहले एक और बात

सुनिये। भगवान् को पाने और आत्मा का दर्शन करने के लिए जहाँ आवश्यक है कि मोह को त्यागिये, सद्विचार पैदा कीजिये और अहंकार को छोड़ दीजिये, वहाँ यह भी आवश्यक है कि तुच्छ स्वार्थ से दूर रहिये।

तुच्छ स्वार्थ दो प्रकार का है—एक यह कि मैं केवल अपना भला चाहूँ; मेरे भले के कारण किसी दूसरे की हानि होती हो तो उसकी ओर ध्यान न दूँ। दूसरा, यह कि मेरा भला हो या न हो, दूसरे की हानि अवश्य हो। इस भावना से कार्य करना बहुत तुच्छ स्वार्थ है। अब प्रश्न है कि तब कैसे स्वार्थ से काम करना भाई ?

मनुष्य इस संसार में आता है तो पूर्णरूपेण स्वार्थ को समाप्त नहीं कर सकता। वह खाना खाता है, पानी पीता है, श्वास लेता है, कपड़े पहनता है, शिक्षा प्राप्त करता है, कितने ही अन्य कार्य करता है। यह सब स्वार्थ है, क्योंकि वह स्वयं खाता है, स्वय पीता है, स्वय वस्त्र पहनता है, स्वय शिक्षा प्राप्त करता है'

तब कैसा स्वार्थ उचित है और कैसा स्वार्थ अनुचित ?

मोटे रूप में स्वार्थ तीन प्रकार का है—नीच, मध्यम और उत्तम।

यदि मनुष्य केवल शरीर के लिए जीवित रहे, हर समय शरीर की ही चिन्ता करता रहे, इसे खिलाये, पिलाये, सजाये, सँवारे, इसके विश्राम और विलास का ही प्रबन्ध करता रहे, इसके लिए कमाये, कमाने के लिए उचित और अनुचित के विवेक को भी मिटा दे और आत्मा को भुला दे, उसकी ओर ध्यान ही न दे, केवल शरीर के पालन में ही अपना जीवन व्यतीत कर दे और फिर मर जाय तो यह नीच (अधम) स्वार्थ है। उस व्यक्ति ने शरीर की रक्षा की अवश्य, परन्तु शरीर के स्वामी को भूखा रक्खा। जो वास्तव मे इस शरीर को चलानेवाला, इसे शक्ति देनेवाला और जीवन देनेवाला है उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। यह स्वार्थ अवश्य है परन्तु बहुत छोटी श्रेणी का, अधम श्रेणी का स्वार्थ है। यह स्वार्थ हम पशुओं में पाते है। यदि किसी व्यक्ति में ऐसा स्वार्थ है तो समझना चाहिए कि वह देखने में भले ही मनुष्य हो, वास्तव में पशु है।

दूसरे प्रकार का स्वार्थ है मध्यम स्वार्थ। यदि कोई व्यक्ति अपने

शरीर की रक्षा भी करे और इसके साथ-ही-साथ आत्मा की रक्षा भी करे, शरीर को भोजन दे और आत्मा को भी भोजन दे तो यह मध्यम स्वार्थ है। शरीर की रक्षा करना आवश्यक है। यही आत्मा का निवास-स्थान है। नहीं, दो-दो आत्मा इसमें रहते है—एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। जबतक शरीर जीवित है जीवात्मा इसी मे रहता है। परमात्मा का दर्शन भी यहीं होता है। ब्राह्मण ग्रंथों में स्पष्ट कहा है कि शरीर मे **'आत्मानौ'** दो आत्मा रहते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज वेदान्ती थे। एक ही आत्मा को मानते थे, दूसरे को नहीं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ का भाष्य करते हुए इस **'आत्मानौ'** (दो आत्मा) पर पहुँचे तो उलझन में पड़ गये। इस शब्द **'आत्मानौ'** का दो आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई अर्थ हो नहीं सकता। विवश होकर उन्हें भी लिखना पड़ा कि शरीर मे दो आत्मा रहते हैं। इसके साथ ही नीचे टिप्पणी देते हुए लिख दिया कि ये दो आत्मा केवल सांसारिक दृष्टिकोण से लिखा गया है, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से केवल एक ही जीवात्मा है। परन्तु यह सासारिक दृष्टिकोण क्या है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण क्या है? इसका निर्णय कौन करेगा? ब्राह्मण ग्रन्थ स्पष्ट रूप से दो आत्माओं की बात कहता है। दो आत्मा जिस शरीर में रहते है—एक शरीर का स्वामी, दूसरा सृष्टि का स्वामी—ऐसे शरीर की रक्षा होनी ही चाहिए। ऐसा करने मे कोई बुराई नहीं। परन्तु इसके साथ-ही-साथ आत्मा की रक्षा भी होनी चाहिये। शरीर को भोजन दिया जाय तो आत्मा को भी भोजन देना चाहिए। परन्तु आत्मा का भोजन क्या है?

हमारे शास्त्र कहते हैं—

ध्यानमुपहारो वै आत्मनः।
ध्यानमस्य महार्चनिम्॥

ध्यान ही इस आत्मा के लिए सबसे बडा उपहार—इसका भोजन है। ध्यान इसकी पूजा है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने भी कहा—"प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम एक घण्टा प्रतिदिन ध्यान मे बैठना चाहिये। चित्त को हर ओर से हटाकर भगवान् के चिन्तन में लगा देना चाहिए। परन्तु जो

लोग मुक्ति चाहते हैं उन्हें एक नहीं, कम-से-कम दो घण्टे ध्यान करना चाहिए ।"

महर्षि ने यह बात क्यों कही ? इसलिए कि ध्यान ही आत्मा का भोजन है । ध्यान से मन, बुद्धि, अन्तःकरण की बैटरी चार्ज होती है। जो शक्ति खर्च हो गई है वह फिर से मिल जाती है। ध्यान की अवस्था में जब आत्मा परमात्मा से मिलता है तो भगवान् की ज्योति उसे आभायुक्त कर देती है । उसकी किरणे आत्मा पर पड़ती है तो मन की सभी चिन्ताएँ दूर हो जाती है, अशान्ति दूर हो जाती है, उलझनें दूर हो जाती है। जिन्हे ये किरणे नही मिलतीं उनके लिए अशान्ति, चिन्ता और अन्धकार सदा बना रहता है । सब-कुछ होने पर भी उन्हें सुख और शान्ति नही मिलती ।

यह मध्यम स्वार्थ है कि मनुष्य शरीर और आत्मा दोनों के लिए प्रयत्न करे।

और उत्तम स्वार्थ वह है जिसमें मनुष्य शरीर को भूलकर केवल आत्मा की चिन्ता करता है । सत्य के लिए, न्याय के लिए, देश और धर्म के लिए वह शरीर के स्वार्थ को भूलकर, केवल आत्मा के स्वार्थ को देखता है। इस निश्चय के साथ कि शरीर रहे या न रहे, वह आत्मा की उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। यह है आत्मस्वार्थ। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब वह दोराहे पर पहुँच जाता है। एक मार्ग एक ओर जाता है, दूसरा दूसरी ओर। उसे निर्णय करना पड़ता है कि दोनों में से किस मार्ग पर जाना है। ये दो मार्ग हैं—श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग । श्रेयमार्ग ऊबड़-खाबड़ है, झाड़-झंखाडों से भरपूर । पग-पग पर काँटे हैं, बहुत तीखे काँटे । जगह-जगह गढ़े है, बहुत गहरे गढ़े । इसमें कोई सौन्दर्य नही, कोई आकर्षण नहीं। दूसरा है प्रेयमार्ग—यह प्रेयमार्ग सुहाना है, सुन्दर है। इसमें स्थान-स्थान पर आकर्षण हैं। कहीं पुष्प है, कहीं कोलतार की सड़के, कही फ़व्वारे, कहीं लहलहाते खेत, कही फूलों से लदे वृक्ष, कही जगमगाता प्रकाश, कही सौन्दर्य, मद और आकर्षण, कहीं सगीत-नृत्य, मदिरा और मस्ती । ये दो प्रकार के मार्ग मनुष्य के समक्ष आते है। अन्तर केवल यह है कि श्रेयमार्ग का ऊबड़-खाबड़, झाड़-झंखाड और ऊँचा-

नीचा मार्ग अन्त में उस लक्ष्य के पास ले जाता है, जहाँ शाश्वत शान्ति है, अनन्त शान्ति, अनन्त सुख और असीम आनन्द। प्रेयमार्ग उस लक्ष्य के पास ले जाता है जो वस्तुत. कोई लक्ष्य नहीं; जहाँ बेचैनी, अशाति, दु:ख, चिन्ता और निराशा के अतिरिक्त और कुछ नही।

ऐसा समय आता है मनुष्य के समक्ष जब ये श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग उनके सामने आते है। वह दोराहे पर पहुँचता है और उसे निर्णय करना पड़ता है कि वह किस मार्ग पर जाए।

ऐसा समय नचिकेता के समक्ष आया। तीन दिन तक वह यम के द्वार पर भूखा बैठा रहा था। तीन दिन पश्चात् महाराज यम आये तो उन्होने कहा—"नचिकेता! तीन वर माँगो।" नचिकेता ने पहले वर में यह माँगा कि उसके पिता का क्रोध शान्त हो जाय। दूसरे वर में यह माँगा कि उनका राज्य उन्हे वापस मिल जाय, और वे बहुत देर तक राज्य करें।

यम ने तीसरे वर की बात कही तो नचिकेता ने कहा—"मैं आत्मा को जानना चाहता हूँ।"

यम ने कहा—"इस आत्मा की बात न पूछ। मैं तुझे सहस्रों वर्ष का जीवन दे सकता हूँ, तुझे सहस्रों वर्ष रहनेवाला यौवन दे सकता हूँ। धन-सम्पत्ति और सारी पृथिवी का राज्य दे सकता हूँ। यह वर दे सकता हूँ कि तुम्हारे पास सुन्दरतम स्त्रियाँ हों, आज्ञाकारी सन्तान हों, अनेक नौकर-चाकर हों, ऐसा शासन हो जिसके समक्ष सब सिर झुकाएँ। ऐसा वर माँग ले नचिकेता! आत्मा की बात न पूछ।"

उस समय श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग नचिकेता के सामने थे।

उसने निर्णय किया और विश्वास के साथ कहा—"मुझे आत्मा का ज्ञान ही चाहिए यम महाराज! शेष वस्तुएँ कुछ वर्ष के लिए हों या सहस्रों वर्षों के लिए, अन्तत: वे समाप्त होनेवाली हैं। इन्हें लेकर मैं क्या करूँगा?"

परन्तु यह प्रश्न केवल नचिकेता के समक्ष नहीं आया, अपितु हर मनुष्य के सामने आता है। एक ओर श्रेयमार्ग का आकर्षण-रहित, ऊबड़-खाबड और कई अवस्थाओं में कष्टदायक मार्ग होता है, दूसरी ओर प्रेयमार्ग का आकर्षक पथ। मनुष्य को निर्णय करना पड़ता है कि

दोनों में से किस मार्ग पर वह चलेगा।

रहीम जी ने शायद ऐसे समय के लिए ही कहा—

अब रहीम मुश्किल पड़ी, आड़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम॥

दो मार्ग सामने हैं—एक सत्य का, दूसरा झूठ का। सत्य का मार्ग अपनाओ तो संसार में कुछ मिलता नहीं; झूठ को अपनाओ तो भगवान् नहीं मिलते।

फिर मनुष्य क्या करे?

पिछले दिन एक पत्र मेरे पास आया। उसमें एक भाई ने लिखा कि—"मै एक सरकारी दफ्तर में कार्य करता हूँ। यहाँ सब लोग रिश्वत लेते है। मैने आपकी कथाएँ पढ़ी है। रिश्वत मै लेना नही चाहता। परन्तु मेरे रिश्वत न लेने के कारण मेरे सभी साथी मेरे विरुद्ध हो गए है। प्रतिदिन मेरे विरुद्ध झूठी शिकायतें करते हैं; कहते है कि 'इसे काम करना नही आता। यह अयोग्य है, मूर्ख है। इस पद और विभाग के योग्य नहीं।' मैं अफ़सर के पास गया परन्तु वह मेरी बात सुनने को तैयार नहीं; क्योंकि वह भी रिश्वत लेता है। मुझे भय है कि ये लोग या तो मुझे नौकरी से पृथक् कर देंगे या मुझे इस पद से गिराकर किसी निचले पद पर भेज देंगे। आप बताइये कि मै क्या करूँ?"

मैंने उसे उत्तर दिया—"सत्य के मार्ग पर चलना हो तो उसके लिए कष्ट भी सहने पड़ते हैं। यदि तुम उस मार्ग पर चलना चाहते हो तो परिणाम की चिन्ता किये बिना इस मार्ग पर चलते जाओ। कष्ट आते हैं तो आने दो, वेतन कम होता है तो होने दो, नौकरी जाती है तो जाने दो। सत्य का मार्ग न छोड़ो। परन्तु यदि तुम इन कष्टो को सहन करने के लिए तैयार नहीं तो फिर जैसा दूसरे लोग करते है वैसा करो। तुम भी रिश्वत लो, तुम भी अपने लिए सर्वनाश का मार्ग खोलो।"

यह है दोराहा जो प्रत्येक मनुष्य के समक्ष आता है। उस समय जो मनुष्य आत्मा के मार्ग पर चलने की इच्छा रखता है, वह शरीर के सुख-दु:ख की चिन्ता छोड़ देता है। जो शरीर के सुख को आत्मा

के सुख से बड़ा मानता है वह आत्मा को छोड़कर, सत्य, पुण्य, न्याय और ईश्वर के मार्ग को छोड़कर पाप के मार्ग पर चल पड़ता है। दोनों में से एक मार्ग प्रत्येक को अपनाना पड़ता है। दोनों पर एक-साथ तो कोई चल नहीं सकता।

ऐसे समय में जो मनुष्य श्रेय मार्ग पर चलता है, आत्मा की भलाई का प्रयत्न करता है, वह उत्तम स्वार्थ के मार्ग को अपनाता है।

जो लोग देश के लिए अपने शरीर का बलिदान करते है, देश की स्वतन्त्रता के लिए और उसकी रक्षा के लिए लड़ते-लड़ते शहीद हो जाते हैं, जो अपने तुच्छ स्वार्थ से ऊपर उठकर साम्प्रदायिकता, भाषा, जाति और प्रान्तीय भावनाओं को तिलाञ्जलि देकर देशभक्ति के मार्ग को अपनाते है, वे उत्तम स्वार्थ के मार्ग पर चलते हैं। जो लोग सत्य के लिए, न्याय के लिए, दूसरों का दुःख दूर करने के लिए स्वयं कष्ट सहते है, वे उत्तम स्वार्थ के मार्ग पर चलते है। हमारे देश में जो भाषा-विवाद जाग उठा, भाषाई प्रान्त बनाने पर जो बल दिया गया, भाषा के नाम पर देश को छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त किया गया, यह उत्तम स्वार्थ नही। देश के हित को भुलाकर छोटी-छोटी राजनैतिक पार्टियाँ बनाना और फिर उन पार्टियों के लिए सोचना, देश के लिए नही सोचना, यह भी उत्तम स्वार्थ का मार्ग नही। इस प्रकार की पार्टियों के पीछे साम्प्रदायिकता, भाषा और प्रान्तीयता की आड़ में वस्तुतः एक अत्यन्त तुच्छ स्वार्थ की भावना काम करती है। हमारी पार्टी को शासन मिल जाय, हमारा प्रान्त अलग हो जाय, अमुक भाषा का प्रान्त बन जाय—ये सब-की-सब इच्छाएँ और माँगें अन्ततः हैं क्या? वस्तुतः यह कि कुछ लोग मन्त्री बनना चाहते है, दूसरे पद प्राप्त करना चाहते हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए अपने-आपको और अपने कुछ मित्रों और सम्बन्धियों को लाभ पहुँचाना चाहते है। इस तुच्छ स्वार्थ के लिए देश को हानि पहुँचाना, उसकी एकता को निर्बल करना और उसके अन्दर फूट की भावना जगाना उत्तम स्वार्थ नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व पंजाब के सरदार प्रतापसिंह कैरों ने प्रस्ताव दिया कि पंजाब, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर और राजपूताना[1] को मिलाकर एक प्रान्त बना

१. वर्तमान राजस्थान।

दिया जाय, ताकि देश की रक्षा सरलता से हो सके और बहुत-सा फ़ालतू खर्च जो आज होता है वह बच जाय। जैसे ही उन्होंने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया वैसे ही कश्मीर, पंजाब, हिमाचल और राजपूताना के कई लीडर चिल्ला उठे—"हम यह बात नहीं मानते।" कैसे मानोगे भाई ! इस प्रस्ताव से देश का भला होता है, केवल तुम्हारा भला होता नहीं। देश के कल्याण के लिए तुम अपने भले का बलिदान क्यों करोगे ? परन्तु यह उत्तम स्वार्थ के मार्ग पर चलना है नही, नीच स्वार्थ के मार्ग पर चलना है। और अधम स्वार्थ भौतिक ससार मे हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में—मनुष्य को नीचे ले जाता है, उठाता नहीं गिरा देता है। भगवान् को पाना हो तो उत्तम स्वार्थ के मार्ग को अपनाइये।

इसके पश्चात् आवश्यक बात यह है कि प्रेमी बनो। जिसे आप प्राप्त करना चाहते हैं उससे इस प्रकार प्रेम करो कि उसके समक्ष शेष प्रत्येक बात छोटी प्रतीत होने लगे। भगवान् से इस प्रेम का नाम ही भक्ति है। और हमारे शास्त्र घोषणापूर्वक कहते हैं—

धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि ।
अन्तःकरणशुद्धिश्च भक्तिः परम साधनम् ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य और अन्तःकरण की शुद्धि—इन सबके लिए भक्ति ही परम साधन है।

महर्षि दयानन्द ने इस भक्ति को प्रेमा-भक्ति कहा है। भगवान् कृष्ण ने इसको शरणागति कहा है। योग की भाषा में इसको ईश्वर-प्रणिधान—अपने-आपको ईश्वर के अर्पण करना कहते हैं।

इस प्रेमा-भक्ति की अग्नि जल उठे तो पाप का अँधेरा रहता नहीं, कूड़ा-कबाड़ भी रहता नहीं।

अन्धकार एक बार भगवान् के पास गया; बोला—"महाराज ! यह सूर्य व्यर्थ में ही मेरा शत्रु बन गया है। जहाँ पहुँचता है, वहाँ से मुझे भगा देता है; मुझपर आक्रमण करता है और मुझे सिर छिपाने के लिए दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है। आप मेरा न्याय कीजिये। सूर्य को दण्ड दीजिये।" भगवान् बोले—"यह तो बहुत बुरी बात है, परन्तु न्याय करने के लिए आवश्यक है कि वादी और प्रतिवादी दोनों

की बात सुनी जाय । हम सूर्य को बुलाते हैं । कल वह आयेगा, तुम भी आ जाना । उसके समक्ष अपनी बात कहना । हम तुम्हारी बात सुनेंगे, उसकी भी सुनेंगे, तब निर्णय करेंगे ।" सूर्य के नाम नोटिस जारी हुआ । दूसरे दिन सूर्य पहुँचा भगवान् के दरबार मे । अँधेरा वहाँ आया नहीं । उसका कहीं चिह्न नही था, क्योंकि सूर्य के समक्ष अँधेरा रहता नहीं ।

प्रेमा-भक्ति का सूर्य चमक उठे तो पाप का अँधेरा स्वयमेव चला जाता है । अन्त करण में एकत्र हुआ कूडा-कर्कट स्वयमेव जल जाता है और आत्मा का जगमगाता हुआ रूप सामने आ जाता है ।

कई भाई पूछते है आत्मा का रूप क्या है ? रग क्या है ?

उनके लिए कहता हूँ—आत्मा का कोई रूप-रंग नहीं, वह है चमकती हुई ज्योति । इतनी तीव्र ज्योति कि हर ओर उसकी किरणें पहुँच रही हैं । इस शरीर के एक-एक कण में यह ज्योति विद्यमान है । इससे बाहर भी ये किरणें निकलती हैं । और अब तो सुना है ऐसे कैमरे बन रहे हैं जिनसे इन किरणों की फोटो ली जा सकती है ।

परन्तु ज्योति की ये किरणें उस समय जागती है, उस समय दिखाई देती हैं जब मनुष्य का हृदय निर्मल हो, जब प्रभु-प्रेम ने उसे शुद्ध बना दिया हो । ज्योति तो हर समय विद्यमान है । उसके सामने आप कूड़े-कबाड़ के ढेर खड़े कर दें; घृणा, ईर्ष्या, द्वेष और संसारी मोह-ममता की दीवारें खड़ी कर दें; पाप, लालच और अभिमान की चट्टानें गाड़ दें तो फिर वह दिखाई कैसे देगी ?

संसारी मोह-ममता और प्रभु-प्रेम की एक कहानी आपको सुनाता हूँ । एक व्यक्ति था । उसके तीन मित्र थे । एक ऐसा था जिसे वह प्रात:, मध्याह्न, सायं और रात्रि, प्रतिदिन मिलता था, उसके बिना उसे एक पल भी शान्ति नहीं मिलती थी । दूसरा ऐसा था जिसे वह प्यार करता था अवश्य, परन्तु मिलता था सप्ताह में, दूसरे या तीसरे सप्ताह में, और तीसरा ऐसा था जिसे वह कभी-कभी महीनों के पश्चात् मिलता था । एक बार इस व्यक्ति पर एक मुकद्दमा बन गया । वकील ने कहा, मुकद्दमा बहुत सख़्त है, बहुत भीषण दण्ड हो सकता है । तो ऐसा गवाह तैयार करो जो कहे कि वह तुम्हे जानता है, और तुमपर लगे आरोप को ग़लत समझता है । वह व्यक्ति अपने पहले मित्र

के पास गया; बोला—"एक मुकद्दमा बन गया है मेरे ऊपर। एक गवाही की आवश्यकता है। तुमसे बढ़कर मेरा कोई मित्र नहीं। तुम चलकर मेरे पक्ष में गवाही दो।" मित्र ने कहा—"देखो भाई! तुम्हारी-मेरी मित्रता अवश्य है। हम इकट्ठे खाते-पीते, सोते-जागते हैं परन्तु गवाही देने के लिए मैं तुम्हारे साथ एक पग भी नही जा सकता।" वह व्यक्ति बहुत निराश हुआ, दुःखी भी हुआ। तभी उसे दूसरे मित्र का विचार आया। उसके पास जाकर गवाही देने के लिए कहा। मित्र बोला—"मै तुम्हारे साथ कचहरी के द्वार तक तो जा सकता हूँ परन्तु कचहरी के अन्दर नहीं जाऊँगा, गवाही नहीं दूंगा।" यह व्यक्ति फिर निराशा में डूबा, फिर दुःखी हुआ। जो सबसे घनिष्ठ मित्र था उसने इसकी बात नहीं मानी; जिसे वह सप्ताह-दो-सप्ताह के पश्चात् मिलता था उसने भी इसकी बात नहीं मानी तब मानेगा कौन? उसे अपने तीसरे मित्र का स्मरण आया जिसे वह महीनों के पश्चात् कभी थोड़ी देर के लिए मिलता था। परन्तु क्या वह इसकी बात मानेगा? बुझे-से हृदय के साथ वह उसके पास पहुँचा। उसे अपनी बात कही। तीसरे मित्र ने जोश के साथ कहा—"मैं चलूँगा तेरे साथ, तेरे पक्ष में गवाही दूंगा और मेरा दावा है कि यह मुकद्दमा समाप्त हो जायेगा, तू बरी होगा।"

परन्तु वह व्यक्ति कौन है? ये मित्र कौन हैं?

व्यक्ति है वह आत्मा।

पहला मित्र है धन-सम्पत्ति, भवन और भूमि, जिन्हें मनुष्य अपना समझता है और जिनके लिए वह प्रातः, सायं, मध्याह्न और रात्रि हर समय चिन्ता करता है।

दूसरा मित्र है ये सम्बन्धी, रिश्तेदार, पत्नी, बच्चे, भाई, बहन जिसके लिए मनुष्य प्रत्येक कष्ट उठाता है।

तीसरा मित्र है प्रभु-प्रेम और शुभ कर्म जो प्रभु-प्रेम के कारण किये जाते हैं।

मनुष्य के पास यमराज का परवाना आता है—आओ, तुमपर मुकद्दमा चलेगा, तुम्हारा हिसाब-किताब किया जायेगा। तब धन-सम्पत्ति, भूमि और भवन वहीं उसका साथ छोड़ देते हैं। कोई भी आज

तक धन-सम्पत्ति को साथ ले नहीं गया। ये यहीं-के-यहीं रह जाते हैं; कभी किसी के साथ गये नहीं। हाँ, पत्नी, बच्चे, भाई-बहन, दूसरे सम्बन्धी और रिश्तेदार श्मशान तक जाते है—अग्नि की कचहरी के द्वार तक। उससे आगे वे जा नही सकते। कभी जाते नहीं; वापस लौट आते है। यमराज की कचहरी में आत्मा के साथ जाता है केवल प्रभु-प्रेम और वे शुभ कर्म जो प्रभु-प्रेम के कारण किये जाते हैं। इनके कारण आत्मा को सद्गति मिलती है। इन शुभ कर्मों के कारण वह सफल होता है, उत्तीर्ण होता है।

इसलिए मेरे भाई! इस प्रेम को जगाओ। प्रभु-दर्शन की प्यास को जगाओ। प्रेम-भक्ति के सूर्य को जगमगाने दो, फिर देखो यह आत्मा किस प्रकार चमकता हुआ दिखाई देता है जिसका प्रभु-प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य नहीं।

अथर्ववेद मे दो मन्त्र आते हैं, वे आपको सुनाता हूँ। इनमें प्रत्येक मन्त्र प्रभु-प्रेम का मन्त्र है। इस प्रकार प्रेम के अमृत में शराबोर (लथ-पथ) कि मनुष्य का हृदय झूम उठता है। पहला मन्त्र है—

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥

—अथर्व० ६।१३०।१॥

जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है उसके हृदय में और भगवान् के हृदय में जो इन इच्छाओं से परे है, सहज स्वभाव से स्वयमेव प्रेम उत्पन्न होता है और फिर दोनों एक-दूसरे को इस प्रकार चाहने लगते हैं जैसे पतिव्रता स्त्री वियोग की रातों में अपने पति को ही स्मरण करती है, उसके अतिरिक्त और किसी का चिन्तन नहीं करती।

और दूसरा मन्त्र है—

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु॥

अथर्व० ६।१३०।४॥

हे हवाओ! मुझे पागल कर दो। ऐ अन्तरिक्ष! मुझे पागल कर दो और तुम भी ऐ आग की ज्वालाओ! मुझे पागल कर दो। और

ऐसी अवस्था उत्पन्न कर दो कि मेरा प्रीतम, मेरा वह दयालु परमेश्वर मेरे वियोग में मुझे स्मरण करे।

यह है प्रेम का पागलपन !

प्रीत लगी तुम नाम की पलभर बिसरे नाहीं।
नजर करो अब मेहर की मोहे आन मिलो गुसाईं॥
बिरह सताए मोहे को और जी तड़पे है मेरा।
तुझ देखन की चाह लगी है प्रभु जी मिलो सवेरा॥
नैनाँ तरसे दरस को पलभर पलक न लागे।
दरद लिये दीदार का यह निसि बासर जागे॥

यह चाहता है प्रेमी भक्त। केवल यह नहीं कि वह प्रभु को प्यार करे, अपितु यह कि प्रभु जी उसको प्यार करे—

उल्फ़त[1] का तब मजा है दोनों हों बेकरार।
दोनों तरफ हो आग बराबर लगी हुई॥

कुछ लोग कहेंगे यह कैसे सम्भव है ? भगवान् भला क्यों बेचैन होंगे ? परन्तु सुनो ! जब सच्चा भक्त सच्चे प्रेम के साथ अपने प्रीतम को पुकारता है तो वह प्रीतम पत्थर नही है; उसपर भी प्रभाव होता है—

तलबे-आशिके-सादिक[2] में असर होता है।
गो[3] जरा देर में होता है मगर होता है॥

और वेद भगवान् ने वायु, आकाश, अग्नि से जिस पागलपन को माँगने का उपदेश दिया उसे प्राप्त करनेवाले ही उसके आनन्द को जानते हैं, दूसरे उसे समझ नहीं पाते। समझाने से भी वे समझ नहीं सकते—

चलो अच्छा हुआ काम आ गई दीवानगी अपनी।
वगरना हम जमाने भर को समझाने कहाँ जाते ?

यह प्रेम, यह मस्ती, प्रभु-प्रेम का यह पागलपन जागता है, तो संसार में सर्वत्र प्रीतम-ही-प्रीतम दिखाई देता है। जल में, थल मे, सागर की लहरों में, पहाड़ों की चोटियों पर, सुनसान मरुस्थलों में, घने जंगलों

---

१. प्रेम। २. सच्चे प्रेमी की चाहत। ३. यद्यपि।

में, सूर्य और चन्द्रमा में, तारों और सितारो में, प्रत्येक वस्तु में ऐसा प्रतीत होता है मानो एक नई सुन्दरता जाग उठी है—

यह किसको देखकर देखा है मैंने बज़्मे-हस्ती[1] को।
जो शै[2] है इस ख़ुदाई[3] में हसीं[4] मालूम होती है।।

परन्तु देखिये, मैं बार-बार प्रेम की चर्चा करता हूँ तो उसे संसार के उस प्यार से मत मिलाइये जिसमें ग्रस्त होनेवाले गाते फिरते हैं—

मेरे मन की गंगा और तेरे मन की जमना का,
बोल राधा बोल संगम होगा कि नहीं।।

नही मेरे भाई ! इस झूठे प्यार की बात मैं नहीं कहता। यह तो भगवान् को भूले हुए का प्यार है— उन वस्तुओं का प्यार जो आज हैं कल रहेंगी नहीं। ऐसा प्यार तो लोग धन-सम्पत्ति, शक्ति और शासन से भी कर सकते है, करते है और बाद में देखते हैं कि इनमें न शान्ति है न आनन्द। जो नाशवान् है उससे सम्बन्ध जोड़कर होगा भी क्या ?

किससे पैमाने-वफ़ा बाँध रही है बुलबुल ?
कल न पहचान सकेगी गुले-तर की सूरत।।

संसार के फूल आज हैं तो कल मुरझायेंगे अवश्य। इनका रंग-रूप पहचाना भी नहीं जायेगा; क्योंकि यह रंग-रूप कुछ दिन का है, सदा रहनेवाला है नही। महात्मा बुद्ध के जीवन में एक घटना आती है। स्थान-स्थान पर अपने धर्म का प्रचार करते हुए वे एक राज्य में पहुँचे तो राज्य के लोगों ने उनका स्वागत किया परन्तु महाराज उन्हें मिलने नहीं आये। महात्मा बुद्ध ने किसी से पूछा—"महाराज कहाँ हैं ?" उसने बताया—"वे बहुत दु:खी है महात्मन् ! उनकी नवयुवती धर्म-पत्नी मर गई है, उसी को स्मरण करते रहते हैं और स्मरण करके रोते रहते हैं।" बुद्ध ने कहा—"चलो, मै उनके पास चलता हूँ।" महल में पहुँचे। पता लगा कि महाराज उद्यान में हैं। उद्यान (बाग) में गये। राजा साहब को उन्होंने समझाया कि मरनेवाले वापस नही आते, उनके लिए रोना बेकार है। परन्तु महाराज को यह बात समझ नहीं आई; बोले—"आप महात्मा हैं, योगी हैं। मैं जानता हूँ मरनेवाले

---

१. ससार रूपी सभा। २. वस्तु। ३. सृष्टि। ४. सुन्दर।

वापस नहीं आते परन्तु आत्मा तो विद्यमान रहती है। आप अपने योगबल से बतायें कि वह किस रूप में है ? यदि मैं उसे देख पाऊँ और वह मुझे देख पाये तो जिस रूप में भी हो वह मुझसे प्यार करेगी, मैं उससे प्यार करूँगा, मुझे शान्ति मिल जायेगी।" महात्मा बुद्ध ने देखा कि महाराज किसी दूसरे उपाय से मानेंगे नहीं। किंवदन्ती है कि उन्होंने ध्यान लगाकर देखा। आँखें खोलकर एक पौधे के पास गये। उसके नीचे मिट्टी में लथपथ दो कीड़े रेंग रहे थे। एक आगे जा रहा था, दूसरा उसका पीछा कर रहा था। महात्मा बुद्ध ने कहा—"राजन्! यह जो पिछला कीड़ा है यही तुम्हारी रानी है।" महाराज ने चौंककर कहा—"यह ?" बुद्ध बोले, "तुम्हे विश्वास नहीं होता तो इससे पूछकर देखो। मै अपने योग-बल से इसको तुम्हारी बात समझने और इसका उत्तर देने की शक्ति देता हूँ।" राजा ने पिछले कीड़े को देखते हुए कहा—"क्या तुम ही मेरी रानी हो ?" कीड़े ने उत्तर दिया—"थी कभी, परन्तु अब मेरा-तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? आगे से हटो। वह सामने मेरा पति मुझसे रूठकर भागा जाता है। मुझे उसे मनाना है। मेरा मार्ग मत रोको, मै बर्बाद हो जाऊँगी।" राजा ने उस घिनौने कीड़े को देखा तो उसकी आँखें खुल गईं। उसका दुःख दूर हो गया।

हो सकता है यह कहानी केवल समझाने के लिए रची गई हो, परन्तु संसार के प्रत्येक रूप की वास्तविकता यही है। कुछ देर वह रहता है, तब आत्मा के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। मैं यह नहीं कहता कि संसार में रहते हुए पत्नी से, बच्चो से, मित्रों, साथियो और रिश्तेदारों से घृणा करना आरम्भ कर दीजिये। नहीं, ऐसा करना ग़लत है। उनके सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिये परन्तु इनके मोह मे फँस न जाइये—

दिलनशीं दहर[1] के नक्शों को न होने दीजे।
इस ख़याबाँ[2] से गुज़र जाइये दरया[3] होकर।।

अपना कर्त्तव्य पूरा कीजिये और आगे बढते जाइये। प्रेम करना है तो 'उससे' कीजिये जो सदा रहता है, जो, आपका जन्म-जन्म का

१. जमाना। २ गुलशन, उद्यान। ३. नदी की भाँति निर्लिप्त।

साथी है, जिसका वियोग अत्यधिक दुःख का कारण है और जिसके दर्शन से बढ़कर कोई सुख नहीं। लक्ष्य तो वही है। ये ससारी दृश्य तो केवल मार्ग के दृश्य हैं। इनमें खो गए तो लक्ष्य कभी मिलेगा नहीं—

जहाँ से न राहे-अकामत को बाँध।
ये मञ्जिल नहीं, बेख़बर ! राह है॥

मार्ग को मजिल समझकर बैठ गया तो भटक जायेगा। अन्धकार बढ़ता जायेगा, दुःख बढ़ता जायेगा। लौ लगानी है तो उससे लगा जिससे अधिक सुन्दर, अधिक आकर्षक कुछ भी नही। प्रभु का प्रेमी बनकर ऋग्वेद के पवित्र शब्दों मे पूछ—

उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥१॥

—ऋ० ७।८६।२॥

कब वह घड़ी आयेगी जब इस शरीर से मैं उसके साथ बातें करूँगा ? कब मैं उस परम प्यारे के हृदय में बैठ सकूँगा जैसे पति के हृदय में पत्नी रहती है ? कब वह मेरा प्रीतम प्रसन्न होकर मेरे प्यार-भरे गीतो की भेट स्वीकार करेगा ? कब मैं अपने शुद्ध मन से उस आनन्दस्वरूप परमदयालु, परमसुन्दर परमेश्वर से बातचीत करूँगा ?

हाँ, प्रभु के साथ बातचीत भी होती है। कैसे होती है, यह आगे चलकर बताऊँगा।

ऋग्वेद का एक और मन्त्र है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ —ऋ० ८।४४।२३॥

यह है प्रेम की पराकष्ठा—

मन तू शुदम तू मन शुदी मन तन शुदम तू जाँ शुदी।
ताकस न गोयद बाद अजईं मन दीगरं तू दीगरी॥

भक्त कहता है—हे प्रभो ! यदि मैं तुम हो जाऊँ और तू मैं बन जाय तो इस संसार में मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो जायँ।

दोनों में भेद ही न रहे, यह प्रेमी भक्त की अभिलाषा है। अपने प्रीतम के रंग में वह इस प्रकार रंगा जाना चाहता है कि 'मै और तू' का अन्तर ही समाप्त हो जाय।

इससे आगे ऋग्वेद के दो और मन्त्र है, उन्हें भी सुनिये और देखिये कि भक्त और भगवान् किस प्रकार बातचीत करते है—

यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः ।
सहसः सूनवाहुत ।
न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया ।।

—ऋ० ८ । १९ । २५, २६ ।।

हे मेरे प्यारे, मेरे सुन्दर, मेरे रगीले-रसीले, अग्निस्वरूप, ज्योति-स्वरूप चमकते हुए प्रीतम ! मेरे मनमोहन ! तू अपने मित्रों की महिमा को बढ़ानेवाला है ।

और वस्तुतः जो भगवान् का भक्त है, भगवान् को जिसने अपना मित्र बना लिया है उसका सामुख्य कौन कर सकता है ?

शास इत्था महाँ अस्य मित्र खादो अद्भुतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ।।

—ऋ० १० । १५२ । १ ।।

महान् शासक है वह परमात्मा । उसकी शत्रु-विनाशक शक्ति आश्चर्यजनक है । उसका प्यारा कभी मरता नहीं और जो उससे मुँह मोड़ लेता है वह कभी बचता नहीं ।

वस्तुत. वह 'मित्रमहः' अपने मित्र की महिमा को बढानेवाला है। उससे भक्त कहता है, हे प्रभो ! तू तो अपने मित्र की महिमा बढ़ाता है । तेरी कृपा से यदि तू मनुष्य बन जाय और मैं परमात्मा बन जाऊँ ।

देखिये, प्रेम की मस्ती में भक्त कहाँ पहुँच गया है ! कैसी बात अपने प्रीतम से कहता है ! अब वह केवल भक्त बनकर, प्रेमी बनकर रहना नही चाहता । प्रेम इस सीमा तक पहुँच गया है कि अब उसे प्रेमी और प्रीतम का अन्तर दिखाई नही देता । वह प्रीतम को प्रेमी बनाना चाहता है और स्वयं प्रीतम बनना चाहता है और कहता है—सुन मेरे प्यारे ! यदि ऐसा हो जाय तो···

और दूसरे मन्त्र मे वह कहता है कि फिर क्या होगा ?

बहुत प्रेम से वह परमात्मा को बताता है कि ऐसा हो जाय तो मैं कभी किसी भी समय तुझे दु.ख, कष्ट-क्लेश होने नही दूँगा। हे सबको

बसानेवाले और सबके हृदय में बसनेवाले ! तू मेरा भक्त बनेगा तो मै तुझे पाप में नही फँसने दूँगा, तेरी दुर्गति नही होने दूँगा, तुझे दुर्बुद्धि नही होने दूँगा ।

ये भक्त महोदय विश्वास दिला रहे है अपने परमात्मा को ।

और वास्तव मे कह रहे हैं यह कि श्रीमन् ! अभी तो आप ही परमात्मा हो, मैं हूँ केवल आत्मा, केवल एक प्रेमी भक्त । फिर तुम्हारे होते मेरे लिए कष्ट-क्लेश क्यों ? पाप क्यो ? दुर्गति और दुर्मति क्यों ? तुम हो सब शक्तियों के स्वामी ! मैं तुम्हारे लिए यह सब-कुछ करना चाहता हूँ । तुम क्या मेरे लिए यह सब-कुछ नही कर सकते ?

लोग कहते हैं कि वेद के मन्त्र शुष्क है । बताइये, ऐसी रसीली, प्यारभरी और मस्तीभरी कविता भी आपने कही देखी है ?

भक्त अपने भगवान् से ऐसी धृष्टतापूर्ण बात क्यों कहता है ? इसलिए कि उसे ज्ञात हो कि प्रेम की पराकाष्ठा हो जाय तो सब-कुछ उचित हो जाता है—

दिल की बस्ती अजीब बस्ती है ।
लूटने वाले को तरसती है ।।

ये जो मन्त्र मैने आपके सामने रक्खे उनका यह भी तात्पर्य है कि प्रेम की पराकाष्ठा हो जाय तो प्रेमी और प्रीतम में, भक्त और भगवान् में कोई अन्तर रहता नहीं । प्रेम की तग गली में दो चल नहीं सकते, एक ही रह जाता है—

जब मैं थी तब हरि नहीं, अब हरि है मै नाहिं ।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ।।

और उर्दू के एक कवि ने भी कहा—

उल्फ़त की तंग राह में दो का गुजर नहीं । (प्रेम)
इकजान होके चलते हैं, 'तू-मै' को छोड़कर ।।

यह है वह प्रेम जो भक्त को भगवान् तक ले-जाता है । प्रेमी बन !

परन्तु अभी एक बात और है—सच्चा सेवक बन !

मोह-ममता को छोड दिया, सच्चे विचारों को उत्पन्न कर लिया, तुच्छ स्वार्थ छोड़ दिया, प्रेम-भक्ति के मार्ग को अपना लिया, यह सब-

कुछ करने के पश्चात् भी यदि सच्चा सेवक नहीं बना तो सब-कुछ बेकार (व्यर्थ) है।

परन्तु कार-बेकार की बात अब कल होगी। सवा नौ तो बज गए।

ओम् तत् सत् !

सोलहवाँ दिन

[यह उस कथा का सोलहवाँ और अन्तिम दिन है जो पूज्य श्री आनन्द स्वामीजी महाराज ने नवम्बर १९६२ में आर्यसमाज हनुमान रोड, नई दिल्ली और आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली के वार्षिकोत्सवों पर की। एक ही विषय पर आर्यसमाज हनुमान रोड के उत्सव में वे नौ दिन तक भाषण देते रहे, इसके पश्चात् सात दिन आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग के उत्सव में। आज उनकी इस कथा का अन्तिम दिन था। आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली का विशाल सभा-भवन खचाखच भरा था। बाहर के बरामदे में और उससे बाहर सर्दी होते हुए भी लोग खड़े थे। पूज्य स्वामीजी ने ऊँचे स्वर और लम्बी धुन में 'ओम्' का उच्चारण करने के पश्चात् कहा—]

मेरी प्यारी माताओ तथा सज्जनो !

मानवता के बिना मनुष्य वास्तव में मनुष्य नहीं, मात्र एक पशु है। आम न लगें तो आम और बबूल में अन्तर क्या है? सुगन्ध न हो तो इत्र और बिनौले के तेल मे भेद क्या है? पानी न हो तो नदी मरुभूमि है। वृक्ष न हों, फल न हों, फूल न हों तो उद्यान केवल एक जंगल[1] है। यही दशा मनुष्य की है। मानव में मानवता न हो तो उसे

---

१. वन, उद्यान और जगल मे यह अन्तर है कि वन तथा उद्यान मे वृक्षों का होना अनिवार्य है; जंगल में वृक्षो का होना गौण है, निर्जनता मुख्य है। कोई भी निर्जन स्थान जंगल हो सकता है—कोई भी निर्जन स्थान तबतक वन नही होता, जबतक कि उसमें वृक्ष न हों। हर वन जगल हो सकता है, हर जगल वन नही हो सकता। इसीलिए वृक्षो और फल-फूल के बिना उद्यान जगल ही होगा। —सम्पादक

मानव कहना व्यर्थ है। अपनी इस कथा के क्रम मे मैने आपको बताया कि मानवता क्या है। मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य कहलाने का अधिकारी कब होता है ? मनुष्य किस प्रकार मनुष्य बनता है ? इतने दिनों से मैं यह कथा कर रहा हूँ, इतने दिनों से इस बात को पूर्णरूपेण स्पष्ट करके आपके सामने रखने का प्रयत्न कर रहा हूँ तो क्यों ? इसलिए कि आज ससार को सच्ची मानवता की आवश्यकता है। आज अवस्था यह है—

ख़ुदा तो मिलता है इन्सान नहीं मिलता।
ये चीज वो है जो देखी कहीं-कहीं मैने ।।

और इस अवस्था का परिणाम यह है कि विज्ञान की इस महान् उन्नति के होते हुए भी ससार मे हर ओर अशान्ति है, हर ओर कोलाहल, हर ओर एक भय कि न जाने क्या होनेवाला है। जिस विज्ञान को मनुष्य ने इसलिए बनाया कि उससे सुख मिलेगा, वही उसके लिए विनाश और सहार का सबसे बडा भय बन जाता है। यह ऐटम बम, यह हाइड्रोजन बम, यह नेपाम बम, यह मिसाइल(Missile), यह रॉकेट किसी शुभ परिणाम के समारम्भ तो हैं नही। जब ये प्रयुक्त होगे, तब यह संसार कहाँ होगा ? मनुष्य कहाँ होगा ? यह कोई जानता नही। यह सब-कुछ यदि मानवता है तो सोचकर देखिये, पशुता और दानवता क्या है ?

कभी इकबाल ने कहा था—

दयारे-मग़रिब[1] के रहने वालो ! ख़ुदा की बस्ती दुकाँ नहीं है।
खरा जिसे तुम समझ रहे हो वो अब जरे[2]-कमइयार[3] होगा ।।
तुम्हारी तहजीब[4] अपने ख़ंजर से आप ही ख़ुदकुशी[5] करेगी।
जो शाखे-नाजुक[6] पे आशयाना[7] बनेगा नापायदार[8] होगा ।।

और आज वह बात ससार के समक्ष है। अमरीका रूस से भयभीत है और रूस अमरीका से भयभीत है। हर कोई, हर किसी से भयभीत हो रहा है। यदि यही उन्नति है तो अवनति किसे कहते है ? यही

---

१ पाश्चात्य देशवासी। २ धन, रुपया-पैसा। ३ खोटा। ४. सभ्यता। ५. आत्महत्या। ६ निर्बल टहनी। ७ घोंसला। ८. निर्बल, अस्थिर।

मनुष्यों का संसार है तो पशुओं का जंगल किसे कहते है ? परन्तु दूसरे देश ही क्यों, अपने इस देश को देखिये। क्या हो रहा है यहाँ ? स्वतन्त्रता मिल गई हमें। स्वतन्त्रता के पश्चात् बडे-बडे बाँध बनाये इस देश मे; नहरे बनाईं, कारखानों का निर्माण किया, सडके बनाईं, पुल बनाये। जो लोग कहते है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् इस देश में कुछ नहीं हुआ वे अपने-आपको भी धोखा देते है और दूसरों को भी। बहुत-कुछ हुआ है यहाँ, परन्तु सब-कुछ होने के पश्चात् भी यदि लोगो के मन में सुख नही, शान्ति नहीं; यदि साम्प्रदायिकता, भाषायी झगड़ों और प्रान्तीयता तथा तुच्छ स्वार्थ ने देश की एकता को खतरे मे डाल रक्खा है, यदि भ्रष्टाचार ने लोगों के लिए सकट उपस्थित कर दिया है तो क्यो ? इसलिए कि हमने बाँध बनाये, सड़के बनाईं, कारखाने, पुल और नगर बनाये परन्तु उस मनुष्य का निर्माण नही किया जिसे इन सबका प्रयोग करना था।

संसार की अशान्ति का कारण है मानव में मानवता की कमी। हमारे देश की अशान्ति का कारण भी यही है। इसलिए मैंने सोचा कि मैं आपके समक्ष मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना रखूँ। यह छोटा-सा प्राणी जिसे हम मनुष्य कहते हैं, एक दृष्टिकोण से देखिये तो इतना महान् है कि ईश्वर के अतिरिक्त इससे अधिक महान् कुछ भी नही; दूसरे दृष्टिकोण से देखिये तो यह केवल एक मुट्ठीभर ख़ाक है और बस—

यूँ अगर देखिये तो क्या कुछ नहीं यह मुश्ते-गुबार ?

यह पर्वतों के सीने चीर देता है, नदियों के बहाव को बदल देता है, समुद्रों के सीने पर जहाज चलाता है, वायु में पक्षियों की भाँति उड़ता है, चाँद और मंगल तक रॉकेट भेज देता है। यह शासन चलाता है, साम्राज्यो का निर्माण करता है और साम्राज्यों को नष्ट-भ्रष्ट करके रख देता है—

यूँ अगर देखिये तो क्या कुछ नहीं यह मुश्ते-गुबार ?
और अगर सोचिये तो ख़ाक भी इन्साँ में नहीं॥

परन्तु यह मुश्ते-गुबार (मुट्ठीभर राख) ही वह मन्दिर है, जिसमें आत्मा का निवास है और जिसमें उस परम प्यारे प्रभु के दर्शन होते है,

और जिसमें ज्योति से भरपूर स्वर्ग है। यह एक मुट्ठीभर राख है अवश्य, परन्तु केवल उस समय जब आत्मा इससे बाहर चला जाय। जबतक यह आत्मा इसमें विद्यमान है, तबतक यह देवताओ की पुरी है, आठ चक्रो और नौ द्वारोवाली अयोध्या है। इसलिए मैंने कहा कि जिसे हम मनुष्य कहते है उसके दो भाग हैं—शरीर और आत्मा। शरीर की रक्षा कैसे करनी चाहिए, यह मैंने आपको बताया। परन्तु यह रक्षा इसीलिए होनी चाहिए कि आत्मा इसके अन्दर रहता है। परन्तु केवल शरीर की रक्षा करने से आत्मा की रक्षा नही होती। आत्मा की रक्षा कैसे होती है ? उसे वह लक्ष्य कैसे प्राप्त होता है जिसके लिए वह इस शरीर के भीतर और इस ससार में आया ? यह मैंने अपनी कथा के दूसरे भाग मे बताया। इस भाग में मैं आपको बता रहा था कि अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश से आगे बढकर पहले आत्मा के और फिर आत्मा के द्वारा परमात्मा के दर्शन कैसे होते है। इस दर्शन के पश्चात् जो आनन्द मिलता है उससे बड़ा आनन्द कोई है नहीं। इतना महान् आनन्द है वह, इतनी महान् शक्ति मिलती है उससे, इतना विस्तृत ज्ञान मिलता है उससे कि संसार की कोई भी भाषा उसका वर्णन नहीं कर सकती। तुलसीदासजी सीताजी का वर्णन करने लगे तो हारकर बोले—कैसे करूँ इस सौन्दर्य का वर्णन—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी[1]

जिह्वा तो बोल सकती है पर उसके आँखे नही है और आँखें देख सकती है पर वे बोलती नही। जो बोलता है वह देखता नही, जो देखता है वह बोलता नही, फिर वर्णन कैसे करूँ ? यही अवस्था उस आनन्द के सम्बन्ध मे भी है। उस परम-आनन्द को प्राप्त करने के पश्चात् ही मनुष्य वस्तुत: मनुष्य बनता है। इसलिए मैं आपको बता रहा था कि अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश से

---

१. 'रामचरितमानस' मे इस चौपाई—अर्द्धाली का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने राम और लक्ष्मण का रूप-वर्णन (एक सखी द्वारा सीता जी के समक्ष) करते समय किया है।

—सम्पादक

आगे उस प्रभु प्रीतम का दर्शन करने की विधि क्या है।

इस क्रम में मैंने कहा—सबसे पूर्व मोह-ममता को त्यागो।

फिर उत्तम विचारों को उत्पन्न करो।

तब तुच्छ स्वार्थ को छोड़ दो।

अभिमान को तर्क[1] करो।

और तब प्रेमी बनो। जिसे पाना चाहते हो उसके लिए ऐसा प्यार मन में उत्पन्न करो कि ससार का प्रत्येक पदार्थ, हर वस्तु उसके समक्ष तुच्छ प्रतीत होने लगे।

विचार की बात मै बार-बार कहता हूँ क्योंकि प्रत्येक बात का प्रारम्भ विचार से होता है। उपनिषद् कहता है—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति।

जैसा कोई मनुष्य सोचता है, जैसे वह कर्म करता है, वैसा ही वह हो जाता है। और वेद कहता है—

कृतं लोके पुरुषोऽभिजायते।

मनुष्य अपने द्वारा निर्मित ससार में उत्पन्न होता है।

कुछ लोग कहेंगे—आर्यसमाज की वेदी पर तू यह कैसी बात करता है आनन्द स्वामी! हम तो मानते है कि ससार को ईश्वर ने बनाया है और तू कहता है कि मनुष्य अपने बनाये ससार में उत्पन्न होता है? परन्तु आपको ठीक ज्ञान हो या गलत, सचाई यही है कि यह संसार ईश्वर की शक्ति से बनता है अवश्य, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसा बनता है जैसा वह चाहता है, जैसा ससार के लिए उसने कर्म किया है। क्या आप नहीं देखते कि एक ही ससार में कोई व्यक्ति सुखी है, कोई दु खी, कोई धनिक है और कोई निर्धन, कोई बलवान् है और कोई निर्बल, कोई स्वस्थ है और कोई रोगी, कोई बडा है और कोई छोटा? यह क्यों होता है? इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ससार पृथक् हो जाता है। जैसे कर्म किए है, वैसा ही संसार मिलता है। जैसी ऐनक उसने पहन रक्खी है वैसा ही ससार उसे दृष्टिगोचर होता है। चश्मा नीला है तो

---

१. तर्क (अरबी)=त्याग, परित्याग, किनाराकशी।

संसार भी नीला है, चश्मा पीला है तो संसार भी पीला है, हरा है तो संसार भी हरा है, लाल है तो संसार भी लाल है। प्रत्येक व्यक्ति अपने बनाये हुए ससार में जन्म लेता है। प्रत्येक व्यक्ति के संसार का आधार हैं उसके कर्म, प्रत्येक व्यक्ति के कर्म का आधार हैं उसके विचार। इसलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि विचार की शक्ति महान् है; इससे ससार बन भी सकता है, बिगड भी सकता है। जो उदाहरण पहले दे चुका उन्हे दोहराने की आवश्यकता नहीं, परन्तु प्रार्थना करता हूँ कि यदि मनुष्य बनना है और मनुष्यता के लक्ष्य तक पहुँचना है तो अपने विचारों को ठीक और पवित्र रक्खो।

भगवान् का प्रेमी बनने की बात कल कह रहा था। इस प्रेम का दूसरा नाम है 'प्रेमाभक्ति'। यह भक्ति जागती है तो आत्मा में ऐसी ज्योति जगा देती है जैसी किसी साधना से नहीं जागती।

अपने बचपन की एक बात सुनाता हूँ आपको।

मैं ग्यारह या बारह वर्ष का था। हमारे घर में एक पुरोहित पंडित लद्धाराम जी आया करते थे। कितनी ही कहानियाँ वे सुनाते थे। शेष तो भूल गई, एक कहानी स्मरण है जो उन्होंने एक बार सुनाई। यह कहानी महर्षि वेदव्यास के सम्बन्ध में थी। महर्षि वेदव्यास वेदांग और महाभारत लिखने के पश्चात् एक दिन अकेले बैठे थे और आप-ही-आप कह रहे थे—'इतना कुछ किया है मैंने। आरम्भ से अपने जीवन को पवित्र रखा है, फिर भी सन्तोष तो मुझे मिला नही। वह शान्ति नही मिली जिसे मैं खोजता फिरता हूँ। कौन-सी त्रुटि रह गई है मुझमें? कौन-सी गलती की है मैंने?'

इस प्रकार वे बोल रहे थे तो नारद ऋषि वहाँ घूमते-घूमते आ पहुँचे। महर्षि वेदव्यास ने उन्हें देखकर प्रणाम किया और जब नारद जी ने पूछा—"सुनाओ वेदव्यास! क्या समाचार है?" तो महर्षि बोले—"नारद जी! मेरे मन मे शान्ति नही। मैंने इतने ग्रन्थों का भाष्य कर डाला, इतने पुराण लिख दिये, कितने ही प्रयत्न किये हैं मैंने, परन्तु कही भी मेरे मन को सन्तोप नहीं मिला। वह शान्ति नहीं मिली, जिसके बिना सब-कुछ व्यर्थ है। आप नगर-नगर, देश-देश में घूमते है, आप बताइये कि मैं क्या करूँ? मेरी इस अशान्ति का कारण

क्या है ?"

नारद जी बोले—"तुमने बहुत प्रयत्न कर लिये वेदव्यास ! बहुत-कुछ किया है तुमने, परन्तु एक कमी रह गई तुममें।"

व्यास जी ने पूछा—"कौन-सी कमी रह गई महाराज ?"

नारद बोले—"तुमने प्रभु की कृपा प्राप्त नही की। यह तब प्राप्त होती है जब मनुष्य के हृदय में प्रभु के लिए अत्यधिक प्यार जाग उठे, जब वह अपने-आपको प्रभु को समर्पित कर दे, अपने-आपको उसपर चढ़ा दे।"

यह कहानी आज भी मुझे बार-बार स्मरण आती है।

'योग दर्शन' ने इस प्रभु-प्रेम को 'ईश्वर प्रणिधान' कहा है, अर्थात् अपने-आपको प्रभु के अर्पण कर देना। वेद ने ऐसी भक्ति को 'दाशुष' कहा है; अर्थात् ऐसी भक्ति जिसमें अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना-आपा भी प्रभु के चरणों में भेंट कर दिया जाय।

परन्तु अपने-आपको भेंट करने का तात्पर्य क्या है ?

जो परमेश्वर प्रतिक्षण करोड़ो-अरबों नये शरीर बनाता है, जिसकी शक्ति से अरबों सूर्यमण्डलों पर आधारित खरबों ब्रह्माण्ड बनते हैं, समाप्त होते है और फिर बनते है, उसे निश्चितरूपेण आपके शरीर की अथवा आपके सिर की आवश्यकता है नही। उसे भेंट देने का तात्पर्य यह नही कि आप अपना सिर काटकर उसे दे दीजिये अथवा अपनी जिह्वा काट दीजिये या अपनी आँखें निकाल दीजिये—ये तो अज्ञान की बातें है।

भगवान् को भेंट देनी है तो उस वस्तु की दो जो आपको सबसे अधिक प्रिय है। और यह वस्तु है—आपका अपना-आपा; यह शरीर नहीं, आँखें और भुजाएँ नहीं, ये तो बार-बार मिलते है। आप इनके साथ न हों तो इनका एक कौडी का मूल्य नहीं। अपने-आपको भेंट कर दो भगवान् के चरणों में ! इस प्रकार उससे प्रेम करो कि अपने अस्तित्व का ध्यान ही न रहे—

तेरा जमाल[1] है, तेरा ख़याल है, तू है।
मुझे यह फिक्रे-काविश[2] कहाँ कि क्या हूँ मैं ।।

---

१. छवि। २. जिज्ञासा।

यह है अपने को भेट करनेवाले की अवस्था—

यही है जिन्दगी अपनी, यही है बन्दगी अपनी।
कि उनका नाम आया और गर्दन झुक गई अपनी॥

परन्तु यह ससार है न ! कुछ लोग परम प्यारे परमेश्वर से भी रूठे रहते है जो सबका भला चाहता है। एक भाई मुझे मिले, बोले— "स्वामीजी ! यह आप क्या प्रभु-प्रेम और ईश्वर-प्रेम की बात कहते फिरते हो ? ईश्वर ने हमारे लिए किया क्या है ? ये चौरासी लाख योनियाँ बना दी है, इन्ही के चक्कर मे आत्मा फँसा रहता है। ऐसे ईश्वर को स्मरण क्या करना ?" अब देखो भाई ! ये चौरासी लाख योनियाँ है या साढ़े तिरासी लाख या पचासी लाख, मैने तो इनकी गिनती की नही; परन्तु सोचकर देखो कि ये है क्या ? ये कैदखाने (कारागार) नहीं है, ये अस्पताल (आसुपाल, सुखालय) है, मेरे भाई ! प्रत्येक आतुरालय मे एक रोग की चिकित्सा होती है। आत्मा हो जाता है रोगी। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार और इसी प्रकार की अन्य बीमारियाँ उसे चिमट जाती है—कहीं बहुत खाने की, कही कानों का दास बनने की, कही नाक की, कही आँखों की, कही दूसरी वस्तुओं की। ये नाना प्रकार के रोग मैल बनकर आत्मा को चिमट जाते हैं, आत्मा की जगमगाती ज्योति ढक जाती है। तब ईश्वर क्या करता है ? वह परम ममता से भरपूर माँ रोगी बच्चे को एक सुखालय में प्रविष्ट करती है कि यहाँ अमुक बीमारी दूर होगी। तब दूसरे अस्पताल में, तीसरे में, चौथे मे, पाँचवे, छठे, सातवें—कितने ही आसुपालों मे। इसलिए नही कि वह अपने बच्चे को दण्ड देना चाहती है, अपितु इसलिए कि बच्चे को स्वस्थ बनाना चाहती है। हो गई बीमारी। माँ ने कहा— "चल सूअर के अस्पताल मे, चल बन्दर के अस्पताल में, साँप के अस्पताल मे, गधे के अस्पताल मे।" ऐसे कितने ही अस्पताल हैं उसके पास। और यह ममताभरी माँ देखती है कि बीमारियाँ कुछ दूर हो गईं। अब बच्चे को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की आज्ञा देकर देखना चाहिए कि वह कितना सँभला, कितना सुधरा है। तब मनुष्य का रूप देती है। इसे 'जनरल वार्ड' में भेज देती है जहाँ अन्य चिकित्सा-लयों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है।

अब इस स्वतन्त्रता का आप ठीक प्रयोग न करें, शक्ति प्राप्त करने के स्थान पर नई बीमारियाँ मोल ले लें तो माँ क्या करे? वह ममता की मारी फिर कहती है—चल अमुक चिकित्सालय में, चल अमुक आतुरालय में।

अब देखो न, स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् हमने इस देश में क्या किया? रिश्वतखोरी (उत्कोच) बढ़ गई है, भ्रष्टाचार बढ़ गया है, दुराचार-अनाचार बढ़ गया है, मद्यपान और मांस-भक्षण बढ़ गया है, आपाधापी बढ गई है, तुच्छ स्वार्थ बढ गया है। इसका परिणाम उत्तम होनेवाला तो है नही। इस परिणाम के लिए उन शहीदो को बुरा-भला कहो जिन्होंने यह स्वतन्त्रता प्राप्त की, तो यह बुद्धिमत्ता की बात कैसे हो सकती है? दोष अपना, अपराध दूसरों पर—यह न्याय कैसा है?

ईश्वर भी किसी का शत्रु नहीं। वह तो प्रेम का असीम सागर है। जैसा कर्म तुम करते हो, वैसा फल देता है। तुम बहुत बीमार हो जाओ तो कर्म करने की स्वतन्त्रता छीनकर चिकित्सालय में भेज देता है।

रोग के दूर या कम होने पर फिर कर्म करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर देता है। इस स्वतन्त्रता को आप स्वयं ही ठीक रूप में प्रयोग न करें, ऊपर उठने की बजाय नीचे गिरने लगें तो इसमें उस ममताभरी माँ का, उस प्यारभरे मित्र का क्या अपराध है?

इस विचार को हृदय से निकाल दो कि परमेश्वर किसी से भी अन्याय करता है। ईश्वर के यहाँ केवल न्याय है, केवल प्रेम है, अन्याय और घृणा का वहाँ नाम तक नहीं।

इस रूप में ईश्वर को देखकर प्रेम करो, इस प्रकार जैसे सूरदासजी ने किया। गोपियों को बहाना बनाकर इस प्रकार वे भगवान् के लिए रोये कि आज भी उनके शब्द पढ़कर आँखे अश्रुओं से पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार प्रेम करो जैसे भवभूति ने किया, सीता को बहाना बनाकर। इस प्रकार कालिदास ने विरह का वर्णन किया कि आज भी हृदय रो उठता है। इस प्रकार उनकी आँखों से आँसू बहे कि आज भी 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को पढनेवाला रो उठता है। इस प्रकार प्रेम करो जैसे मीरा ने किया, जो बचपन से ही अपने गिरधर गोपाल

के लिए पागल हो उठी—

मीरा के तो गिरधर नागर दूसरा न कोई रे।
सन्तन के ढिग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई रे।।
अब तो बात फैल गई होनी हो सो होई रे।
मीरा के तो गिरधर नागर……

और फिर इस प्रकार प्रेम करो जैसे मूलशंकर ने किया। मैं गया था टकारा। वहाँ वह छोटा-सा मन्दिर देखा, जहाँ बालक मूलशंकर के मन में सच्चे शिव को देखने की इच्छा जागृत हुई। वे गलियाँ देखी जिनमें वह बालक घूमता था। वह मकान देखा जहाँ उस परम पुण्य बालक का जन्म हुआ।

मेरे लिए वे सब तीर्थ की भाँति हैं। मेरे गुरु का सम्बन्ध उनसे है। परन्तु इस मूलशकर ने क्या किया? एक इच्छा जाग उठी कि सच्चे शिव का दर्शन करूँगा। इतनी तीव्र थी यह इच्छा कि अन्य सब बातें भूल गई। माता-पिता ने बच्चे की यह अवस्था देखी तो गुरु के पास भेज दिया। गुरुजी ने बालक मूलशंकर को यजुर्वेद पढाया, उसके मन्त्र कण्ठस्थ कराये। परन्तु मूलशकर की रट केवल एक थी—"सच्चे शिव का दर्शन कैसे होगा गुरुजी?"

गुरुजी ने कहा—"तू अभी बच्चा है मूलशंकर! सच्चे शिव का दर्शन पाने के लिए बहुत तप करना पडता है।"

मूलशंकर बोले—"मैं तप करूँगा गुरुजी!"

गुरु ने कहा—"इसके लिए कठोर ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करना पड़ता है।"

मूलशंकर बोले—"मै प्रत्येक व्रत लूँगा महाराज!"

गुरु ने कहा—"इसके लिए योगाभ्यास करना पड़ता है।"

मूलशकर ने उत्तर दिया—"मैं करूँगा योगाभ्यास।"

गुरु ने जब देखा कि मूलशंकर इस धुन को किसी प्रकार छोड़ता नही तो उसके पिताजी को सदेश भेजा, "इसका कोई प्रबन्ध करो, यह मेरे वश का रोग नहीं।"

पिताजी ने प्रबन्ध करने का निर्णय किया यह कि मूलशंकर की शादी कर दी जाय।

शादी को संस्कृत में विवाह कहते है और आपको पता है कि विवाह का अर्थ क्या है ? सस्कृत भाषा मे विवाह का अर्थ है—'विशेष बोझ'। सो भाई ! यह विशेष प्रकार का बोझ, बहुत वजनी प्रकार का बोझ है। उठाते रहो सारी आयु। मूलशंकर के पिताजी ने भी यही निर्णय किया कि यह बोझ मूलशकर के कन्धों पर पड़ेगा तो वह स्वय ही इसके नीचे दब जायेगा। तैयारियाँ होने लगी। बाजे बजे, गीत गाये गये और एक रात जब गीत गानेवाले थककर सो गये तो मूलशंकर ने सोचा—'अब समय है, अब मै भाग सकता हूँ।'

भागे वे अपने घर से। पहुँचे नर्मदा नदी के तट पर। एक-एक साधु, एक-एक महात्मा से पूछते फिरे—"सच्चे शिव का दर्शन कैसे होगा ?"

बतानेवालो ने कहा—"मार्ग बहुत कठिन है।"

मूलशकर बोले—"मैं चलूँगा इसपर।"

बतानेवाले ने कहा—"ये रेशमी वस्त्र और ये आभूषण उतारने होगे।"

मूलशंकर ने वस्त्र उतार दिये, आभूषण उतार दिये ; बोले—"मुझे सच्चे शिव का दर्शन चाहिए।"

बतानेवालो ने कहा—"इसके लिए संन्यास लेना होगा।"

मूलशंकर ने कहा—"मै लेता हूँ संन्यास। मुझे शिव के दर्शन करा दो !"

और जब नर्मदा पर मन की अभिलाषा पूरी नहीं हुई तो वे हिमालय पर पहुँचे, उस अलखनन्दा नदी पर जिसमें तीक्ष्ण, पैने छुरे की भाँति काटनेवाले बर्फ के टुकड़े दौडते जाते थे। लहूलुहान हो गये पाँव। परन्तु दयानन्द स्थान-स्थान पर अपने शिव को खोजते फिरे। प्रत्येक योगी के पास गये , प्रत्येक योगी से प्रार्थना की—"मुझे सच्चे शिव के दर्शन कराओ !"

मै जब से सन्यासी बना तब से एक लगन है कि जगद्गुरु दयानन्द ने जिन-जिस स्थानों पर तप किया, उन्हे देखूँ। उत्तरकाशी मे एक बहुत वृद्ध साधु से मिला तो उन्होने बताया कि मुल्ला चट्टी से आगे बूढे केदार की ओर जायें तो वहाँ एक स्वामी गंगागिरि जी रहते हैं, जो महर्षि दयानन्द के साथी थे। वे जानते हैं कि महर्षि दयानन्द कहाँ

और कैसे तप करते रहे। मैं उत्तरकाशी से मुल्ला चट्टी गया, सत्रह मील ऊपर। वहाँ इतना घना जंगल है कि दिन के समय भी मार्ग दिखाई नही देता। ढाई-तीन घण्टे तक इस घनघोर जंगल में आगे बढ़ता गया। कहीं कोई मनुष्य दिखाई नही दिया। वे स्वामी गगागिरि भी दिखाई नही दिये, जिन्हे मै खोजता-फिरता था। तीन घण्टे पश्चात् एक साधु के दर्शन हुए। मैने उनसे पूछा—"इधर कही एक स्वामी गगागिरि रहते है, क्या आपको उनका पता ज्ञात है?"

वे बोले—"स्वामी गंगागिरि को किसलिए खोज रहे हो?" मैने उन्हे अपना उद्देश्य बताया तो वे बोले—"गगागिरि जी का शरीर छूट चुका है। वे मेरे गुरु थे। परन्तु स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने बताया वह मुझे अभी तक स्मरण है। आओ मेरे साथ, मेरी कुटिया में चलो।"

मैं उनके साथ गया तो उन्होंने बताया—"दयानन्द जब यहाँ थे तो केवल भोजपत्र की कोपीन पहनते थे, दूसरा कोई वस्त्र उनके पास नहीं था। इन पत्थरों को एकत्र कर अपना सिरहाना बना लेते थे, यही सो जाते थे और यह जो बड़ा पत्थर है यहीं बैठकर ध्यान लगाया करते थे।" मैंने कहा—"शेष बात फिर सुनूँगा, पहले मुझे भी इस पत्थर पर बैठकर भजन कर लेने दो।" मै वहाँ बैठा, आँखे बन्द की तो इस प्रकार ध्यान लगा कि आनन्द आ गया। जिस तीव्र इच्छा को लेकर महर्षि दयानन्द जिस पत्थर पर बैठे थे, जहाँ उन्होंने घोर तप किया था, उस स्थान का प्रभाव कुछ ऐसा था कि मुझे ध्यान लगाने में कुछ भी प्रयत्न नही करना पडा। काफ़ी देर के पश्चात् आँखें खोली तो देखा कि थोडी दूर पर कोई आठ-दस फ़ीट लम्बा एक शेर खड़ा है। सच यह है कि मैं उसे देखकर घबराया। अँधेरा हो रहा था, सुनसान-बियाबान जंगल और सामने वह सिंह! मेरा दिल धडकने लगा कि अब खैर नही। परली ओर देखा तो वह साधु महात्मा अपनी कुटिया के बाहर बैठे थे। मैंने उन्हे आवाज देकर कहा—"यह सिंह आ गया है।"

वे बोले—"घबराने की आवश्यकता नहीं। यह सिंह तुम्हे कुछ नहीं कहेगा।" परन्तु मै आधी आँख से उस सिंह की ओर देखता रहा।

वह मेरे पास से निकलकर उस साधु के पास चला गया। उसके शरीर के साथ अपना शरीर खुजलाने लगा। साधु ने उसकी पीठ खुजाई, उसके पाँव खुजाये, उसके सिर पर हाथ फेरा, उसे प्यार किया और शेर परे चला गया। उसी साधु ने बताया कि दयानन्द भी इसी प्रकार सिंहों के साथ खेलते थे।

इस प्रकार वह महापुरुष तप करते रहे ताकि सच्चे शिव के दर्शन हो जायँ।

और जब इस घोर तप के पश्चात् दर्शन हुए, जब गाँठें खुल गईं, भेद मिट गये, सन्देह और सशय समाप्त हो गये और एक-साथ चमकते खरबों सूर्यों की भाँति अनन्त एवं असीम ज्योति का समुद्र दयानन्द के समक्ष जाग उठा तो महर्षि ने अपने लिए कुछ नही माँगा। उस मुक्ति की भी इच्छा नही की जो हाथ बाँधे उनके समक्ष खडी थी। वे तो प्रभु के प्यार में निमग्न होकर प्रभु के उस ससार का कल्याण करने के लिए चल पड़े, जिसे प्रभु प्यार करते है।

इतना घोर तप, इतने कष्ट, इतना परिश्रम, सबको पार करके, अपने-आपको भुलाकर लोक-कल्याण के मार्ग पर चल पडे। फर्रुखाबाद मे ठहरे हुए थे स्वामीजी। उनके एक पुराने मित्र स्वामी कैलास-आश्रम उन्हे मिलने के लिए आये। कुटिया के बाहर से बोले—"दयानन्द! कहाँ हो तुम?"

दयानन्द हँसकर बोले—"मैं यहाँ हूँ, परन्तु तुम अन्दर मत आना। तुम हो कैलास, यह कुटिया है छोटी-सी, इसमें समाओगे कैसे? मै ही बाहर आता हूँ।"

स्वामीजी बाहर आये तो श्री कैलासाश्रम ने पूछा—"तुम किस झंझट मे पड़ गये हो दयानन्द! तुम सरलता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। उस सुख को छोडकर यहाँ क्यों भटक रहे हो?" दयानन्द ने कहा, "तुम ठीक कहते हो कैलास! मै मुक्ति प्राप्त कर सकता हूँ परन्तु मुझे मुक्ति चाहिए नहीं। मै इस ससार को कल्याण के मार्ग पर ले-जाना चाहता हूँ जिसका कण-कण भगवान् के प्यार को व्यक्त कर रहा है।"

और देखिये, इस बात को कहना जितना सरल है, करना उतना सरल नही। संसार में मुक्ति से बढकर कोई आनन्द नही, कोई सुख

नही। तीन प्रकार के भक्त होते है—एक वे जो सासारिक लाभ के लिए भक्ति करते है। भक्ति करते है और प्रार्थना करते है कि हमें संसार का यह सुख दो, वह सुख दो। मिलता है उन्हे वह सुख। परन्तु संसार बहुत समय तक रहता नहीं। यह सुख भी बहुत देर तक रहता नही। दूसरे प्रकार के भक्त वे हैं जो सांसारिक सुख की नहीं, स्वर्ग की कामना करते है। स्वर्ग भी सुख है, तनिक लम्बा सुख, अधिक देर के लिए। परन्तु अन्ततः वह भी समाप्त होता है। इसलिए तीसरे प्रकार के भक्त स्वर्ग की नही, अपितु उस मुक्ति की अभिलाषा करते हैं जो मानवीय दृष्टिकोण से असीम सुख है, अनन्त आनन्द है। परन्तु इन तीन प्रकार के भक्तो से भी ऊपर उन भक्तों का पद है जो मुक्ति की इच्छा भी छोड़ देते हैं; इस संसार के कल्याण की कामना करते है, जिसके कण-कण में उसका प्रीतम विराजमान है, पुकार करके कहते है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

नहीं चाहिए राज्य मुझे। नही चाहिए शक्ति और शासन। स्वर्ग के सुख की इच्छा नही मुझे, मुक्ति की अभिलाषा भी नही, केवल एक कामना है मुझे। जो दु ख से तड़पे हुए लोग है, कष्ट और क्लेशो में घिरे हुए हैं, उनके दु ख दूर हो जायँ, उनके कष्ट समाप्त हो जायँ—

सफल जीवन हो परमात्मन् वर जो मैं तुमसे पाऊँ।
पराई आग में कूदूँ पराई मौत मर जाऊँ॥

यह है सच्चे भक्त की पहचान! अपने लिए वह कुछ माँगता नही, दूसरों के लिए माँगता है—

सूई ख़ुद नंगी रहे औरों का सिये लिबास।

अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, सब-कुछ दूसरों के लिए—यह है सच्ची भक्ति! भक्ति केवल माला फेरने और जप करने से नहीं होती। ऐसा भी करो अवश्य—यह एक साधन है, बहुत उत्तम साधन। परन्तु सच्ची भक्ति होती है उस समय जब भक्त अपने-आपको भुला देता है, इस संसार के कल्याण के लिए सोचता है और इसलिए सोचता है कि इस संसार के कण-कण में, प्रत्येक प्राणी में उसका प्रीतम बसा हुआ है।

गुरु गोविन्दसिंह जी अपने प्यारे प्रभु प्रीतम की स्तुति लिख रहे थे तो उन्हें हर ओर अपने हरि दिखाई देने लगे—

जले हरि थले हरि आरे हरि बने हरि ।

दिल में, वन मे, सब जगह हरि-ही-हरि है—

गिरे हरि गुफे हरि छते हरि नभे हरि ।

पर्वत पर, गुफा में, पृथिवी पर, आकाश पर वह-ही-वह है—

यहाँ हरि वहाँ हरि जमीं[1] हरि जमाँ[2] हरि ।
जमीं तूही जमाँ तूही मकीं[3] तूही मकाँ तूही ।।
तूही तूही तूही तूही तूही तूही तूही तूही ।
तूही तूही तूही तूही तूही तूही तूही तूही ।।

यह है प्रेमा भक्ति का कमाल !

उनका पता मिला तो फिर अपना पता कहाँ ।
अब आशना[4] कहाँ कोई ना-आशना[5] कहाँ ।।

कोई परांया रहा नही, सब अपने हो गये, क्योकि सबके अन्दर तो वह प्रीतम बैठा है । परन्तु यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब प्रेम चरम सीमा पर पहुँच जाता है; और जब प्रेम चरम सीमा पर पहुँच जाता है तभी अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश और विज्ञानमयकोश से आगे जाकर आनन्दमयकोश मे भगवान् के दर्शन होते है—

आशिक़ी से मिलेगा ऐ जाहिद[6] !
बन्दगी से ख़ुदा नहीं मिलता ।।

परन्तु यह सब-कुछ होता कब है ? जब अटूट श्रद्धा जाग उठे । अटूट श्रद्धा के बिना यह प्रेमा भक्ति जागृत होती नही ।

कुछ लोग कहते है कि अन्धश्रद्धा अच्छी नहीं । परन्तु भाई मेरे ! श्रद्धा तो आवश्यक है । श्रद्धा न होने से अन्धश्रद्धा ही अच्छी है । आर्यसमाज में दुर्बलता आई, उसका कारण क्या है ? महर्षि दयानन्द ने घोर तप तपने के बाद, सच्चे शिव का दर्शन पाने के बाद, मुक्ति को

---

१. पृथिवी । २. काल, ससार । ३. मकान मे रहनेवाला । ४. अपना । ५. पराया । ६. तपस्वी ।

ठुकरा देने के पश्चात् संसार के कल्याण के लिए आर्यसमाज की स्थापना की।

तीन बातें सम्मुख रक्खी—(१) मनुष्य की शारीरिक उन्नति करना, उसके शरीर को दृढ़ और स्वस्थ बनाना।

(२) मनुष्य की सामाजिक उन्नति करना, उसे शिक्षा देना, अच्छे विचार देना, उसे व्यवस्थित करना, उसके दुःख, दर्द, कष्ट-क्लेश में उसकी सेवा करना, उसकी रक्षा करना, उसे बचाने का प्रयत्न करना।

(३) मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले-जाना। उसकी आध्यात्मिकता को जगाकर उसमें श्रद्धा, भक्ति और प्रभु-प्रेम को जगा-कर उसे वह शान्ति देना, वह अम्न, चैन और आनन्द देना जो इसके बिना मिलता नहीं।

ये तीन उद्देश्य थे जिनके लिए महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना की। पर हमने क्या किया? शरीर की ओर ध्यान दिया। समाज की ओर भी ध्यान दिया। स्कूल खोले गये, गुरुकुल खोले गये। लडकियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। छुआछूत के विरुद्ध अभियान चलाया गया। बालविवाह का अभिशाप दूर किया गया। विधवाओं और अनाथों की सहायता की गई। जहाँ कहीं भी भूकम्प आया, अकाल पड गया अथवा दंगे में लोग मारे गये, वहीं पहुँच गए आर्यसमाज के सेवक और दयानन्द कॉलिजों के विद्यार्थी। कागड़ा में भूचाल आया तो आर्यसमाज के सेवक वहाँ पहुँचे। बिहार में भूमि फटी, हिली और सहस्रों लोग दब गये तो आर्यसमाज वहाँ पहुँचा। बीकानेर और जम्मू मे अकाल पड़ा तो आर्यसमाज ने सहस्रों लोगों के प्राण बचाये। मालाबार मे दंगे हुए तो आर्यसमाज वहाँ भी पहुँचा। मुलतान में प्लेग फैला तो आर्यसमाज के नेता और सेवक औषधें लेकर वहाँ पहुँच गए। बंगाल में अकाल पड़ा तो पंजाब से अन्न लेकर आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता ग्राम-ग्राम में जाकर सेवा करने लगे। क्वेटा में भूकम्प आया तो आर्यसमाज ने तन, मन, धन से लोगों की सेवा आरम्भ कर दी। उन अनाथों और विधवाओं को सहारा दिया जिनका कोई नहीं रहा था। ऐसी कितनी ही बातें हुई। यह निष्काम सेवा आर्यसमाज के इतिहास का देदीप्यमान पृष्ठ है।

परन्तु तीसरी बात, दुःख के साथ मैं कहता हूँ कि इसकी ओर वैसा ध्यान नहीं दिया गया, जैसा देना चाहिए था। परिणाम यह है कि सब-कुछ करने के पश्चात् भी आर्यसमाज में निर्बलता है। लोगों के मन में वह शान्ति नही जिसके बिना जीवन व्यर्थ है; और यह शान्ति इसलिए नहीं कि उस श्रद्धा को उत्पन्न करने का यत्न नहीं हुआ जिसके सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं—

श्रद्धां देवा यजमाना वायु गोपा उपासते।

—ऋ० १०। १५१। ४॥

श्रद्धा के साथ, श्रद्धा का सहारा लेकर विद्वान् लोग, यज्ञ करनेवाले लोग, वायु में उड़नेवाले योगी और तपस्वी उस भगवान् के पास पहुँच जाते हैं।

श्रद्धा निरक्षर लोगों की, मूर्खों की वस्तु नहीं अपितु उन योगियों, विद्वानो और यज्ञ करनेवालों की वस्तु है जो ज्ञान की चोटी पर पहुँच गये है।

यह श्रद्धा जब उमड़ती है तो वह प्रेम जागता है जो प्रभु से प्रभु के अतिरिक्त कुछ भी माँगता नहीं। तब आठ चक्रों और नौ द्वारों और पाँच कोशोंवाली इस देवपुरी में, इस शरीर के अन्दर ही, उस प्रभु प्रीतम के दर्शन होते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

—मुण्डक० ३। १। ५॥

सत्य से, तप से, ब्रह्मचर्य से इस शरीर के भीतर ही प्रयत्न करनेवाले वे भक्त, जिनकी कमियाँ और बुराइयाँ दूर हो गई हैं, उस परम प्यारे प्रभु के चमकते हुए, जगमगाते हुए, तीव्र ज्योति से भरपूर रूप का दर्शन करते हैं।

इस शरीर के अन्दर ही दर्शन होते हैं, इसके बाहर जाने की आवश्यकता है नहीं। ध्यान लगानेवाला भक्त जब कष्ट-क्लेश और दुःखों की चिन्ता किये बिना तप की भावना से सब-कुछ सहन करता

हुआ अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश से आगे बढ़कर आनन्दमय कोश में पहुँचता है तो वहाँ अरबों-खरबों सूर्यों की भाँति चमकता हुआ वह प्रकाश दिखाई देता है जिसे देखने के पश्चात् कुछ देखना शेष नहीं रहता, जिसे पाने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रहता, जहाँ इच्छाओं का अन्त हो जाता है, बेचैनी का, अशान्ति का अन्त हो जाता है, परम शान्ति छा जाती है, परम-आनन्द जाग उठता है, परम कल्याण की भावना से भरपूर परम शक्ति देदीप्यमान प्रकाश के साथ चमकने लगती है—

तेरा प्रीतम है घट माहीं, बाहर नैना क्यों खोले ?
कहत कबीर सुनो रे साधो, प्रीतम मिल गए तिल ओले ॥

ये 'तिल' क्या है ? वे निर्बलताएँ और बुराइयाँ जो आत्मा को चिमट जाती हैं—मल, विक्षेप और आवरण।

मल—अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—झूठे अभिमान की भावना, तुच्छ स्वार्थ की भावना, भगवान् से सौदागरी करने की भावना। सेवा तो की, चल पड़े झाड़ू लेकर निर्धनों के मुहल्ले की सफाई करने; साथ मे ले लिया एक फोटोग्राफर। झाड़ू के साथ अपना एक चित्र खिचवाया। दूसरे दिन ले गए समाचारपत्रवालों के पास कि हमारा यह चित्र छाप दो। छप गया चित्र। आया चुनाव का समय तो पहुँचे लोगों के पास, चित्र दिखाकर उनसे बोले—"देखो भाई ! हमने तुम्हारी सेवा की थी, हमें वोट दो।" यह सेवा अवश्य है परन्तु इससे अन्तःकरण का मैल दूर नहीं होता। यह मैल दूर होता है निष्काम सेवा से, निष्काम भक्ति से, उस प्यार से जिसमें प्रीतम के अतिरिक्त और कोई कामना न हो।

और विक्षेप—अर्थात् बेचैनी, मन का इधर-उधर, यहाँ-वहाँ भटकना। यह समाप्त होता है निरन्तर उपासना, प्रार्थना और ध्यान लगाने से।

और अन्त में आवरण अथवा पर्दा। वह यह कि रंगारंग की यह प्रकृति ही सब-कुछ है। यह धन-सम्पत्ति, पत्नी और बच्चे ही सब-कुछ हैं। यह पर्दा विद्यमान रहे तो मनुष्य इन्हीं में उलझा रहता है। उस

प्रीतम के पास कभी पहुँचता नही जो इसका वास्तविक लक्ष्य है। यह पर्दा दूर होता है ज्ञान से, स्वाध्याय से, आत्म-चिन्तन से।

और जब ये तीनों दोष दूर हो जाते हैं तो उस प्रीतम के दर्शन होते है जिसका दर्शन पाये बिना मनुष्य सच्चे अर्थों मे मनुष्य कभी बन नहीं सकता, जिसके बिना वह मानवता ठीक रूप में कभी जागती नहीं जो पूर्णरूपेण जागने पर मनुष्य को देवता बना देती है।

आज इस कथा का अन्तिम दिन है।

[कुछ लोगो ने कहा—"नही स्वामीजी ! कल भी बोलिये।" स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—"नही भाई ! अब छुट्टी। मुझे दूसरो की भी सेवा करनी है।" और अन्त में उन्होंने कहा—]

मनुष्य का जीवन विचित्र प्रकार का जीवन है। इस जीवन में मनुष्य इतना नीचे भी गिर सकता है कि पशु उससे ऊपर हो जायँ; और इतना ऊपर भी उठ सकता है कि देवता उससे नीचे रह जायँ। ऊपर की ओर जाने का मार्ग मैंने बताया; इसपर चलना आपका काम है। स्मरण रखिये, प्रत्येक व्यक्ति अपना संसार स्वय बनाता है। आप जैसा चाहेंगे, जैसा कर्म करेंगे वैसा आपका संसार बन जायेगा।

ओ३म् शम् !

वेद शतक

वेद वैदिक-संस्कृति के मूलाधार हैं। वे विद्या के अक्षय भण्डार और ज्ञान के अगाध समुद्र हैं। वेद सब सद्विद्याओं की पुस्तक है। ससार मे जितना ज्ञान-विज्ञान, विद्याएँ और कलाएँ हैं उन सबका आदि-स्रोत वेद है।

प्रत्येक वेद से १०० चुने हुए मन्त्रो का सग्रह किया गया है। प्रतिदिन अधिक नहीं तो एक मन्त्र का स्वाध्याय कीजिए तथा अपने लक्ष्य को पहचान कर अपने लौकिक व परलौकिक जीवन को आनन्दमय बनाइए।

संकलनकर्त्ता तथा सम्पादक

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

ऋग्वेद शतकम्
यजुर्वेद शतकम्
अथर्ववेद शतकम्
सामवेद शतकम्

चारों शतक एक साथ एक ही जिल्द में भी उपलब्ध

चतुर्वेद शतकम्

गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक एव पुस्तक विक्रेता

४४०८, नई दिल्ली-११०००६

महात्मा आनन्द स्वामी कृत पुस्तकें

महामन्त्र
दो रास्ते
तत्त्वज्ञान
प्रभु-दर्शन
प्रभु-भक्ति
बोध कथाएँ
सुखी गृहस्थ
मन की बात
एक ही रास्ता
घोर घने जंगल में
मानव जीवन गाथा
भक्त और भगवान्
प्रभु-मिलन की राह
शंकर और दयानन्द
आनन्द गायत्री कथा
उपनिषदों का सन्देश
मानव और मानवता
यह धन किसका है ?
देश-भक्ति प्रभु-भक्ति
वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा
दुनिया में रहना किस तरह ?
श्री म० आनन्द स्वामी सरस्वती जीवनी (उर्दू)
म हा मं त्र (उर्दू)
The Only Way (अंग्रेजी)
Gayatri Discourses (अंग्रेजी)

महाभारतम्

महाभारत धर्म का विश्वकोश है। व्यासजी महाराज की घोषणा है कि जो कुछ यहाँ है, वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। इसकी महत्ता और गुरुता के कारण इसे पञ्चम वेद कहा जाता है।

वेद को छोड़कर सभी वैदिक ग्रन्थों मे प्रक्षेप हुए हैं। महाभारत भी इस प्रक्षेप से बच नही सका। महाभारत की श्लोक संख्या बढकर एक लाख पहुँच गई। इसमें असम्भव गप्पों, अश्लील कथाओ, विचित्र उत्पत्तियों, अप्रासाङ्गिक कथाओ को ठूँसा गया। इतने बड़े ग्रन्थ को पढ़ना कठिन हो गया।

आर्य जगत् के ही नही भारत के प्रसिद्ध विद्वान्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

ने महाभारत का एक विशिष्ट सस्करण तैयार किया है।

इस ग्रन्थ में असम्भव, अश्लील और अप्रासागिक कथाओ को निकाल दिया गया है। लगभग १६,००० श्लोको मे सम्पूर्ण महाभारत पूर्ण हुआ है। श्लोको का तार-तम्य इस प्रकार मिलाया गया है कि कथा का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है।

☐ यदि आप अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास की, सस्कृति और सभ्यता की, ज्ञान-विज्ञान की, आचार-व्यवहार की गौरवमयी झाँकी देखना चाहते हैं,

☐ यदि योगिराज कृष्ण की नीतिमत्ता देखना चाहते है,

☐ यदि प्राचीन समय की राज्य-व्यवस्था की झलक देखना चाहते है,

☐ यदि आप जानना चाहते हैं कि क्या कौरवो का जन्म घड़ो मे से हुआ था? क्या द्रौपदी का चीर खींचा गया था, क्या एकलव्य का अँगूठा काटा गया था, क्या युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष की थी, क्या कर्ण सूत्रपुत्र था, क्या जयद्रथ को धोखे से मारा गया आदि

☐ यदि आप भ्रातृप्रेम, नारी का आदर्श, सदाचार, धर्म का स्वरूप, गृहस्थ का आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, वर्ण और आश्रमों के धर्म, प्राचीन राज्य का स्वरूप आदि के सम्बन्ध में जानना चाहते है, तो एक बार इस ग्रन्थ को पढ़ जाइए।

विस्तृत भूमिका, विषय-सूची, श्लोक-सूची आदि से युक्त इस महान् ग्रन्थ का मूल्य है केवल ६०० रुपये।